पञ्चम संस्करण, १९७५

प्रकाशक
राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली

मुद्रक
अशोका आफसैट वर्क्स, शहजादा बाग, देहली।

भूमिका

मुझे यह जानकर अपार हर्ष हो रहा है कि मेरी अंग्रेजी पुस्तक 'हिन्दू सिविलिज़ेशन' के हिन्दी संस्करण की आवश्यकता प्रतीत हुई है, और इस आवश्यकता की पूर्ति का भार देश के अग्रगण्य प्रकाशक राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड ने अपने ऊपर लिया है। यह बड़े सौभाग्य की बात है कि किसी की कृति प्रकाशित करने के लिए ऐसा प्रकाशक तत्पर हो जाए। मेरी मूल कृति के अनुवाद-कार्य का श्रेय हिन्दी के प्रमुख विद्वान् डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल को है। सौभाग्यवश वह लखनऊ विश्वविद्यालय में मेरे छात्र रहे हैं और उन्हें पढ़ाने का मुझे गर्व भी है। आजकल वह बनारस विश्वविद्यालय के पुरातत्त्व विभाग के अध्यक्ष-पद पर सुशोभित हैं। उन्होंने इस अनुवाद-कार्य में अपनी समस्त विद्वत्ता तथा संस्कृत और संस्कृति के सम्बन्ध में अर्जित योग्यता का समुचित प्रयोग किया है। अतएव मैं इस पुस्तक के अनुवाद तथा प्रकाशन दोनों ही दृष्टियों से सौभाग्यशाली हूँ।

इस पुस्तक में नाना प्रकार के कठिन पारिभाषिक शब्दों का बाहुल्य है, जिनके लिए हिन्दी में समुचित और समान पारिभाषिक शब्द मिलना कठिन है। परन्तु अनुवादक ने अपने बुद्धि-कौशल और अभिव्यंजना से उन स्थलों को अनूदित करने में सफलता प्राप्त की है जहाँ अनुवाद करना असम्भव-सा ही था। इसके साथ ही मैं अनुभव करता हूँ कि अनुवाद में मौलिकता होते हुए भी मेरी पुस्तक के विषय-वस्तु, तथ्य और भाव कहीं टूटने नहीं पाए। इसके लिए मैं विद्वान् अनुवादक को हार्दिक बधाई देता हूँ।

मुझे आशा है कि भारत की विस्तृत पठित जनता—हिन्दी-पाठक—प्राचीन भारतीय संस्कृति के विभिन्न युगों के सभी पहलुओं का पूर्ण एवं व्यापक चित्र प्रस्तुत करने वाली मेरी इस कृति को उदारता से स्वीकार करेंगे।

—राधाकुमुद मुकर्जी

दो शब्द

अपने गुरु श्री डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी की अग्रेजी पुस्तक 'हिन्दू सिविलिजेशन' का यह हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत करते हुए मुझे आन्तरिक प्रसन्नता हो रही है। अग्रेज़ी ग्रन्थ पर्याप्त लोकप्रिय हुआ। उसके तीन सस्करण हो चुके है। विश्वविद्यालयो मे भारतीय सस्कृति के छात्रो के लिए इस विषय को एक स्थान मे सज्जित करने वाला यह ग्रन्थ प्रामाणिक और उपयोगी है। आशा है हिन्दी मे भी इस विषय के अध्ययन के लिए इसकी उपयोगिता मानी जाएगी।

डॉ० मुकर्जी की बहुत दिनो से इच्छा थी कि इस ग्रन्थ का हिन्दी रूपान्तर हो। उनकी इच्छानुसार मैंने यह अनुवाद दो वर्ष पूर्व तैयार किया। अनुवाद करते हुए मुझे इसकी पारिभाषिक शब्दो से भरी हुई सक्षिप्त शैली का विशेष अनुभव हुआ। एतदर्थ कितने ही अग्रेजी शब्दो के लिए हिन्दी के सुबोध पर्याय स्थिर किए। इस बात का विशेष प्रयत्न किया गया कि हिन्दी के शब्द इस भाषा की प्रकृति के अनुकूल हो। कुछ उदाहरणो से यह बात समझी जा सकती है—

अग्रेजी	हिन्दी
एजोइक पीरियड	अजतुक युग
प्रोटेरोजोइक पीरियड	प्रारम्भजतुक युग
अर्ली पेलिओज़ोइक पीरियड	पूर्व पुराजतुक युग
लेटर पेलिओजोइक पीरियड	अपर पुराजतुक युग
मेसोजोइक पीरियड	मध्यजतुक युग
केनोजोइक पीरियड	नवीन जतुक युग
टर्शियरी	तृतीयक
क्वार्टरनरी	तुरीयक
केफालिक इडैक्स	कपाल की नाप
डोलिओ कैफालिक	लम्बा कपाल
ब्रेकी कैफालिक	पृथु कपाल या नाटा कपाल
प्रोटोआस्ट्रोलॉयड	आदिम निषाद वशी
प्लैटीर्‌हाइन	पृथुनासिक
लेप्टोर्‌हाइन	तुग नासिक

इसी प्रकार रिंग स्टोन के लिए चकिया, पोलीक्रोम=बहुरगी या बन्नीदार, रडिल=गेरू। विन्ध्य प्रदेश मे होने वाले हैमेटाइट को वहाँ अभी तक धाउ

पत्थर कहते हैं जो सस्कृत धातु से बना है । वही शब्द यहाँ लिया गया है । अंग्रेजी लैटेराइट को तमिल मे इटिकाकुल्लु और मेगालिथ को दक्षिण मे राक्षसगल्लु कहते है। ये शब्द यहाँ स्वीकार किये गए हैं । पत्थर और सगों के नाम भी यथासाध्य वास्तविक प्रचलन मे लिये गए हैं, जैसे क्वार्त्स के लिए कोदर्मा की ओर 'बूझा पत्थर' शब्द काम मे आता है। स्टीएटाइट को घिया पत्थर, और अलबास्टर को सेलखडी कहा गया है। जैस्पर को सग अजूबा या ज्योतिरस कहा जाता है। सैडिल कैर्न के लिए दलैटा (दलने का पाट) शब्द रखा गया है। समग्र ग्रन्थ मे यथासम्भव भारतीय पारिभाषिक शब्दावली का ही उपयोग किया गया है।

अनुवाद करते समय कितनी ही बार मूल ग्रन्थो को देखकर यहाँ-वहाँ से सस्कृत और पाली के मूल अवतरण (जो अग्रेजी अनुवाद रूप मे थे) या उनका हिन्दी रूपान्तर रखा गया है। डॉ० मुकर्जी ने भारतीय इतिहासलेखन मे उस शैली पर अधिक बल दिया है जिसमे मूलभूत पारिभाषिक शब्दो को कोष्ठक मे रखकर उन-उन सस्थाओ का परिचय दिया जाता है। कला के क्षेत्र मे श्री आनन्द कुमारस्वामी ने इस शैली का बहुत अधिक परिष्कार किया है और अब तो यह भारतीय भावो की अभिव्यक्ति के लिए सर्वमान्य शैली बन गई है। इससे तत्कालीन सस्थाओ का रूप खडा हो जाता है, उदाहरण के लिए, साझेदारी के व्यापार के लिए प्राचीन वाणिज्य मे 'सम्भूय समुत्थान' शब्द का चलन था। हमने उसे स्वीकार किया है। इसी प्रकार श्रेणी, सार्थवाह, जेट्ठक आदि अभिव्यजक शब्द ग्रन्थ मे प्रयुक्त हुए हैं । ऐसा प्रयत्न किया गया है कि अनुवाद की भाषा मे अग्रेजी से भी अधिक भारतीय सस्थाओ का चित्र ग्रहण किया जा सके।

'उत्तरी भारत की दशा' शीर्षक अध्याय में मेरे पाणिनिकालीन भारत निबन्ध की भौगोलिक सामग्री की अनेक शोधो को डॉ० मुकर्जी ने मान्यता देकर अपने अग्रेजी ग्रन्थ मे स्थान दिया था, जिसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। कई पादटिप्पणियो मे (जैसे पृ० २८४, टी० २) मैने इस सामग्री का और भी परिवर्धन कर दिया है, जिसके लिए लेखक ने मुझे पूरी स्वतन्त्रता दे दी थी।

—वासुदेवशरण

राजनीतिक इतिहास—विभिन्न युगों में विभिन्न राज्य—बुद्ध के समय के चार बड़े राज्य : कोसल, अवन्ती, वत्स, मगध (बिम्बिसार (लगभग ६०३-५५१ ई० पू०), उनकी शिक्षा और गुरु—राजधानी—विजय और राज्य-शासन—धर्म—मृत्यु—अजातशत्रु (लगभग ५५१-५१९ ई० पू०); उनकी देश-विजय—धर्म—संघ—शाक्य नगर और जनसंख्या—उनकी संघ सभा—शिक्षा और संस्कृति—स्त्री और भिक्षुणियाँ—बुद्ध—मल्लगण—भग्ग—कोलिय—उनके नगर—आरक्षा पुरुष—मोरिय—मल्ल पावा और कुसिनारा की दो शाखाएँ—संघ सभा और शासन सभा—शिक्षा—कुछ प्रसिद्ध मल्ल—नौ मल्लकि—संघीय संगठन—लिच्छवियों से सम्बन्ध—वज्जिगण—विदेह—मिथिला—विदेह राजकुमारियाँ—ज्ञातृक जैन धर्म के साथ उनका सम्बन्ध—वृद्धों की सभा—लिच्छवि—वैशाली—विधान और शासन—संघ के उत्तम लक्षण अपरिहानियधम्म—जातीय चरित्र—बुद्ध और महावीर का प्रभाव—संघीय कार्यपद्धति—संघ के अधिवेशन—बैठने का प्रबन्ध—संपूर्ति की उपस्थिति—अध्यक्ष—गणपूरक संख्या—कार्य-पद्धति की नियमपरायणता—गणपूरक—कार्य के नियम—मौन रूपी सम्मति—अधिकर्म—उदाहरण—वादविवाद—सम्मत होने की युक्तियाँ—उद्वाहिका सभा—प्रतिनिधि चुनने का सिद्धान्त—निर्णीत विषय-सम्बन्धी बाधकता—विशेषज्ञों की उपस्थिति में निर्णय—बहुमत—मतदान अधिकारी—

मतदान—बहुमत सदा ग्राह्य न था—अवैध मतदान—साराश—सभा का लेखक या पुस्तपाल—समग्रसघ मत प्रकाशन (रेफरेण्डम)—धार्मिक आन्दोलन श्रमण भिक्षुओ का उदय—वैदिक सरकृति से सन्यास धर्म की उत्पत्ति—ब्राह्मण धर्म की समाज-व्यवस्था मे उसका स्थान—तपस्वियो का ज्ञाननिरत जीवन—बौद्धो से इतर भिक्षु सम्प्रदाय—उनमे छह् प्रधान आचार्य—बौद्ध-ग्रन्थो मे वर्णित अन्य आचार्य—सब सम्प्रदायो के आचार्यो की लोकव्यापी प्रतिष्ठा—ब्राह्मण भिक्षु सम्प्रदायो मे आस्तिकता-विरोधी बाते—जैन धर्म का उदय पार्श्व का जीवन—पार्श्व और महावीर के सम्बन्ध—महावीर का काल—उनका जन्म-स्थान—उनकी माता—उनके भिन्न नाम—जन्म-महोत्सव—उनका परिवार—उनका भिक्षु-जीवन—उनका विहार—क्लेश-सहन—धर्म-प्रचार—गोशाल से सम्बन्ध—प्रतिपक्षी सम्प्रदायो से वादविवाद—उनके राजकीय अनुयायी—सघो से सहायता—उनके प्रमुख शिष्य—उनकी जीवन-सम्बन्धी कुछ तिथियाँ—जैन धर्म की साधना-पद्धति—महावीर के बाद जैन-धर्म, सघ-भेद—मगध से बाहर उसके केन्द्र उज्जैन और मथुरा—वलभि की सभा—बौद्ध धर्म का उदय शाक्य—बुद्ध के माता-पिता—जन्म और आरम्भिक जीवन—भोग-समृद्धि—पुत्र-' म और अभिनिष्क्रमण—उनके पहले गुरु—राजगृह के आलार और उद्रक—तप—ध्यान की क्रमिक अवस्थाएँ—सुजाता और सोत्थिय—उनके प्रथम शिष्य—प्रथम उपदेश—पहला सघ—भद्रवर्गीय—१००० जटिल—वेलुवन—सजय का सम्प्रदाय सारिपुत्त और मोग्गलान—कपिलवस्तु मे राहुल और नन्द—भद्रिक, अनुरुद्ध, आनन्द उपालि और देवदत्त की अनुपिय मे दीक्षा—सुदत्त, अनाथपिण्डिक उनके द्वारा श्रावस्ती मे जेतवान का दान—विशाखा और उसके द्वारा पूर्वाराम का दान—भिक्षुणी सघ—प्रसिद्ध भिक्षुणियाँ—बौद्धेतर स्त्री परिव्राजिकाएँ—वैशाली का विहार—चमत्कारो की निन्दा—भर्ग जनपद के राजकुमार बोधि—कौशाम्बी मे वत्सराज उदयन का दान घोसिताराम, पारिलेय्यकवन—वेरजा- में अकाल—रोगी भिक्षु की परिचर्या—अगुलिमाल—आनन्द—श्रावस्ती—देवदत्त—अजातशत्रु—जीवक—अन्तिम समय और बीमारी—पावा से कुसिनारा—अन्तिम शब्द—अन्तिम दृश्य—बुद्ध के वास्तविक अवशेष—साख्य, जैन, योग आदि प्राक्कालीन दर्शनो का बौद्ध धर्म पर ऋण—संस्कृत और पालि-ग्रन्थो मे श्रमण—ब्राह्मण-धर्म का कम प्रचार होने से प्राच्य भारत मे बौद्ध धर्म की वृद्धि—बुद्ध का मानव रूप—जीवनचर्या—आरम्भिक निर्बलताएँ—भिक्षु का भोजन—एकान्तवास का भय—नित्य की दिनचर्या—भिक्षु, जिसके सामने राजा सिर झुकाते थे—अतिमानवी विनय—फल-कथन से घृणा—शिष्यो की अपेक्षा सत्य के लिए अधिक चिन्तित—शिष्यो द्वारा प्रशसा

के असहिष्णु— निन्दा से अविचल—परिषदो मे उनका प्रभाव—वादविवाद मे श्रेष्ठता—मृत्यु के समय बडप्पन—अन्तिम शब्द—एक तुल्यकालीन सम्मति—अजातशत्रु के बाद मगध—विदेशी आक्रमण—ईरानी आक्रमण—सिकन्दर का अभियान—पार्ष्णिभाग की रक्षा के लिए नगर—निकाइया मे आगमन—तक्ष-शिला से सहायता—शशिगुप्त—सिकन्दर की सेना—अस्तेस (अष्टकराज्य) और सजय—अश्वको का पतिरोध—अश्वकरानी के नेतृत्व मे मस्सग की रक्षा—नाइसा का मित्रभाव—नये छत्रपो की नियुक्ति—भारतीय राजाओ से सहायता—एओर्नस (वरणा) का घेरा—अश्वको द्वारा पुन प्रतिरोध—नावो का निर्माण—सिन्ध नदी का पार करना, ३२६ ई० पू०—तक्षशिला मे अवस्थान—कलनोस—छोटे प्रमुखो से भेंट-सामग्री—पोरस द्वारा युद्धाह्वान का सन्देश—तक्षशिला मे स्थानीय प्रबन्धक—झेलम पार करना—पौरव के पुत्र द्वारा प्रतिरोध और उसकी मृत्यु—पौरव की सेना—भारतीयो के लिए प्रतिकूल दुर्दिन—पोरस की हार—उसका अन्त तक अवरोध—पौरव पुन प्रतिष्ठापित—एक स्वतन्त्र राज्य की विजय—विद्रोह के कारण प्रगति मे बाधा—पोरस द्वितीय के राज्य की विजय—स्वाधीन सघो द्वारा युद्ध, अघृष्ट और कठ—सौभूति—भगला—व्यास से वापस लौटना—यूनानियो के विजित प्रदेश भारतीय राजाओ की अधीनता मे—झेलम नदी मे भाटी यात्रा—गणराज्यो का प्रतिरोध, मालव और क्षुद्रक—शिवि अर्जुनायन (आगलस्सोआई)—अम्बष्ठ, क्षत्रिय और बसाती—शूद्र, मूषिक—आयुधजीवी ब्राह्मण—पत्तल का द्वैराज्य शासन—सिकन्दर का भारत से प्रस्थान (३२५ ई० पू०)—आक्रमण के परिणाम, विचारपूर्वक मूल्याकन—सिक्के—उस युग की आर्थिक और सामाजिक अवस्थाएँ, बौद्ध, जैन और यूनानी ऐतिह्य साधनो से—सन्निवेश के केन्द्र कुल—ग्राम, घर—ग्राम-क्षेत्र—कृषको की निजी पट्टियाँ—गोचर—वन या उद्यान—अरण्य—भूमि के लागभाग और कर—जन-सख्या के सन्निवेश, जैन ग्रन्थो के अनुसार—कला और शिल्प—हीन शिल्प—शिल्पो का स्थान-विशेष मे जमना—वाणिज्य—भारतीय वाणिज्य और वणिक् पथ—बाजार—मूल्य—वाणिज्य पर शुल्क—लेन-देन के साधन सिक्के—ऋण—ऋण प्रदान और ब्याज—सामूहिक सस्थाएँ श्रेणी—साझेदारी—जाति और शिल्प—दासता—यूनानी स्रोतो से आर्थिक और सामाजिक दशा का परिचय—स्थापत्य—शिल्प-सामग्री—पशुधन—साधु—शिल्प और स्थापत्य—मूर्तियाँ—ऐतिह्य साधन के स्रोत।
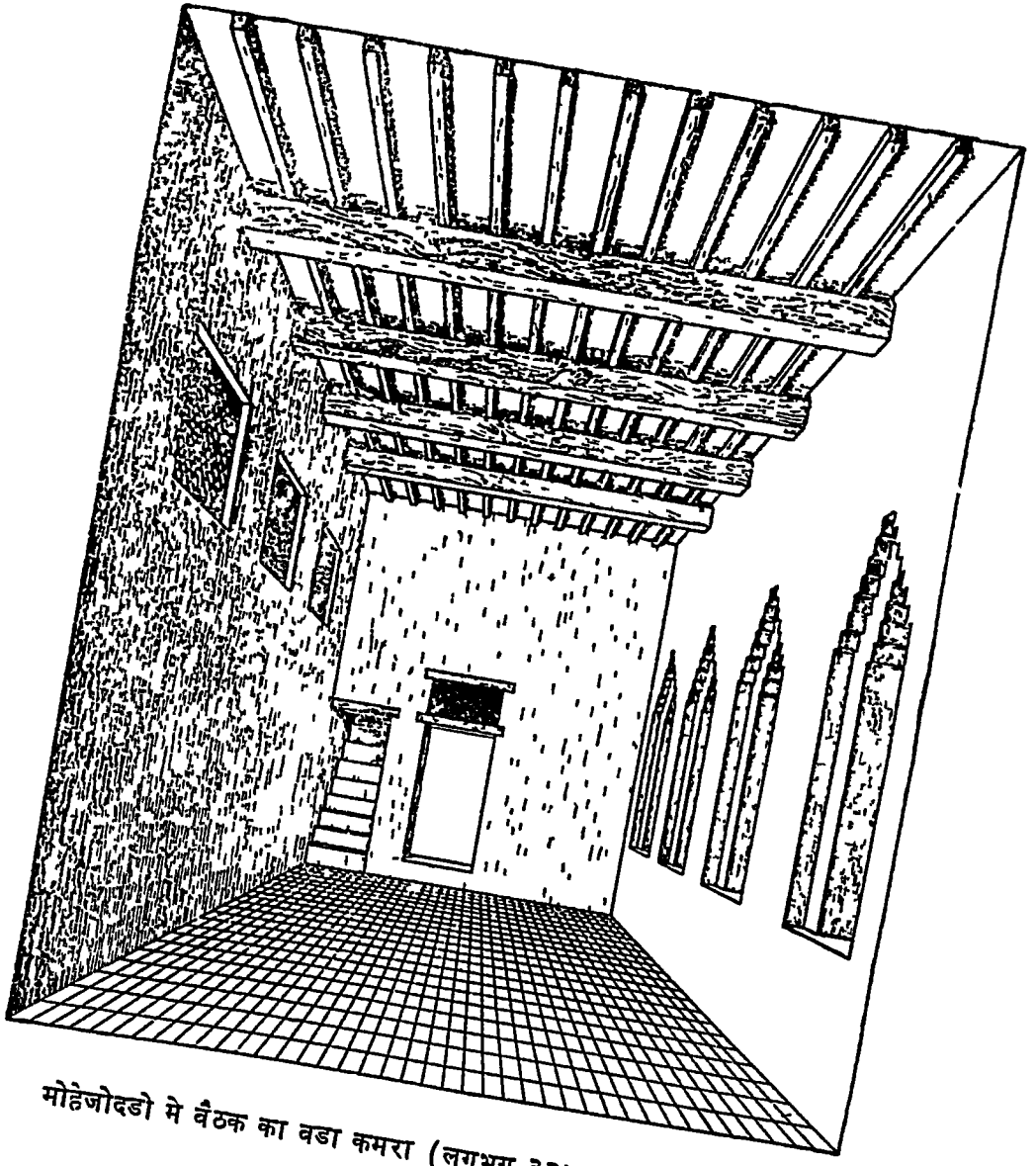
मोहेंजोदडो मे वैठक का वडा कमरा (लगभग ३२५०-२७५० ई० पू०)

: १ :

विषय-प्रवेश

इतिहास का विषय—इतिहास किसी देश अथवा मनुष्यो के भूतकाल का वर्णन करता है, वर्तमान अथवा भविष्य का नही। जो हो चुका है वह इतिहास का विषय है, जो अब है या आगे होना चाहिए वह इतिहास का विषय नही। इतिहास बीती हुई सच्ची घटनाओ का ब्यौरा देता है, समाज के लिए क्या आदर्श है, इसका सम्बन्ध इतिहास से न होकर नीतिशास्त्र, काव्य, साहित्य और कला से है। लेकिन गये-बीते भूतकाल का ब्यौरा होने पर भी इतिहास का महत्त्व और उसकी शिक्षा वर्तमान काल की समस्याओ या भविष्य की गतिविधि के लिए किसी तरह कम नही है। अर्थशास्त्र और राजनीति-शास्त्र जैसे सामाजिक अध्ययन के विषय इतिहास के स्वीकृत तत्त्वो के आधार पर टिके रहते हैं। राजशास्त्र के विषय मे तो यहाँ तक कहा गया है कि वह उस वृक्ष का फल है, इतिहास जिसका मूल है। सब तरह का सामाजिक, आर्थिक या राजनीतिक सुधार भूतकाल के साथ एकदम तिनका तोडकर नही हो सकता। सुधार कम-से-कम विरोध के मार्ग से होना चाहिए, जिसका मेल राष्ट्रीय परम्परा और लोगो के स्वभाव के साथ हो, जिसकी साक्षी इतिहास मे पाई जाती हो, अन्यथा वह सुधार कभी धरती के साथ बद्धमूल न होगा, और आकाश-बेल की तरह हवा मे झूलता रहेगा।

विस्तार और पद्धति—इतिहास का जो लक्षण ऊपर बताया गया है उसी से उसके अध्ययन की उचित पद्धति का निर्णय होता है। क्योकि इतिहास मे भूतकाल की घटनाओ का उल्लेख और अनुस्मरण रहता है, उसकी टिपाई सच्ची होनी चाहिए, जैसे शीशे या छाया-चित्र मे प्रतिबिम्बित वस्तु की रूप-रेखा आँख के सामने हूबहू खडी हो जाती है। अतीत के इतिवृत्त और घटनाओ के बारे मे इतिहासज्ञ को चाहिए कि पहले उसकी सही छानबीन करे और फिर उन्हे स्वय अपनी कहानी कहने दे। इसका अर्थ यह है कि इतिहास अपनी ही सामग्री से पूरी तरह मर्यादित रहता है। प्रमाण-सामग्री मे घटा-बढी या मनमाना सुधार करना इतिहासज्ञ के लिए सम्भव नही। एक रसायन-शास्त्र का विद्वान् अपनी

वैज्ञानिक सूझ या आविष्कारक बुद्धि से जिस सत्य को अपने मन मे धारण कर लेता है, उसके लिए वह प्रमाण-सग्रह और वस्तु-सिद्धि के लिए यथेष्ट प्रयोग या हाथो से काम करके सामग्री प्राप्त कर सकता है। लेकिन इतिहास का विद्वान् अपने मसाले के साथ उस तरह नही बरत सकता। जैसा इतिवृत्त उसे मिलता है, उसे स्वीकार करना पडेगा। वह घटनाओ को गढ नही सकता। भूतकाल के वृत्तान्त उसकी रचना-शक्ति से बाहर और स्वतन्त्र हैं। दार्शनिक की तरह वह अपने ध्यान से विचारो का जाल नही बुन सकता, और न कवि या कलाकार की तरह उस ज्योति की सोत्साह कल्पना कर सकता है जो जल या थल मे त्रिकाल मे अहोत थी। इतिहासज्ञ घटनाओ के साथ सत्यपरायण रहता है, चाहे वे घटनाएँ कैसी ही अधूरी हो, उनकी जडें कम पक्की हो, उनकी अर्हता कम हो, अथवा उनकी प्रतिक्रिया, प्रभाव या फल कैसे भी हो। इतिहास कभी हुक्मी नही बन सकता। इतिहास की सामग्री नियन्त्रण से बाहर की वस्तु है। वह तो जैसे किसी साँचे मे जकडबन्द या ठप्पाबनकर रह जाती है। जैसी सामग्री मिलती है, इतिहासज्ञ निष्पक्ष भाव से या बिना लगाव के उसकी जाँच करता है।

आधार-ग्रन्थ का प्रमाण-सामग्री मे कभी-कभी घटनाओ का भिन्न ब्यौरा मिलता है और इतिहासज्ञ के लिए अतीत की घटनाओ का पता लगाना मुश्किल हो जाता है। जहाँ ऐसा हो वहाँ इतिहासज्ञ को चाहिए कि वह वैज्ञानिक की तत्त्वालोचक बुद्धि से सामग्री की समीक्षा करे, अथवा न्यायाधीश की उस विज्ञ बुद्धि और निष्पक्ष भाव से काम ले, जिनकी सहायता से वह परस्पर-विरोधी और एक-दूसरे की काट करने वाली साक्षी और वृत्तान्त के गहन जाल मे से सचाई को खोज निकालता है। भूतकाल के सम्बन्ध मे इतिहासज्ञ की सम्मति और निष्कर्षो पर व्यक्तिगत पक्षपात और पूर्वकल्पित मतो का प्रभाव नही पडना चाहिए। प्रमाणो की साक्षी से जो परिणाम निकले, उसी को अपरिहार्य जानकर स्वीकार करना चाहिए, और घटनाओ के आधार से भूतकाल का जो रूप खडा हो, उसे सिर-माथे पर रखना चाहिए। वह चित्र उसकी रुचि के अनुकूल हो या न हो, उसे अच्छा लगे या बुरा, उसके जातीय गर्व को उससे सन्तोष मिले या ठेस लगे, हर हालत मे वह जैसा है वैसा ही उसे लिखना चाहिए। चित्र के साथ छेड-छाड करना उसके लिए उचित नही। यह भी आवश्यक है कि वह चित्र को सही असली या जडाव के साथ रखे। वर्तमान जीवन के ठाट से भूतकाल की घटनाओ की व्याख्या करना, या पहले के ग्रन्थो मे आजकल के विचारो को पढना उचित नही।

इस प्रकार आदर्श इतिहासज्ञ वह है जिसके पास अपने अध्येय विषय के तथ्य और घटनाओ को जाँचने की वैज्ञानिक-जैसी योग्यता है, जिसके पास अतीत को यथावत् प्रतिबिम्बित और पुन प्रस्तुत करने के लिए दर्पण-जैसी यान्त्रिक

सचाई और अविकलता है, जिसके पास सामग्री को छानने और पूछ-ताछ करने के लिए वकील-जैसी तर्क-बुद्धि है, जिसके पास विचित्र विरोधी वर्णनो के भीतर से सत्य तक पहुँचने का न्यायाधीश-जैसा पक्षपातहीन न्याययुक्त भाव है, और अन्त मे जिसके पास वह सूक्ष्म और पैनी आँख है, जिससे नई प्रमाण-सामग्री का दर्शन होता है और नये-नये अनधिकृत क्षेत्रो तक पहुँचा जा सकता है।[1]

---

१ बेनीदितो क्रोचे ने अपने ढग से इतिहासज्ञ की आवश्यकताओ का इस प्रकार उल्लेख किया है। उसके मत से इतिहासज्ञ वह है जिसके पास अपना 'दृष्टि-कोण' है, और "जिन घटनाओ के वर्णन का वह बीडा उठाता है, उनके सम्बध मे स्वात्मा मे अनुभूत एक दृढ़ मत या भाव है। ठूँठ घटनाओ के गडबडझाले मे से किसी भी कलात्मक इतिहास की रचना नहीं हो सकती, यदि लेखक के पास अपना दृष्टिकोण नहीं है, जिसकी सहायता से वह ऐतिहासिक घटनाओ के खड-पत्थरो और सन्दर्भरहित सामग्री के पिड से सुघड मूर्ति की रचना कर सके। यदि कोई लेखक इतिहासज्ञ के सच्चे गुणो से युक्त है और अपने कार्य के विषय मे जानकार है, तो आप उसकी लिखी इतिहास की कोई पुस्तक उठाकर पढ़ लें, तुरन्त ही उसके दृष्टिकोण का पता लग जाएगा। उदार और प्रतिक्रियावादी, बुद्धिपूर्वक घटनाओ की जाँच करने वाले (बुद्धिवादी), अथवा प्रमाणवादी (सनातन-धर्म की दृष्टि से शास्त्र-प्रमाण के अनुसार रचना करने वाले), सभी तरह के इतिहासज्ञ हुए हैं, जिन्होंने राजनीतिक या सामाजिक इतिहास की रचना की है। 'बावन तोले पाव रत्ती' ऐतिहासिक घटना के ही लिखने वाले इतिहास-लेखक न हुए हैं और न हो सकते हैं। क्या यह कोई कह सकता है कि थ्यूसीडाइडीस और पोलिबियस, लिवी और टैसीटस; मेकियावली और गुइचयारदिनी, जियानन और वाल्तेर—इनके पास कोई अपना नैतिक और राजनीतिक दृष्टिकोण न था? हमारे अपने समय मे भी गीजो और थियर, मकाले और बल्बो, रेड्के और ...सेन—क्या ये बिना दृष्टिकोण के थे? यदि कोई इतिहास लेखक किसी पक्ष का समर्थक बन जाने की अनिवार्य आवश्यकता से बचना चाहे, तो वह ... राजनीतिक और वैज्ञानिक—दोनो क्षेत्रो मे पुसत्वहीन बृहन्नला ..., और इतिहास-लेखक जैसा गुरुतर कार्य बृहन्नलाओ के वश नही है। उन इतिहास-लेखको का मत विश्वास कीजिए जो यह ...ें कि वे केवल घटनाओ की ही पूछ-गछ करके उन्हें यथार्थ रूप मे ...ते हैं और अपनी ओर से कुछ जोडने के लिए उनके पास कुछ ... ऐसा मानना या तो भोलापन है या बुद्धि का भ्रम। अगर वे

मर्यादाएँ—इस प्रकार इतिहास उन घटनाओ से, एव उन घटनाओ तक मर्यादित है, जिनके विषय मे हम जान पाते हैं, लेकिन भूतकाल की घटनाओ का ज्ञान हमे सदा नही हो पाता। उनमे से बहुत-सी विस्मृति के गर्भ मे खो जाती है। भूतकाल का कितना ही अश मर चुका है और विलीन हो गया है। उसका ब्यौरेवार लेखा रखने से ही उसकी रक्षा हो सकती थी। जहाँ भूतकाल की घटनाओ और वृत्तान्तो का कोई लेखा नही बचा, वहाँ इतिहास-निर्माण की कोई सम्भावना नही हो सकती। इतिहास का आरम्भ अतीत काल के इतिहास से होता है। ज्ञात घटनाओ की मर्यादा के अतिरिक्त इतिहास की यह भी मर्यादा है कि उन घटनाओ के स्रोत क्या हैं। अतएव इतिहासज्ञ का पहला कर्त्तव्य अपनी सामग्री के स्रोतो की छानबीन करना है। उसका दूसरा कर्त्तव्य उन स्रोतो से तथ्यो का दोहन है।

विवेचन—इस प्रकार जो घटनाएँ ज्ञात होगी, उनका विवेचन किस प्रकार किया जाए, यह घटनाओ के स्वरूप पर निर्भर है। एक तो तिथि-क्रम के अनुसार युगो के क्रम से घटनाओ का वर्णन किया जा सकता है। एक मत यह है कि इतिहास वस्तुत काल-क्रम के वर्णन तक ही सीमित है और सुदूर या धुँधले अतीत की जिन घटनाओ या वृत्तान्तो के लिए निश्चित सम्वत् का पता नही, उनको इतिहास मे स्थान न मिलना चाहिए। इस परिमित दृष्टिकोण से इतिहास केवल राजनीतिक इतिहास बन जाता है, जिसमे उन निश्चित स्थूल घटनाओ और प्रवृत्तियो का वर्णन रहता है, जिनका सम्बन्ध किसी देश की राजवशावली से हो। लेकिन घटनाओ के पौर्वापर्य पर हम काल-क्रम के अतिरिक्त विचारो के विकास की दृष्टि से भी चिन्तन कर सकते हैं। घटनाओ को इस प्रकार से सजाया जा

सच्चे इतिहासज्ञ हैं तो अवश्य ही, चाहे अनजान मे ही सही, उस घटना पर अपना रग चढा देंगे। अथवा यदि वे सीधे स्वभाव यह समझते भी रहे कि उन्होने ऐसा नहीं किया है, तो भी संकेत और ध्वनि से उस वर्णन पर वे अपना रग चढाए बिना नहीं रह सकते। वह तो रगत देने की और भी अधिक पैनी एव मार्के की शैली है।" और यह स्वानुभवजनित दृष्टिकोण, जिसकी मानवीय घटनाओ के वर्णन के लिए नितान्त आवश्यकता है, "उन गुणो के साथ भी बेमेल नहीं है जिनकी आवश्यकता मानवीय घटनाओ और ऐतिहासिक सामग्री के साथ व्यवहार करने वाले प्रत्येक लेखक को पडती है। उदाहरण के लिए, वे गुण ये हैं—वास्तविकता को आधार बनाना, पक्षपात से शून्य होना और हृदय मे सरल या निष्कपट भाव रखकर सामग्री का उपयोग करना।" (ईस्थिटिक, पृ० २२०–२३, ऐन्सली-कृत अनुवाद)

सकता है कि उनसे उन्नति का क्रम सूचित हो, अर्थात् अपने आरम्भ-काल से लेकर आनुक्रमिक अवस्थाओ मे से गुज़रती हुई वे व्यवस्थित विकास की प्रक्रिया का अग जान पड़ें। अथवा, घटनाओ को विचारो के पौर्वापर्य-क्रम और सम्बन्धो के अनुसार हेतु और युक्ति से सजाकर रखा जा सकता है। यदि हम इन दोनो उपायो को काम मे लाएँ—अर्थात् काल-क्रम के अनुसार घटनाओ को सजाना और दार्शनिक युक्ति से उन पर विचार करके उन्हे प्रस्तुत करना—तब इतिहास का क्षेत्र बहुत व्यापक बनाया जा सकता है। उस दशा मे इतिहास अपरिवर्तनीय तिथि-क्रम के बन्धन मे जकडा हुआ राजनीतिक इतिहास मात्र न रहेगा, बल्कि उसमे और भी बहुत-सी अति रोचक महत्त्वपूर्ण सामग्री को स्थान मिल सकेगा, उसमे सामाजिक इतिहास, सस्थाओ का इतिहास, संस्कृति और सभ्यता का इतिहास भी समाविष्ट हो सकेगा, जो कि जनता के राष्ट्रीय इतिहास की दृष्टि में अधिक महत्त्व और स्थायी मूल्य रखते हैं। शुद्ध राजनीतिक या तिथिक्रम के रूप मे सजाये हुए इतिहास का, जो विशेष रूप मे तारीखी घटनाओ के वर्णन तक ही सीमित हो, उसका कभी उतना अधिक महत्त्व नही हो सकता, क्योकि जन-इतिहास की तुलना मे उसका स्वल्प और नगण्य स्थान है। जन-इतिहास का सम्बन्ध शासक, राज्य-प्रणाली और शासन-विधि से उतना नही होता जितना सस्कृति और सभ्यता के विकास से, एव उन रचनात्मक शक्तियो, साधनो और आन्दोलनो मे होता है, जो उस विकास को रूप देती हैं। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के सास्कृतिक इतिहास के लिए, जिसका सम्बन्ध मनुष्य के विचारो, आदर्शों, सस्थाओ, आचार-व्यवहार और विश्वासो से है, खाली तारीखी घटनाओ से काम नही चल सकता। केवल राजनीतिक इतिहास मे तो कही-कही ही इस सामग्री का प्रयोग किया जाता है। सभ्यता के इतिहास के लिए एव कर्म और विचारो के विभिन्न क्षेत्रो मे युग-युगव्यापी राष्ट्रीय विकास व इतिहास के लिए घटनाओ को सामूहिक दृष्टि से देखना होगा। उनके सामान्य और व्यापक सम्बन्ध और परिणामो पर, उनकी प्रवृत्तियो पर, जिनसे उस विकास की विभिन्न अवस्थाओ और प्रतिक्रियाओ का पता लगता है, विचार करना होगा।

भारतीय इतिहास मे इसका उपयोग—तिथिक्रम पर आश्रित भारतीय इतिहास लगभग ६०० ई० पू० से आरम्भ होता है, जो कि धार्मिक विचारो के अग्रणी नेता गौतम बुद्ध का युग था। भारतीय इतिहास मे वही पहली तिथि है जो कुछ-कुछ पक्की समझी जा सकती है। लेकिन बौद्ध-धर्म का उदय ही तो भारत के इतिहास की पहली घटना नही थी। उससे पहले अतीतकालीन इतिहास और विकास का एक लम्बा युग बीत चुका था, जिससे बौद्ध-धर्म की उपज हुई। उस पूर्व इतिहास के पेटे मे जो घटनाएँ और आन्दोलन हुए उनके लिए तिथि

निकालना सम्भव नही। उस सुदूर अतीत के इतिहास का पुनर्निर्माण करते समय तिथिक्रम पर आश्रित पद्धति जवाब दे देती है। उसके लिए हमे किसी दूसरे उपाय का आश्रय लेना पडेगा जो उस सम्बन्ध मे उपयोगी हो सके। प्राग्-बुद्ध-कालीन भारतीय इतिहास मे सन्-सम्वत् की सामग्री नही है, किन्तु उसमे दूसरे प्रकार की सामग्री बहुत अधिक है। राजाओ के काल-क्रम पर आश्रित घटनाओ से सजने वाले राजनीतिक इतिहास की रचना उस सामग्री मे नही हो सकती, पर सभ्यता का इतिहास उससे लिखा जा सकता है जिसमे विचार और आचार की व्यापक प्रगति, सस्थाओ का विकास, समाज-व्यवस्था, आर्थिक जीवन, साहित्य और धर्म की युगानुसारी उन्नति का अध्ययन हो।

इतिहास के साधन—सास्कृतिक अथवा तिथिक्रम पर आश्रित इतिहास उपलब्ध साधनो से सीमित रहता है। मानवीय जीवन की बीती हुई कहानी के साधन, सामग्री और प्रमाण लेख-रूप मे और भौतिक अवशेषो के रूप मे होते हैं। उनका स्वरूप साहित्यिक होता है अथवा शिल्पगत या स्मारक-चिह्नो के रूप मे। इतिहास के विकास के साधनो का भी विकास होता है। मानवीय जीवन की प्राचीन प्रमाण-सामग्री लिखित पट्टो या ग्रन्थो के रूप मे नही मिलती, क्योंकि लेखन-कला, शिक्षा या साहित्य तब आते हैं जब सभ्यता काफी आगे बढ लेती है। अनेक विद्वान् समझते है कि भारतवर्ष मे ८०० ई० पू० से पहले लेखन-कला ज्ञात न थी, किन्तु यह मत सबको मान्य नही है। पर इतना नि सन्देह है कि भारत मे लिपि से बहुत पहले साहित्य बन चुका था और गुरु-शिष्य की पीढी-दर-पीढी मौखिक परम्परा के द्वारा उसकी रक्षा होती रही और क्रम चालू रहा। शिक्षा की भारतीय प्रणाली मे ग्रन्थ सुन-सुनकर आगे बढाये गए, जिसे यहाँ की परिभाषा मे श्रुति कहा गया है। इस प्रकार जो ज्ञान था वह स्मृति या कठ मे सचित रहा। उस समय के विद्वात् चलते-फिरते (चरक) ग्रन्थालय थे। मौखिक ज्ञान और शिक्षा की प्रणाली को प्राचीन भारतवासी उसके आन्तरिक गुणो के कारण और सक्षम शिक्षा-विधि के कारण बहुत अधिक महत्त्व देते थे। लिपि के चल जाने के बाद भी बहुत दिनो तक शिक्षा की मौखिक प्रणाली चालू रही। कुछ मूलभूत धार्मिक ग्रथ, विशेषत वेद आदि मनन के लिए हृदय मे धारण कर लिए जाते हैं, और आज दिन तक धार्मिक-जन उनकी रक्षा के लिए लेख या पुस्तको-जैसे बाह्य साधनो का आश्रय नही लेते। यह मानते हुए भी कि भारत मे साहित्य लिपि से पहले बना और चिरकाल तक कठ-परम्परा से जीवित रहा, उसे ही भारत के इतिहास की प्राचीनतम प्रमाण-सामग्री नही कहा जा सकता। जिन्हे प्राग्-ऐतिहासिक युग कहा जाता है उनमे भारतवासी मानव के सर्वप्रथम जीवन के बचे हुए कुछ भौतिक अवशेष और चिह्नो मे वह प्राचीनतम प्रमाण-

सामग्री उपलब्ध होती है। उन पूर्व दिनों में प्रयुक्त औजार, हथियार, बरतन और घर वे साधन हैं। पीछे जब संस्कृति और सभ्यता बढ़ी मानवीय जीवन की साक्ष्य सामग्री भी बहुल और विविध होने लगी, यहाँ तक कि ऐतिहासिक युगों में भी इतिहास के साधन न केवल साहित्य, लोकवार्ता और अनुश्रुति के रूप में मिलते हैं, कई प्रकार के भौतिक अवशेषों के रूप में भी, जैसे वास्तु, शिल्प, चित्र, शिलालेख, ताम्रपट्ट और सिक्के, जिनमें कि उनके चिह्नों के आहत रूप, विरुद-लेख, तोल, मान, बनावट और धातु के द्वारा इतिहास-सम्बन्धी सूचनाएँ मिलती हैं। इस प्रकार साहित्य, अभिलेख, मुद्रा, कला, शिल्प और स्मारक इन सब प्रमाणों से यथा-प्राप्त सामग्री के आधार पर इतिहास की रचना करना आवश्यक है। कभी तो ये साधन बहुत छिटके हुए, परदेश और दूर के स्थानों में भी मिल सकते हैं। जिन देशों के साथ भारत का लेन-देन रहा है, उनका इतिहास भी हमारे अपने इतिहास पर प्रकाश डाल सकता है। भारतीय इतिहास के कुछ प्रमाण यूनानी और रूमी लेखकों के ग्रंथों में पाए जाते हैं। मेसोपोटामिया से प्राप्त एक अभिलेख ऋग्वेद की, जो भारत और सम्भवत संसार का सर्वप्रथम साहित्यिक ग्रंथ है, प्राचीनता पर प्रकाश डालता है। पूर्व भारतीय द्वीप-समूह के अन्तर्गत जावा, सुमात्रा, बाली आदि द्वीपों में अथवा स्याम, कम्बोज प्रभृति देशों में, जिन्हें अब सुविधा के लिए हिन्देशिया के नाम से पुकारते हैं, अनेक पुराने स्मारक-चिह्न विद्यमान हैं, जिनका निर्माण भारतीय संस्कृति और कला-कौशल के कारण हुआ और जो भारतीय दिग्विस्तार अथवा अपनी सीमाओं से परे वृहत्तर भारत की कीर्ति पर प्रकाश डालते हैं।

: २ :

प्राग्-ऐतिहासिक भारत

भूगर्भ रचना—प्राग्-ऐतिहासिक भारत की समीक्षा प्राकृतिक और मानवीय दोनो दृष्टियो से करना आवश्यक है। भारत का भौगोलिक रूप, जैसा हम मानचित्र मे देखते हैं, एक दिन मे नही बना। वह भूगर्भीय विकास या भू-रचना के लम्बे क्रम का परिणाम है। आरम्भ मे पृथ्वी सूर्य की तरह जलती हुई चचल पिण्ड थी। न तो उसमे भारत आदि पृथक् देश ही थे और न जीवन या जीवित रूप का ही चिह्न था। भूगर्भ-शास्त्री पृथ्वी की आयु के चार प्रधान युग मानते हैं जिनमे से हरएक जीवन-विकास के अनुसार कई छोटे-छोटे भागो मे बँटा हुआ है। ये युग इस प्रकार हैं—

(१) अजन्तुक, जब पृथ्वी पर किसी प्रकार का जीवन न था, (२) पुरा-जन्तुक, जब मेरु-दण्ड-हीन प्राणियो के रूप मे जीवन के चिह्न पहले-पहल दिखाई पडे। आरम्भ मे सामुद्रिक घास और सिवार, स्पज और लिब-लिब मछली, बाद मे मत्स्य, सरीसृप, पक्षी एव बडे-बडे पेड और जगल, जिनसे धरती मे कोयले और अगारो की पट्टियाँ बन गईं, (३) मध्यजन्तुक, और (४) नवीन जन्तुक (हाल मे उत्पन्न जीवन), जिस युग मे विविध प्रकार के स्तनपायी जन्तु विकसित हुए, जिनमे से मनुष्य भी सवर्द्धित हुआ।

जब धरती का ऊपरी छिलका ठडा पडा और जमकर कडा हो गया, उस समय जीवन का विकास हुआ। भूकम्प, ज्वालामुखी-उदगार, हवा और पानी के परिवर्तनो के कारण पृथ्वी अपने वर्तमान रूप को प्राप्त हुई है और इसी तरह भारत की भी रचना खण्ड-खण्ड करके कई बार मे हुई है। उसके कुछ हिस्से बहुत पुराने हैं जो धरती की सबसे पहली पपडी के अश कहे जा सकते है। ध्रुव उत्तर से दक्खिन तक फैली हुई उसकी रीढ या चट्टानी नीव इतनी पुरानी है जितनी कि यह सृष्टि। भारतीय प्रायद्वीप का जो हिस्सा दक्खिनी पठार या दक्षिणा-पथ कहलाता है, वह इसी जरठ भूगर्भ की एक चिप्पड है और उसकी तुलना मे उत्तरी भारत के मैदान तो बिलकुल हाल के ही हैं। दक्खिनी पठार का भू-भाग एक

दूसरे महाद्वीप का अग था, जिसे भू-शास्त्री 'गोडवाना' के नाम से पुकारते है। इसका विस्तार दक्षिणी अफ्रीका से लेकर आस्ट्रेलिया होता हुआ दक्षिणी अमेरिका तक फैला हुआ था, जैसा कि इस सारे क्षेत्र मे फैले हुए पशु और वनस्पति-सम्बन्धी जीवाश्म या पथराये हुए अवशेषो की पहचान से ज्ञात होता है।

गोडवाना के पूर्वी भाग को पश्चिमी भाग से अलग करने वाला जल-विभाजक पश्चिमी घाट या सह्याद्रि पर्वत-माला थी, इसीलिए तो हम देखते है कि दक्खिनी पठार की वे नदियाँ, जिनके उद्गम-स्थान अरब सागर या रत्नाकर के बिलकुल समीप है, सामने की दिशा मे बहती हुई बगाल की खाडी या महोदधि से जा मिलती है। उत्तर मे एक अति विस्तृत यूरेशियाई महार्णव, जिसे टेथिस या पाथोधि के नाम से पुकारते हैं, उस सारे भू-खण्ड पर छाया हुआ था जो मध्य-यूरोप से लेकर लघु-एशिया, उत्तरी भारत और बर्मा तक फैला हुआ था। भारत मे केवल आरावली या अर्बुदाचल पर्वत-शृङ्खला ऊँचा सिर उठाये हुए इस समुद्र को देख रही थी। इस समुद्र मे छुट्टा आने-जाने के जो मार्ग थे, उन्ही के कारण चीन, मध्य हिमालय और बर्मा-जैसे विलग प्रदेशो से मिले हुए प्राप्त जीवाश्म-चिह्नो मे परस्पर समानता पाई जाती है। बहुत अरसे बाद पहाडो का तक्षण करने वाले धक्को का पहला अनुभव हुआ। पाथोधि समुद्र (टेथिस) पश्चिम की ओर हटा और उसकी तलहटी उभर आई और उसके दोनो किनारो की भूमि एक-दूसरे से मिल गई। उन किनारो के बीच मे जो मुलायम समुद्री धरती थी, उसमे सिकुडनो के पडने और कुचलने से भारत के हिमालय[1], ईरान के पहाड, कार्पेथिया के पर्वत और आल्पस् पर्वतो का निर्माण हुआ। इनमे सबसे बडा हडकम्प वह था, जिसमे

---

१. मानवीय इतिहास के लिए हिमालय का महत्त्व कथन से बाहर है। मनुष्य का विकास स्वय इसी भारी प्रवाह वाली भूगर्भ-रचना के कारण हुआ। बैरल ने सबसे पहले यह सुझाव दिया था कि मध्य उषाकालीन युग के लगभग अन्त मे दस लाख वर्ष पहले मानव और हिमालय एकसाथ ही अस्तित्व मे आए। सर आर्थर स्मिथ वुडवर्ड के मतानुसार, "जब धरती ऊपर उठी, तापमान घट गया, और कुछ वानर-जातीय जन्तु जो पहले गरम जगलो मे बसते थे, उठी हुई धरती के उत्तर की ओर घिर गए।" "जब जगल हटे और उनकी जगह खुले मैदानो ने ली, मनुष्य के पूर्वजो को भूमि पर रहने के लिए बाधित होना पडा। यदि ये पेडो पर ही रहते, या वानरो की तरह भूमि और वृक्षो पर मिले-जुले रहते, तो कभी भी मनुष्यो का विकास न होता।" (टामसन और गैडीज, 'आउटलाइन्स ऑफ जनरल बायोलॉजी', भाग २, पृ० ११६४)।

एशिया की भूमि दक्खिन की ओर टली और पाथोधि समुद्र की तलहटी को नीचे ठेलने लगी, जिसके कारण दक्षिणी पठार, जो भारत का दृढ भाग था, धक्के की चोट से कुछ टूट गया और सिकुडन डालने का कारण हुआ। इन चुन्नटो के अवशेष भू-विद्या के पण्डितो ने हिमालय के निचले भाग मे ढूंढ निकाले हैं जिनमे महा-हिमवन्त की ऊँची चोटियाँ और शिमला के इर्द गिर्द की पहाडियाँ शामिल है। इसी से सम्बन्धित जो सिकुडनें सामुद्रिक तलहटी मे पड गईं, उनके चिह्न देहरादून-शिमला-स्फीत-क्षेत्र के उत्तरी भाग मे पाए जाते हैं। इसी समय हिमालय और दक्खिनी पठार की भूमि नीचे धँस गई। उत्तर के पहाडो से आने वाली नदियाँ अपने साथ जो मिट्टी-वालू बहाकर लाती रही, उससे वहुत पीछे यह गड्ढा धीरे-धीरे भरा गया और उत्तरी भारत के मैदान वने।

इस तरह जब भारतवर्ष का भौगोलिक रूप और ढाँचा वन चुका था, उसके अरसे बाद भारत-भूमि पर मानव की उत्पत्ति हुई, जिसने इतिहास का सूत्रपात किया। देश मे मानवीय अवतार के अनुकूल परिस्थितियो को बनाने वाले प्राकृतिक इतिहास का चक्र जब पूरा हो चुका, उसके बहुत दिन पीछे मनुष्यो का इतिहास शुरू हुआ।

प्राग्-ऐतिहासिक सस्कृतियाँ: पाषाण युग—अपनी आरम्भिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए मनुष्य जिन उपकरणो का प्रयोग करता है उन्ही के अनुसार उसके प्रथम इतिहास के युग-विभाग किए जाते है। ये उपकरण विशेष रूप से उसके औजार, हथियार, वर्तन-भाँडे और उनके शव-स्थानो के रूप मे मिलते है। शुरू-शुरू मे पत्थर के औजार बनाये गए, जो वडे खण्ड मे से टाँचे हुए और शकल मे अनगढ होते थे। जो जानवर अव उच्छिन्न हो गए है उनकी पथराई हुई ठठरी या हड्डियो के साथ प्राय वे पाये गए है, इसलिए सभ्यता के सबसे पहले युग को प्राचीन-पाषाण या पूर्व-प्रस्तर-युग कहते हैं। उसके वाद नवा-पाषाण या नव-प्रस्तर-युग आया, जिसमे सुधरे हुए पत्थर के औजार वनाये गए जो तराशकर, घिसकर और चिकना करके तष्ट-घृष्ट-मृष्ट रूप मे वनाए जाते थे। इनके साथ प्राय उन पशुओ के ढांचे मिले है, जो अभी तक लुप्त नही हुए। इस युग मे मिट्टी के वर्तन भी, पहले हाथ से और पीछे चाक पर वनाये जाने लगे, एव भारी शिला-खण्ड या पटियाओ (स्थाणुओ) को आडा खडा रखकर बनाई हुई समाधि मे शवो को भू-निखात करने की प्रथा के द्वारा मृत-आत्माओ का सम्मान करने का भाव भी इस युग मे उत्पन्न हुआ। इससे स्पष्ट है कि पूर्व और नूतन-प्रस्तर-युगों मे समय और सस्कृति का भारी व्यवधान था। इसके वाद की विकास की अवस्थाएँ शीघ्रता से एव अलक्षित भेदो के साथ घटित हुईं, जिनमे ताम्र, कांस्य और लोहे का प्रयोग मुख्य विशेषता थी।

भारतवर्ष मे अन्य देशो की भाँति विकास-क्रम की ये सब अवस्थाएँ बीती है। केवल कास्य-युग के स्थान पर (कुछ प्रदेशो को छोडकर) ताम्र-युग से मिलती सस्कृति यहाँ हुई।

पूर्व-प्रस्तर के अवशेष भारत मे कम ही है। मुख्यत दक्षिणी पठार एव द्रविड देश मे, जो भू-गर्भ की दृष्टि से भारत के प्राचीनतम भाग हैं, उस काल के अवशेष पाए जाते है। वे अवशेष २५° अक्षाश के दक्षिण मे मुरम के रग की चेचक-पत्थर (लेटराइट) की धरती मे, जिसे दक्षिण मे इटिकाकुलु कहते हैं और पथरीली बजरी (ग्रावेल्स) मे, जिसमे ककालो की हड्डियाँ मिलती है, पाए जाते है। इस तरह की प्रस्तर-भूमि बूझा पत्थर की बनी होती है, जिस कारण पूर्व-प्रस्तर-युग के मानव बूझा-प्रस्तरीय-मानव (क्वार्त्साइत मैन) भी कहलाते है।[1] बूझा पत्थर के बहुसख्यक औजार मद्रास शहर के पास और गुटूर जिले के औगल स्थान मे एव कडप्पा मे और भी अधिक पाए गये है। जो प्रदेश बूझा चट्टान की विद्यमानता के कारण पूर्व-प्रस्तर-युग की सस्कृति का क्षेत्र था, उस प्रकार के बिलारी नव-प्रस्तर-युग की सस्कृति के कुछ पूर्व-प्रस्तरीय अवशेष अन्य स्थानो मे भी छितरे मिले है। बूझा पत्थर के खड मे मे चिप्पड ठोककर बनाया हुआ बँजावी (अडाकृति) पहले का सुगठित औजार नर्मदा की उपत्यका मे तृतीयकोत्तर (पोस्ट-टर्शियरी)[2] युग की ककरीली धरती मे पाया गया था, जिसमे दरियाई घोडे और अन्य लुप्त पशुओ की हड्डियाँ भी मिली थी। गोदावरी की उपत्यका की इसी प्रकार की चाँचर भूमि (ग्रावेल्स) मे हकीक की एक चिप्पड (अगेट फ्लेक) मिली थी। मिरजापुर की दूधी तहसील के प्रदेश मे कोन की पर्वन-दरी मे कुछ औजार मिले है, जो प्राप्त-स्थान के आधार पर नव-प्रस्तर-युग के समझे जाते है। गाजीपुर

---

१ अग्रेजी लेटराइट (laterite) के लिए तामिल भाषा मे इटिकाकुलु शब्द है, जिसका शब्दार्थ है—चेचक या शीतला के निशान का पत्थर। लेटराइट धरती लाल रग की होती है।

अग्रेजी मे जिसे क्वार्त्स (quartz) कहते हैं उसे मैने ... पत्थर कहा है। यह नाम कोदरमा की ओर चालू है। —अनु०

२ अग्रेजी टर्शियरी (tertiary) के लिए स० तृतीयक और क्वार्टरनरी युग के लिए स० तुरीयक शब्द प्रयुक्त किये गए हैं। प्रत्यग्रजन्तुक (केनोजोइक caınozoıc) युग का पूर्व काल-विभाग टर्शियरी और पिछला क्वार्टरनरी कहलाता है। भूगर्भ-शास्त्रियो के अनुसार भू-रचना और जीव-विकास के मुख्य युग-विभाग निम्नलिखित हैं—

(देखिए अगले पृष्ठ पर टिप्पणी)

जिले मे गगा नदी की रौसली मिट्टी की तह मे, जहाँ घुटे हुए नव-प्रस्तर-युग के औज़ार मिले थे, उसी तह के नीचे बाण के अग्र-भाग की तरह की मछली की हड्डी, जिसके दोनो ओर दाँते कटे हुए थे, प्राप्त हुई है।

पूर्व-प्रस्तर-युगीय मानव कडप्पा या मद्रास तक के बूझा-क्षेत्रो तक ही सीमित रहे, किन्तु नव-प्रस्तर-युग के लोग सारे देश मे फैल गए। उनके अवशेष मुख्यत इस प्रकार हैं—

१. चकमक की कतरनें[1]—आधे इच से लेकर डेढ इच तक लम्बे चकमक पत्थर के पिद्दी औजार जो आकार मे वाण की नोक, नुकीली चन्द्र रेखा, या अन्य प्रकार की गठीली शक्ल के होते हैं। जान पडता है कि इन्हे वे लोग लकडी के दस्ते या हाथो मे लगाकर काम मे लाते थे। इनके प्राप्ति-स्थान प्राय विन्ध्याचल के सैकते या छिछले नदी-पुलिनो (shoals) मे, बघेलखण्ड, रीवा, मिरज़ापुर मे, दरी[1] या चट्टानी ढुकने की जगहो मे चूल्हे की राख और कोयलो के साथ मिले हैं, अथवा पूरे ककाल के पास रखे हुए कुछ भोडे बर्तनो के साथ शव निखात-स्थानो मे भी पाये गए है। रुखानी-जैसी धार का वीच मे मे उठा हुआ एक विशेष प्रकार का पत्थर का औजार छोटा नागपुर, आसाम और उससे भी अधिक बर्मा, हिन्दचीन और मलाया प्रायद्वीप मे पाया गया है।

२ *औज़ारो के निर्माण-स्थान*—दक्षिण भारत मे कई स्थानो पर नव-प्रस्तर-युग की बस्तियाँ तथा उनके औज़ार गढने की कर्मशालाओ के स्थान पाये गए हैं। ज्ञात होता है कि वे लोग अपने औज़ारो को कडी चट्टानो पर बनाई हुई घाइयो मे घिसते और माडते थे। १० से १४ इच तक लम्बी और दो इच गहरी घाइयाँ पाई गई हैं। इन बस्तियो मे चाक से बने बढिया वर्तन बहुतायत से मिले हैं,

१. अजतुक (एजोइक)	८० करोड वर्ष	कोई जीव नहीं
२ प्रारम्भजतुक (प्रोटेरोज़ोइक)	६० ,,	काई, श्यान-मत्स्य
३. पूर्व पुराजंतुक (अर्ली पेलिओज़ोइक)	३६ ,,	मेरु-दण्डरहित जीव, समुद्री बिच्छू आदि
४. अपर पुराजंतुक (लेटर पेलिओज़ोइक)	२६ ,,	मीन, क्षप आदि
५ मध्यजतुक (मेसोज़ोइक)	१४ ,,	सरीसृप, दानव-सरट (डीनोसौर) आदि
६ प्रत्यग्रजतुक (केनोज़ोइक)	४	स्तनपायी जन्तु

१. मिरज़ापुर ज़िले मे इन पहाडी गुफाओं को अभी तक दरी कहते हैं जैसे लेख-नियादरी, सोनदरी, भालदरी, जिनमे चित्र लिखे हैं। बुन्देलखण्ड मे इन चित्रो को 'रकत की पुतरियाँ' कहते हैं।

पंचमढ़ी के रेखा-चित्र जिनमें बारहसिंगे, मगर, सुअर और छिपकलियों के चित्र हैं।
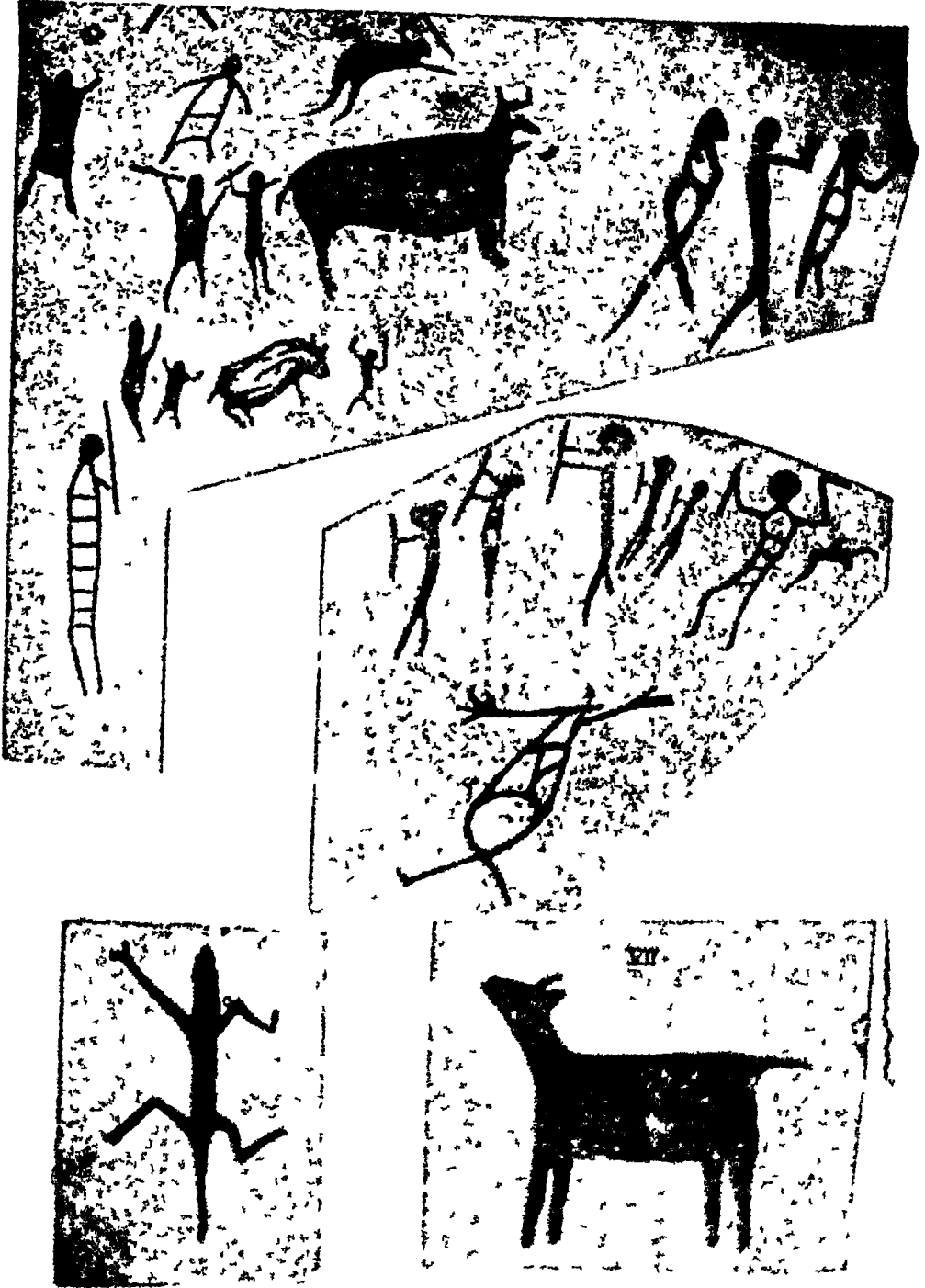
लम्बे तावूत मिले है, जिनके साथ कभी-कभी लोहे के औजार भी पाये गये है। पत्थर की शिलाओ से निर्मित समाधियाँ या स्थाणु-सज्ञक निखात-स्थान (मैगे-लिथिक टूम्ब) मद्रास, बम्बई, मैसूर और हैदराबाद (दक्षिण) राज्य मे बहुतायत मे मिली है, किन्तु उनमे प्राप्त लोहे के औजारो से वे नव-प्रस्तर-युग की ज्ञात होती है। उनमे शवो के अन्तिम दाह के चिह्न भी मिले हैं। नव-प्रस्तर-युग मे किसी पात्र मे शवो की अस्थि निखात करने की प्रथा भी थी।[1] इन घडो मे शवदाह के बाद की बची हुई राख या धूल न रखकर सारे शव को ही तोड-मरोडकर या काट-छाँटकर रख देते थे। ताम्रपर्णी नदी के किनारे, तिन्नवल्ली ज़िले के आदि-चनल्लूर नामक स्थान मे ११४ एकड भूमि का एक बडा श्मशान-वन मिला था, जहाँ प्रत्येक एकड मे लगभग एक हज़ार घडे गडे हुए पाये गए थे। इस श्मशान-भूमि या पितृ-वन के कुछ भाग नव-प्रस्तर-युग के थे, जैसा कि वहाँ मिले हुए पत्थर के औज़ारो से ज्ञात होता है। सिन्ध के ब्राह्मणवाद स्थान मे भी घट-निखात-विधि के चिह्न पाये गए है।

ताम्र-युग—पाषाण-युग के बाद दक्षिण भारत मे लोह-युग और उत्तर भारत मे ताम्र-युग का आविर्भाव हुआ। भारतवर्ष मे लोह-युग से पहले कास्य-युग का क्रमिक विकास नहीं पाया जाता। सिन्ध प्रात इसका अपवाद है, जैसा कि आगे ज्ञात होगा। नौ-भर तावा और और एक-भर राँगा मिलाकर कासा या फूल बनाया जाता है।[2] दक्षिण भारत की प्राचीन समाधियो मे प्राप्त कासे की वस्तुओ मे फूल के प्याले या कटोरे-जैसी नफीस चीजें भी मिली है, जो या तो बाद की है या अन्यत्र से लाई गई थी। तावे के हथियारो का सबसे बडा जखीरा मध्यभारत मे गुगेरिया नामक गाँव मे पाया गया है। इसमे ४२४ तावे के औजार थे जो आयर-लैंड मे मिले हुए औजारो से बहुत मिलते हैं और २००० ईस्वी पूर्व के समझे जाते है। इस निधि मे १०२ चाँदी के गोल टुकडे और बैल का एक सिगँल मस्तक भी था। चाँदी तो इस देश मे कम थी और सम्भवत वह आयात मे लाई गई थी, पर तावा भारत मे प्राप्त होता है और ऋग्वेद मे वर्णित लोह अयम् से उसकी एकरूपता मानी जाती है। गुगेरिया मे प्राप्त ताम्रिक अस्त्रो के अलावा तावे के ही बने हुए बारीक औज़ार, मछली मारने के बरछे, तलवारे और भाले के अग्रभाग

---

१ इसे प्राचीन वैदिक परिभाषा मे चमूषद कहते थे।

२ हिन्दी की एक लोकोक्ति है—

सौ सत्ताइस कासा नहीं तो सन्यासा। अर्थात् सौ-भर तावे मे २७-भर राँगा मिलाने से अच्छा कासा बनता है। कहा जाता है कि अत्युत्तम फूल के लिए ६६-भर ताबा, २६-भर रागा और २-भर चाँदी होनी चाहिए।

कानपुर, फतेहगढ, मैनपुरी और मथुरा के जिलो मे पाये गए है। उनका विस्तार प्राय सारे उत्तरी भारत मे हुगली से सिन्धु नदी तक और हिमालय की तराई से कानपुर जिले तक पाया गया है।

लोहे का प्रयोग—दक्षिण भारत की अपेक्षा उत्तर मे लोहा पहले व्यवहार मे आया, जैसा कि मिस्र की अपेक्षा बावेरू मे उसका प्रयोग पहले शुरू हुआ। अथर्ववेद मे उसका उल्लेख है, जोकि २५०० ई० पू० से बाद का नही कहा जा सकता। हीरोदोत का कथन है कि जो भारतीय सिपाही ईरानी सम्राट् क्षयार्ष (जरकसीज) की कमान मे यूनान के विरुद्ध ३२५ ई० पू० मे लडे थे, उन्होने अपने धनुष के साथ लोहे की नोक या फाली लगे हुए बेत के बाणो का प्रयोग किया था। बाद मे जब सिकन्दर के साथ भारत मे युद्ध हुआ तब से यूनानी लेखको के कथनानुसार भारतवासी लोहे और फौलाद के काम मे यूनानियो जैसा ही कमाल रखते थे। उनका कहना है कि पजाब के किन्ही शासको ने सिकन्दर को सौ टेलेण्ट (एक यूनानी तोल, लगभग २८ सेर या ५७ पौड) बढिया भारतीय फौलाद भेट मे दी थी।

सिन्धु सभ्यता (लगभग ३२५०–२७५० ई० पू०)—प्राग्-ऐतिहासिक सस्कृतियो के यत्किंचित् अवशेष ही भारत-भर मे बिखरे मिले है, किन्तु प्रामाणिक और ठोस सामग्री का एक वृहद् भण्डार पुरातत्त्व की खुदाई मे सिन्धु नद की उपत्यका मे हडप्पा (लाहौर और मुलतान के बीच रावी की एक पुरानी धारा के तट पर बसा हुआ एक पुराना स्थान, जिसका प्राचीन वैदिक नाम सम्भवत हरियूपिया था) एव मोहनजोदडो (सिन्धी मोया-जो-दडो–'मरे हुओ की ढेरी या टीला' जिला लडकाना, सिन्ध) स्थानो मे पाया गया है। इस सामग्री से विदित होता है कि किसी समय उस प्रदेश मे, जो अब की अपेक्षा अधिक हरा-भरा और जल-सिंचित था, एक सर्वांग सभ्यता का विकास हुआ था, जिसे सिन्धु-सभ्यता का नाम दिया जा सकता है। उस प्राचीन काल मे सिन्ध-प्रदेश मे वर्षा अधिक होती थी, जैसा कि मेह-बदी के लिए खुली हुई भीतो और गृह-भागो मे लगी हुई पक्की ईंटो से, नीव मे छिपी हुई कच्ची ईंटो की भराई से, एव घने जगलो मे रहने वाले पशुओ के मुद्रा-चित्रो से, या नगर मे पानी के बहाव के लिए बनी हुई नालियो से सिद्ध होता है। न केवल सिन्धु नदी अपनी शाखा-प्रशाखाओ के जल से इस प्रदेश को सीचती थी, बल्कि चौदहवी शती तक चालू मिहरान नामक दूसरा बडा नद भी, पजाब की पाँचो नदियो की जल-राशि आपस मे समेटकर, इसे सीचता था। ये दोनो धाराएँ सिन्धु-तट की सस्कृति के फूलने-पलने मे योग देती थी, जिसके कारण प्राचीन सिन्धु-प्रात नदीमातृक बना हुआ था। पडोस के प्रदेश दक्षिणी बलूचिस्तान मे भी, जो अब सूखा पडा हुआ है, श्री आरेल स्टाइन को समृद्ध और

बडी प्राग्-ऐतिहासिक वस्तियो के अवशेष मिले थे। सिन्ध-प्रात (जिसका प्राचीन न॰॰ सौवीर था) की यह समृद्धि पाँचवी शती मे ईरान के हाखमनि सम्राट् दारा के समय तक, एव चौथी शती मे सिकन्दर के समय तक वनी रही, जव कि यहाँ मुचकर्ण नामक वीर क्षत्रिय जाति का राज्य था। मोहनजोदडो के घरो की ऊँची कुरसियो से ज्ञात होता है कि उस समय भी यहाँ बाढो का डर रहता था।

मोहनजोदडो की भूमि मे बीस से सत्तर फुट तक ऊँचे टीले है। टीलो की चोटी से लेकर धरती के नीचे की पानी की सतह तक उत्खनन करते हुए अवशेषो की सात तहे मिली है, जिनमे ऊपर की तीन परत उत्तर-युग, बीच की तीन मध्य-युग और अन्तिम सातवी पूर्व-युग की है। भूमि के लगभग चालीस फुट नीचे सातवी तह के भी उस पार और भी स्तर थे जो अव भूमिलीन जल के नीचे आ गए है। खुदाई मे प्राप्त स्तर जिस उन्नत सभ्यता का परिचय कराते है उसका मूल और आरम्भ लगभग एक सहस्र वर्ष प्राचीनतर होना चाहिए।

उसके अवशेष इमारतें—वहाँ रहने के घर, पूजा के स्थान और स्नान-कुण्ड पाये गए है, जो रहन-सहन और धार्मिक कृत्यो के लिए प्रयुक्त होते थे।

दो कोठरियो के छोटे घरो मे लेकर वडे महल तक मिले हैं, जिनका अगला भाग पचासी फुट लम्बा और जिनकी चौडाई सत्तानवे फुट है। इन घरो मे प्रवेश-द्वार, उसके पास ही बैठक का वडा कमरा, द्वारपाल की कोठरी, वत्तीस फुट का चौकोर आँगन, भूमितल और ऊपर के तल मे कमरे थे, जिनमे ईंटो का खडजा या फर्श रहता था। उनमे ऐसी ढकी हुई नालियाँ मिली है जो कोठे पर से नलो के द्वारा आँगन मे उतरती थी और आँगन मे फर्श के नीचे ढकी हुई नाँदो के साथ मिली रहती थी और इस प्रकार जिनमे मैला वहाने का प्रवन्ध था। कुछ वहुत वडी और कितने ही कमरो वाली इमारते मिली हैं, जिनसे मन्दिरो का भान होता है। ९० फुट का चौकोर ईंटो के बीस खम्भो पर खडा हुआ एक कमरा या आस्थान मण्डप मिला है जो मध्य-युग का था।

किन्तु सबसे निराली इमारत एक बृहत् स्नान-गृह था, जिसके कई भाग थे और जिसमे नियमित स्नान-क्रीडा का प्रवन्ध था।[१] इसमे निम्नलिखित हिस्से या भाग थे—(अ) एक चौकोर आँगन, जिसके चारो ओर वरामदा घूमा हुआ था और दालान के पीछे कोठरियाँ या कमरे थे, (आ) आँगन के बीच मे एक स्नान-कुण्ड था जो ३९ फुट लबा, २३ फुट चौडा और ८ फुट गहरा था, एव जिसमे उतरने के लिए कोनो पर सीढियाँ वनी हुई थी, (ई) पास मे कुएँ है जहाँ से जल-कुण्ड मे जल भरा जाता था, और (ई) उसके ऊपर की मजिल मे काठ के कमरे बने हुए थे, जैसा कि उनके जले हुए कोयलो से ज्ञात होता है। इस मज्जन-गृह की रचना उस समय के वास्तु-कौशल को प्रकट करती है। कुण्ड के चारो ओर
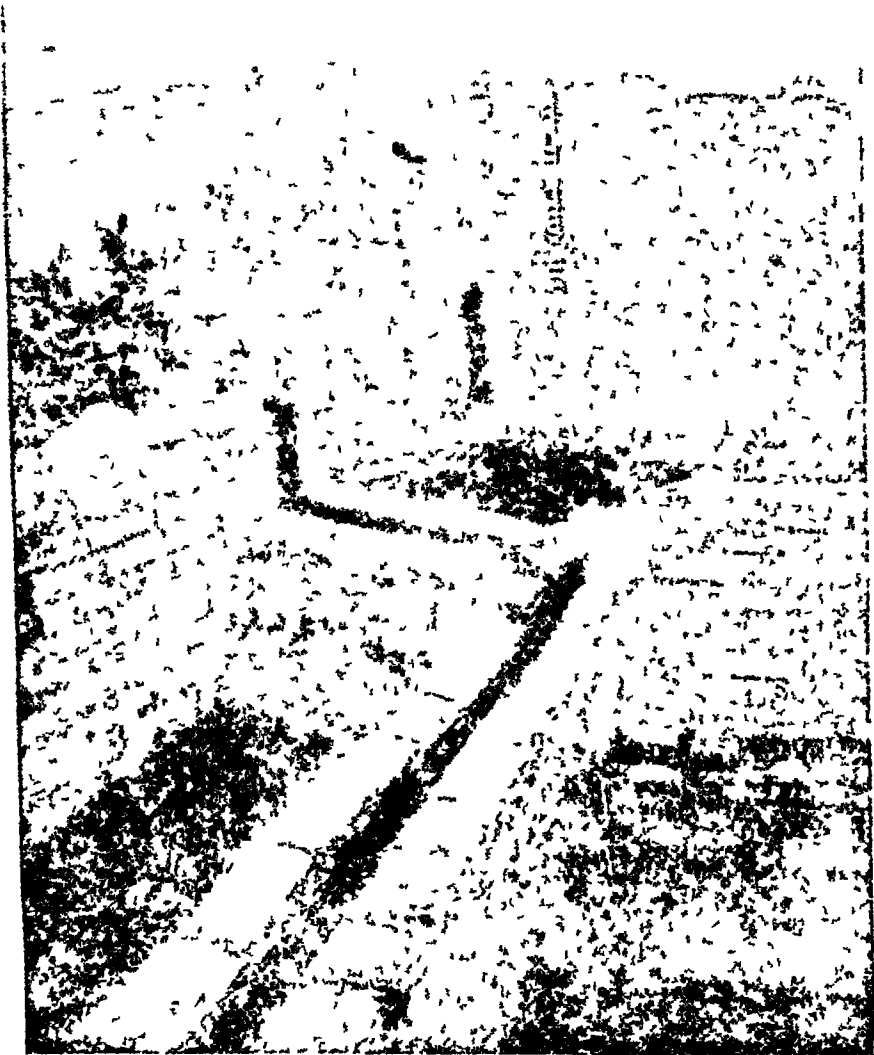
सिन्धु सभ्यता के अवशेष (लगभग ३२५०-२७५० ई० पू०)

मोहेंजोन्डो मे नालियाँ

वृहत् स्नान-ग्रह

की दीवार और नीव ऐसी पक्की बनी थी कि किसी प्रकार पानी का रिसना सम्भव न था। सबसे पहले चार फुट चौडा ईटो का डडा था जिसकी छिली हुई ईटे आप्स मे ठुककर मिली हुई थी और जिनकी जुडाई गच-चूने से की गई थी। इस डडे के पीछे इच-भर मोटा डामल का पलस्तर था जो आल या सील को रोकता था। इसके पीछे पक्की ईटो की पतली तह थी, फिर खजड और झाँवा ईटो का खडा भराव था और सबसे पीछे कुण्ड को चारो तरफ से घेरे हुए पक्की ईटो की चौकोर दीवार थी। इसीलिए तो पाँच सहस्र वर्ष पुराना यह जल-कुण्ड अब इतना सुरक्षित रह सका।

जल-कुण्ड से मिला हुआ एक हम्माम या वायु-कृत उष्ण मज्जन-गृह था, जिसमे नीचे डडो पर बने हुए फर्श और गरम हवा के लिए खुले हुए घमाले कमरे को गरम करने के लिए थे।

अन्य अवशेष · शिल्प और कला—इन प्राचीन पुरो की उन्नति कृषि और व्यापार पर निर्भर थी। खुदाई मे गेहूँ और जौ[1] के नमूने मिले है। अनाज पीसने के लिए चक्की के गोल पाट तो नही मिले किन्तु दरदराने की सिले और बीच मे से कुछ झुके हुए दलँटे पाये गए है (घोडे की ज़ीन के आकार की होने के कारण इन्हे अग्रेज़ी मे saddle-quern कहा जाता है)। खजूर की गुठलियो से उसकी उपज भी सिद्ध होती है।

सिन्धु उपत्यका के भोजन मे कई तरह का मास भी सम्मिलित रहा होगा, जैसे भेड, बकरी, सुअर, गाय, बैल, मुर्ग-मुर्गी, घडियाल, कछुए, मछली आदि, जो नदी और समुद्र मे होते थे। खण्डहरो मे इनकी हड्डियाँ पाई गई है। अस्थिपजर के अवशेष बताते है कि निम्नलिखित पालतू पशुओ का लोगो को परिचय था—बैल, भैसा, भेड, हाथी, ऊँट, सुअर, मुर्गी, और सम्भवत कुत्ता भी (जिसके मिट्टी के खिलौने मिले है) एव घोडा (?)।

निम्नलिखित जगली जानवरो के चिह्न मिले है—नेवला (shrew), जगली-

---

१ विशेष परीक्षण से ज्ञात हुआ है कि मोहेजोदडो का गेहूँ उसी प्रकार का है जैसा कि अभी पजाब मे होता है। यह निश्चित नही कि मनुष्य ने सबसे पहले जो अन्न खेती मे उत्पन्न किया वह जौ था या गेहूँ। ये दोनो अन्न मिस्र देश की सबसे पुरानी समाधियो मे मिले हैं। मोहेजोदडो मे जो जौ मिला है वह उसी जाति का है जो मिस्र मे राजवश से पूर्व के शव-स्थानो मे मिला है। ऐसा माना जाता है कि गेहूँ और जौ की उत्पत्ति एशिया मे हुई। (देखिए, श्रीयुत पीक का सभापति भाषण, रायल एन्थ्रोपॉलॉजीकल इन्स्टीट्यूट की पत्रिका, १९२७)।

चूहा, हिरन एव अर्ना भैसा, गेडा, बाघ, बन्दर, रीछ और खरगोश। इनके आकार के मिट्टी के खिलौने पाये गए है।

धातुए और खनिज द्रव्य—चाँदी, सोना, ताँबा, राँगा, सीसा—इन धातुओ का लोगो को परिचय था, किन्तु लोहा बिलकुल अज्ञात था। वहाँ के सोने मे एक विशेष प्रकार के चाँदी के अश की मिलावट है जो अवश्य ही व्यापार के द्वारा दक्षिण भारत की कोलार और अनन्तपुर की खानो से लाया गया होगा, क्योकि वही ऐसा सोना मिलता हे। सोने से भाँति-भाँति के गहने बनाये जाते थे। ताँबा और सीसा राजपूताना, बिलोचिस्तान या ईरान से, जहाँ वे पास-पास होते थे, लाए जाते थे। इस समय पत्थर का स्थान ताँबे ने ले लिया था, जिससे भाले का अग्र-भाग, धुरी, चाक, कुल्हाडी, रुखानी आदि औज़ार और हथियार एव कडे, कानो की बाली आदि आभूषण बनते थे। ताँबा यहाँ पर ३,००० वर्ष ई० पू० से भी पुराने स्तरो मे मिला है। ताँबा भारतवर्ष मे अत्यन्त प्राचीन काल मे निकाला जाने लगा था और काम मे आने लगा था। यह गुगेरिया से प्राप्त ताँबे के बने हुए ४२४ पिटवाँ औजारो से ज्ञात होता है, जैसा ऊपर कहा जा चुका है।

राँगा[1] अलग से काम मे न लाया जाता था बल्कि ६ से १३ प्रतिशत भाग को ताँबे मे मिलाकर काँसा बनाते थे। काँसा तेज धार या तैयारी की सफाई के विचार से ताँबे की अपेक्षा बढिया माना जाता था। सबसे नीचे के स्तर मे मिलने से यह अनुमान है कि ३,००० ई० पू० से पहले वह प्रयोग मे आ चुका था। इससे इस बात का निराकरण हो जाता है कि भारत मे कास्य-युग का अस्तित्व न था। सिन्ध के लिए राँगा भारत के बाहर, उत्तरी ईरान और पश्चिमी अफगानिस्तान से बोलन दर्रे से लाया जाता था। भारत मे केवल हजारीबाग जिले मे वह मिलता है, किन्तु इतनी दूर से सिन्ध-निवासियो के लिए उसका निकालना सम्भव नही था। घर बनाने एव अन्य कार्यो के लिए अनेक पत्थर काम मे आते थे, जो दूर और निकट के स्थानो से मँगाए जाते थे। मोरियो पर ढकने के लिए सक्खर का सफेद खडिया पत्थर (लाइम स्टोन) काम मे आता था। खीरथर पहाड से चूना फूंकने का गच-पत्थर (जिप्सम) और जाली के परदे, गिलास-कटोरी और मूर्ति बनाने के लिए सेल-खडी (अलाबास्टर, इसे सग जराहत भी कहते है) लाई जाती थी। पास-पडोस के कडे पत्थर-जैसे नीस और बैसाल्ट-सिल, गहरे दलैटे, दरवाजो की देहलियाँ और बट्टे बनाने के काम मे आते थे। चकमक (chert) को काटकर और चिकना करके उसके घाट और बट्टे बनाए जाते थे या उसकी कतरनो से चाकू बनाते थे। घिया-पत्थर (Steatite) से मुहरे और मूर्तियाँ

१. इसे सस्कृत मे कारस्तीर और राजस्थानी मे कठीर कहते है तथा अंग्रेजो मे टिन।

बनाते थे। जैसलमेरी संगलट्ट की मूर्तियाँ और पूजा के लिए लिंग और नकिया के आकार की योनियाँ बनाई जाती थीं। हारों के मनके और जड़ाऊ गहनों के काम में अनेक प्रकार के संग प्रयोग में आते थे, जैसे स्फटिक, घाऊ, अकीक (Carnelian), संग-अजूबा (Jasper), यशब (Agate) एवं संग-सुलेमानी (Onyx)। एक विशेष प्रकार का सुन्दर हरे रंग का भीष्मक पत्थर (Amazon stone) नीलगिरि पर्वत के डोड्डाबेट्टा की खानों से, जो भारत में उसका एकमात्र स्रोत है, आता था। संग-कठेला (Amethyste) दक्षिण के पठार से आता था। लाजवर्द (Lapis Lazuli, राजावर्त) बदख्शाँ से, फीरोज़ा (Turquoise) खुरासान से, एवं कड़े प्रकार का मरगज (Hard Jade या Jadite, म० मनार या अश्मसार) पामीर, पूर्वी तुर्किस्तान या तिब्बत से आता था।

हड्डी, हाथीदाँत, सीप और पकाई हुई सोफयानी मिट्टी (Faience) से भी चीज़ें बनाई जाती थीं। शुक्ति भारतीय समुद्र-तट से, ईरान की खाड़ी या लाल-सागर से लाई जाती थी। मोंहेंजोदड़ो के घरों में तकुओं के दमकड़े बड़ी संख्या में मिले हैं, जिससे ज्ञात होता है कि कताई का सर्वसाधारण में प्रचार था। अमीर-गरीब सभी में उनका चलन था, जैसा कि सोफयानी मिट्टी के मूल्यवान दमकड़ों एवं सस्ते मिट्टी या सीपी के बने दमकड़ों से मालूम होता है। ऊन और रुई दोनों से कपड़े बनाए जाते थे। चाँदी के एक पात्र से भीतर चिपटा हुआ सूती कपड़े का टुकड़ा मिला है। विशेषज्ञों द्वारा उसकी परीक्षा से ज्ञात हुआ कि उसकी रुई आजकल की मोटे तार वाली भारतीय रुई से मिलती है, जिसकी भीतरी रचना मरोड़दार होती है। इसी भारतीय रुई को बेबीलन (प्राचीन बबेरु) के निवासी सिन्धु और यूनानी सिंदन (Sindon) कहते थे। यह असली रुई थी, न कि मेमने के पेड़ पर उत्पन्न हुए की रुई, जैसा कि अब तक समझा जाता था।

उस समय के वेश में लोग एक लम्बा दुशाला ऊपर ओढ़ते थे, जैसा कि दो मूर्तियों में पाया गया है। पुरुष छोटी खसखसी दाढ़ी और गलमुच्छे रखते थे और सुमेर की भाँति होंठ के ऊपर के बाल प्रायः सफाचट करा लेते थे। बालों को माथे की ओर से पीछे की ओर काढ़कर या तो पट्ठों के रूप में कतरकर रखते थे, या जूड़ा बाँध लेते थे और एक पट्टी से बाँधकर रखते थे। सिर के ऊपर चिपकी हुई टोपी, जिसमें पीछे नोक उठी हो, पहनी जाती थी, अथवा बेले हुए किनारों वाली कुछ बड़ी टोपी पहनी जाती थी। नर्तकी स्त्रियों की कांस्य-मूर्तियों से ज्ञात होता है कि स्त्रियाँ बालों का एक बड़ा जूड़ा बनाकर बाएँ कान के पास के दाहिने कन्धे के पास लटका लेती थीं। गहनों में मुख्यतः चोटीचक्कर, सीसफूल, माँगपट्टी, माथे

की केशान्त रेखा के पहनने के लिए पात (fillet)[1], मटरमाला, गुलूबन्द, हार, बाजूबन्द या भुजबन्द, अँगूठियाँ (पुरुष-स्त्री दोनो के लिए), करधनी, कानो की बालियाँ और नूपुर थे। धनी लोग सोने-चाँदी, हाथीदाँत, नग और सोफयानी मिट्टी के गहने पहनते थे। निर्धन शख, हड्डी, ताँबे और मिट्टी के गहनो से काम चलाते थे। अकीक को चतुराई से बेधकर उसकी गुरियो को पोहकर करधनी बनाते थे।

सिन्धु-सभ्यता ताम्र-युग मे थी, यह इससे ज्ञात होता है कि पत्थर के हथियार और औजारो के साथ-साथ ताँबे या काँसे के औज़ार भी पाये गए है। लडाई और शिकार के हथियारो मे धनुष-बाण, भाला, कुल्हाडी, छुरी और गदा मिली है। तलवार और अग-रक्षक कवच का आविष्कार तब तक नही हुआ था। औज़ारो मे बसूला, हँसिया, आरी, रुखानी और उस्तरे थे, जो ताँबे और काँसे के बनते थे। चाकू और कतरने की पत्तियाँ इन्ही दो धातुओ की एव चकमक या दूसरे कडे पत्थरो की बनाई जाती थी। तश्तरी, प्याले, कलसियाँ, सिंगारदानी डिबियाँ या तश्तरियाँ (Palettes) और तोलने के बट्टे देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि पाषाण या ताम्र-युग के ढग की दस्तकारी की वस्तुएँ बहुत पीछे छूट चुकी थी।

मारने और बचाव के हथियारो की कमी से ऐसा ज्ञात होता है कि सिन्धु-सभ्यता के लोग लडाकू न थे और बाहरी आक्रमण की आशका भी उन्हे कम ही थी।

सिन्धु से मिले हुए बट्टे रोचक है। छोटे चकमक या सलेट के बट्टे चौकोर है, बडे तिकोनियाँ हैं। इलम और ईराक के बट्टो की अपेक्षा सिन्धु घाटी के बट्टे कही अधिक सच्चे और एक-सी चाल के हैं। शूषा से प्राप्त बट्टो की तरह उनका क्रमिक अनुपात आरम्भ मे दुचन्ती और आगे चलकर दशमलव आधार पर हो गया है, जैसे १, २, ४, ८, १६, ३२, ६४, १६०, २००, ३२०, ६४०, १६००। सबसे अधिक चालू बट्टा सोलह अनुपात वाला था, जिसकी तौल १२०,८९८[2] रत्ती (१३ ७१ ग्राम) थी। घरेलू बरतन-भाँडे प्राय मिट्टी के, भाँति-भाँति के प्रकार और आकृति के बनाए जाते थे, जैसे खडी पुजापेदानी, पीने के आबखोरे, झाँझरी, अँगीठियाँ, अनाज रखने के बडे मटके आदि। ढेर-के ढेर आबखोरे या

---

१. पात गहने का रिवाज मारवाडी स्त्रियो मे अभी तक है। यह पिटी हुई सोने की बहुत लम्बी, पतली पत्ती होती है।

२ रत्ती = १ ७५ ग्रेन।

कुल्हडो से ज्ञात होता है कि सिन्ध के लोग एक बार पीकर कुल्हड फेंक देते थे, जैसा कि हिन्दू अब भी करते है।

सिन्धु घाटी के बरतन प्राय चाक पर बने हुए हैं, जिन पर लाल-काली रेखाओ के अकन बने है। कुछ पर मिट्टी मे रेखाएँ खींची या खोदी गई है, कुछ बहुरगी या बन्नीदार (polychrome) है। सिन्धु-घाटी के रोगनदार बरतन बहुत उम्दा बने हैं और समस्त ससार मे अपने ग के अति प्राचीन है। ईराक मे वे १,००० ई० पू० के लगभग बनाए जाते थे, और मिस्र मे उसके भी बाद।

मिट्टी के खिलौने भी बहुत तरह के बनाए जाते थे, जैसे झुनझुने, चिडियो के आकर की सीटियाँ, पुरुष-स्त्री, चिडियाँ और बच्चो की गाडियाँ। चिडियो को पहियो के ऊपर बिठाया गया है और गाडियो मे बैलो की जोडियाँ जुती है। ये गाडियो के पुराने नमूने उसी तरह सबसे पुराने है जैसा कि उर से प्राप्त शिलापट्ट पर अंकित रथ का नमूना सबसे पुराना माना जाता है (वूली के मतानुसार ३२०० ई० पू०)।

सिन्धु उपत्यका के लोगो ने लिखने का भी आविष्कार किया था। वे एक प्रकार की लिपि काम मे लाते थे जो उस काल की अन्य लिपियो (जैसे आरम्भिक एलम, प्राचीन सुमेर, क्रीट और मिस्र) के समान कुछ चित्रात्मक ढग की है। इस लिपि मे ३९६ चिह्न है। इसके लेख मुद्रा मातृकाओ मे, मुहरो पर, बरतन के ठीकरो पर, ताँबे के छोटे टुकडो पर और मिट्टी के कडलो पर पाये गए है। कई चिह्नो से मिलाकर शब्द बनाये गए है और अक्षरो मे मात्राएँ भी लगी हुई जान पडती है। कई लकीरो को मिलाकर, जिनकी सख्या १२ तक पहुँचती है, चिह्न बनाये गए हैं जो अक की अपेक्षा अक्षर जान पडते है। यह लिखावट दाएँ से बाएँ ओर चलती है। सम्भव है कही समाप्त होती हुई पक्ति को जारी रखने के लिए बाईं ओर से भी पक्ति को आरम्भ किया गया है। लिपि-चिह्नो की अधिक सख्या बताती है कि सिन्धु की लिपि अक्षर पर आश्रित न होकर ध्वन्यात्मक वर्णों पर आश्रित है।

यहाँ के अवशेष और पुरानी वस्तुओ मे प्राय उस सजावट का अभाव है जिससे कला की उत्पत्ति होती है। लेकिन कुछ मुद्राएँ और तावीज़ अवश्य कलात्मक है, जैसे मुहरो पर बने हुए ककुद्मान् वृषभ, भैसें और गौर (जगली या अर्ना भैसे)। इसी प्रकार मिट्टी के नटिया बैल, घिया-पत्थर का बडा कुत्ता, बैठा हुआ मेढा, गिलहरी और बन्दर भी सुन्दर है। ये आकृतियाँ वास्तविक-जैसी हैं।

मनुष्यो की सुन्दर मूर्तियो की सख्या अधिक नही मिली। मिट्टी की बहुसख्यक मानवी मूर्तियो मे कला का अभाव मानना पडेगा। पत्थर की मूर्तियाँ कम हैं।

उनमे केवल तीन उल्लेखनीय है—एक योगी की, जिसके ध्यान-मग्न नेत्रो की दृष्टि नासाग्र पर है। एक मानव-मस्तक है जो किसी की प्रतिकृति जान पडता है। उसकी कनपटी उभरी हुई, मुँह चौडा, होठ पतले और कान भद्दे एव सीपीनुमा है। तीसरी बैठी हुई मूर्ति पुष्पपट्ट ओढे हुए है। नृत्य करती हुई स्त्री की कांसे की मूर्ति भी उल्लेखनीय है, जिसकी भुजाएँ और टाँगे कुछ अधिक लम्बी है और जिसके पैरो की मुद्रा तालात्मक है। हडप्पा मे दो विलक्षण मूर्तियाँ मिली है—एक लाल पत्थर की (जो कही दूर से लाया गया था), जिसकी मास-पेशियो को यथावत् अकित किया गया था और दूसरी मूर्ति गहरे रग के सलेटी पत्थर की है, जिसमे पुरुष नर्तक अपने दाहिने पैर पर खडा है और बायाँ उठाये हुए है, जो शिव नटराज का पूर्वरूप ज्ञात होता है। शरीर-गठन की हूबहू प्रतिकृति के अपने गुण से ये दोनो मूर्तियाँ यूनानी कला को बहुत पहले ही पीछे छोड देती है, जिस प्रकार मुहरो पर बनी हुई पशुओ की आकृतियाँ यूनानी कला मे बने हुए पशुओ को बहुत पहले ही प्रतिबिम्बित करती है।

धर्म—मोहेजोदडो और हडप्पा की प्राप्त सामग्री इस विषय मे थोडी है। मिट्टी की बहुत-सी मूर्तियाँ मिली है, जो बिलोचिस्तान मे मिली हुई मूर्तियो से मिलती है, यद्यपि ये पिछली मूर्तियाँ पूरे शरीर की नही है।

सिन्धु उपत्यका और बिलोचिस्तान से प्राप्त स्त्री मूर्तियो से मिलती-जुलती मूर्तियाँ पश्चिमी एशिया, भूमध्यसागर के इजियन तट, एलम, मेसोपोटामिया, कैस्पियन समुद्र के ऊपरले भाग, एशिया माइनर, सीरिया, फिलिस्तीन, साइप्रस और यूनान के किकलेट द्वीप-समूह, बालकन और मिस्र आदि देशो मे बहुसख्या मे पाई जाती है। बहुसम्मत विचार के अनुसार ये महामातृदेवी (महीमाता), या मातृरूप मे स्थित प्रकृति की मूर्तियाँ है। यह भारत की धार्मिक अनुश्रुति के अनुकूल ही है, जहाँ अनादिकाल से मातृदेवी आद्याशक्ति या प्रकृति की पूजा प्रचलित रही है, जिसे वेदो मे पृथ्वी (ऋग्वेद ६,१२,५, १०,१८७,२) या पृथिवी (ऋ० ५,८५,१-५, ७,७,२-५) भी कहा गया है। यही ऋग्वेद के आदित्यो की माता अदिति है। आर्य और अनार्य दोनो प्रकार की भारतीय प्रजा भुइयाँ आदि ग्राम-देवियो से लेकर आज तक इसी अम्बिका या मातृदेवी के नाना रूपो की पूजा करती आई है।

हडप्पा से प्राप्त एक लम्बी मुहर पर पृथिवी या मातृदेवी का चित्र है, जिसकी योनि मे से एक अकुर निकल रहा है और पास मे हाथ मे छुरी लिये एक पुरुष, और हाथ ऊपर उठाये हुए एक स्त्री, जो सम्भवत देवी की बलि के लिए थी, अकित की गई है।

इतिहासकालीन शिव के आरम्भिक रूप मे एक पुरुष देवता की मूर्ति मिली

शिव पशुपति

है, जिसके तीन मुंह और तीन नेत्र हैं। वह योगासन मे नीची चौकी पर बैठी हुई है और उसके दोनो ओर पशु अंकित हैं—दाहिनी ओर हाथी और बाघ एव बाईं ओर गेंडा और भैंसा। चौकी के नीचे हिरण जैसा दो सींगो वाला एक पशु है। इससे उसकी संज्ञा ऋग्वैदिक रुद्र या शिव के समान पशुपति सिद्ध होती है। मृग जगत का सूचक है, जैसा कि बौद्ध-कला मे मृगदाव के दृश्य मे, जहाँ बुद्ध ने प्रथम बार धर्मोपदेश किया था, पाया जाता है। इस चित्र मे शिव के मस्तक पर दो सींग भी हैं, जो शैवो के त्रिशूल के पूर्वरूप कहे जा सकते है। इसी चिह्न से सम्भवत बौद्धो ने त्रिरत्न की कल्पना की। मोहेंजोदडो मे प्राप्त सोफयानी मिट्टी की एक दूसरी मुहर पर योगी के आसन मे बैठे हुए देवता की एक और मूर्ति मिली है, जिसके दोनो ओर दो नाग अजलि-मुद्रा मे स्तुति कर रहे है। एक तीसरी मुहर पर इसी प्रकार की मूर्ति है, जिस पर केवल एक मस्तक है। नासाग्र दृष्टिवाली मुद्रा मे योगी की पत्थर की मूर्ति के मस्तक का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

श्री रमाप्रसाद चन्दा (Modern Review, 1935) सिन्धु-लिपि के चिह्न क्रमांक ३८३ को खड़े हुए चतुर्भुजी देवता का प्रतिरूप मानते है, जो उनके विचार मे ब्रह्मा, विष्णु शिव की चतुर्भुजी हिन्दू देव-प्रतिमाओ का पूर्वरूप था।

उन्होंने ६ अन्य मुहरो पर खडी हुई मूर्तियो की ओर भी ध्यान दिलाया है। फलक १२ और ११८, आकृति ७ (मार्शल कृत मोहेजोदडो) कायोत्सर्ग नामक योगासन मे खड़े हुए देवताओ को सूचित करती हैं। यह मुद्रा जैन योगियो की तपश्चर्या मे विशेष रूप से मिलती है, जैसे मथुरा-संग्रहालय मे स्थापित तीर्थंकर श्री ऋषभ देवता की मूर्ति मे। ऋषभ का अर्थ है बैल, जो आदिनाथ का लक्षण है। मुहर संख्या F,G,H, फलक दो पर अंकित देव-मूर्ति मे एक बैल ही बना है, सम्भव है कि यह ऋषभ ही का पूर्वरूप हो। यदि ऐसा हो तो शैव-धर्म की तरह जैन-धर्म का मूल भी ताम्र-युगीन सिन्धु-सभ्यता तक चला जाता है। इससे सिन्धु-सभ्यता एव ऐतिहासिक भारतीय सभ्यता के बीच की खोई हुई कड़ी का भी उभय सामान्य सांस्कृतिक परम्परा के रूप मे कुछ उद्धार हो जाता है।

शिव और सत्य की पूजा के साथ-साथ लिंग और योनि की पूजा भी प्रचलित थी, जैसा कि इन दोनो की पाषाण-निर्मित असंदिग्ध असल-जैसी मूर्तियो से ज्ञात होता है, जो सिन्धु उपत्यका और असल बिलोचिस्तान मे बहुसंख्यक चक्कियो (Ring-stone) के साथ पाई गई हैं। वस्तुत मोहेजोदडो और हडप्पा मे तीन प्रकार के पूजा के पत्थर—(१) रक्षावीटिका[1] प्रतिमा (२) लिंग, और (३)

१. शरीर के साथ रक्षा-सूत्र, ताबीज या गंडे की तरह रखी जाने वाली नन्ही मूर्तियों से तात्पर्य है, जैसे शैव शिवलिंग और वैष्णव शालिग्राम पहनते हैं। मोहेंजोदडो मे भी इस प्रकार के शिवलिंग मिले हैं।

योनि के आकार की चकियाँ—पाये गए हैं। रक्षावीटिका या तावीज़ की भाँति प्रयुक्त इनके छोटे नमूने बडो की अपेक्षा, जो पूजे जाते थे, सख्या मे वहुत अधिक है। कुछ नमूने इतने छोटे हैं कि वे खेल के मुहरे-से लगते हैं।

उपलब्ध सामग्री से वृक्ष-पूजा के भी दो प्रकार ज्ञात होते हैं। एक वृक्ष के वास्तविक रूप मे उसकी पूजा, जैसा हडप्पा की कुछ मुहरो पर अकित है। दूसरे मे वृक्ष की पूजा न होकर उसके अधिदेवता की पूजा दिखाई गई है। मोहेजोदडो की एक उल्लेखनीय मुहर मे देवता की खडी नग्न मूर्ति है, जिसके दोनो ओर अश्वत्थ (पीपल) की, जो पीछे चलकर बुद्ध का बोधिवृक्ष प्रसिद्ध हुआ, दो शाखाएँ है। वृक्ष देवता की पूजा की सूचक एक पक्ति मे खडी हुई, पीठ पर लहराते हुए वालो से शोभित सात स्त्री-मूर्तियाँ हैं जो देवी की पुजारिन जान पडती है। इसी प्रकार वन्दन-मुद्रा मे झुकी हुई एक अन्य मूर्ति है, जिसके लम्बे वाल हैं और जिसके पीछे नर के चेहरे वाली वृप-छाग की मिलवाँ मूर्ति है, जो सम्भव है कि अश्वत्थ वृक्ष की देवी का वाहन हो। कुछ अन्य मुहरें भी है, जिनमे से एक पर एकशृग पशु के जुडवाँ मस्तको से एक वृक्ष अकुरित होता हुआ दिखाया गया है, एव हडप्पा से प्राप्त अन्य मुहरो पर देवी और उसके पुजारी के साथ-साथ छाग या अन्य सीगले पशु अकित हैं। यह धार्मिक परम्परा भरहुत (साँची) के शिल्प मे वृक्ष-देवता के रूप मे अकित यक्षियो मे पाई जाती है, किन्तु उनका दर्जा तत्कालीन देव-मण्डली मे घट्कर है।

मोहेजोदडो मे पशु-पूजा का प्रमाण भी मिलता है। ये पशु मुद्रा या मुहरो पर वनी हुई आकृतियो मे, या खिलौने, मोफयानी मिट्टी या पत्थर की बनी मूर्तियो मे मिले है। प्रथम कोटि मे कल्पनाजन्य मिश्रित आकृति के जन्तु है, जैसे ऊपर उल्लिखित मानव-मस्तक से युक्त अज-मूर्ति, अथवा वे पशु जिनका शरीर अज या मेढा, बैल और हाथी के अगो को मिलाने से बना है, तीन सिर वाला त्रिशिरा दानव, अथवा अर्धनर-अर्धवृप आकृति का जन्तु, जो एक सीगदार बाघ पर प्रहार कर रहा है (चौथी सहस्राब्दी के सुमेर के देवता इअबनी या इउकिदु से मिलता है), अथवा देवता और नागो के मस्तक पर सीगो के अलकार यही सूचित करते है। दूसरी कोटि मे वे जन्तु है, जिन्हे नितान्त काल्पनिक नही कहा जा सकता जैसे एक शृग और दो शृग वाले पशु, जिनके सामने धूपदानी-जैसी कोई वस्तु है, अथवा किसी प्रकार की पूजा करते हुए पशु। तीसरे वास्तविक पशुओ की मूर्तियाँ, जैसे (१) पानी मे पौडने वाला सामान्य भैसा, (२) गौर (यह वैदिक नाम था) या अरना भैसा, (३) ककुद्मान भारतीय बिजार या साँड, (४) गेंडा, (५) छोटे सीगो का बिना खुब्भ का नटिया बैल, (६) वाघ और (७) हाथी। उनमे से कुछ, विशेषत. बाघ, गेडा और अरना सामने रखी हुई नाँद या खोर मे से कुछ खाते हुए

दिखाये गए है, जो इस बात के सूचक है कि पूजनीय पशुओ के सामने बलि-भोजन दिया जाता था। अन्त मे कुछ अन्य पशु-पक्षियो के चित्र और मूर्तियाँ है जैसे मेढा, सुअर, कुत्ता, बन्दर, रीछ, खरगोश, गिलहरी, तोता एव अन्य चिडियाँ। इनमे से कुछ खिलौने थे और कुछ पूजन के लिए, जैसे तावीज की तरह काम मे आने के लिए मोफयानी मिट्टी के बने भेड और मेढे, एव गिलहरी और कुत्ते भी उसी ढग के हैं। इनमे से कुछ पशु अब भी देवताओ के वाहन माने जाते हैं, जैसे शिव का वृषभ, दुर्गा का सिंह, यम का महिष, अग्नि का मेष, इन्द्र का हाथी हनुमान रूप मे कपि अथवा गौरी का वन्य वराह।

स्नान के द्वारा शौच अथवा सस्कार-विधि मे अभिषेक इस धर्म का एक अग था। मोहेंजोदडो मे स्नान महाद्रोणी मिली है, जो प्राचीन काल के अन्य नगरो की अपेक्षा विशेष रूप रखती है। उसमे स्नान के प्रति इनका आस्था भाव ज्ञात होता है।

साराश—सिन्धु उपत्यका के धर्म के निम्नलिखित अग थे—(१) मातृदेवी या शक्ति की पूजा, (२) एक शिव के पूर्वरूपी पुरुषदेवता की पूजा, (३) निजी रूप मे, या आधे पशुरूप मे कल्पनाजनित रूपो मे पशुओ की पूजा, (४) वास्तविक वृक्षो अथवा उनकी अधिष्ठात्री वृक्ष-देवताओ की पूजा, (५) लिंग और योनि के प्रतीको की पूजा, (६) अर्थ-साधना (Chrematheism) जो कि पवित्र 'धूप-पात्रो' की पूजा मे प्रतिबिम्बित होती है, (७) रक्षावीटिका (तावीज) और गडो मे विश्वास, जो भूत-प्रेत की बाधा के भय को सूचित करते है, और (८) योग का अभ्यास। इन विशेषताओ से यह स्पष्ट है कि यह धर्म कुछ बाहरी अगो के होते हुए भी मुख्यत इसी धरती की उपज थी और हिन्दू-धर्म का पूर्वरूप ही था, जिसमे आज तक उपरोक्त कई विशेषताएँ पाई जाती है, जैसे शिव-शक्ति की पूजा, नाग, पशु, वृक्ष और पाषाण (स्थूण) की पूजा एव लिंग-योनि की प्रतीक-पूजा तथा योग।

मृतक व्यवस्था—सिन्धु सभ्यता के लोग अपने शव जलाते थे। यह बात उन भस्म रखने के बर्तनो से सूचित होती है, जिनमे मनुष्य की जली हुई हड्डियाँ या फूल और चिता की राख रखी मिली है एव जिनके साथ पितरो को दी हुई बलि-सहित छोटे-मोटे पात्र या परलोक मे पितरो के काम मे आने वाली कुछ सामग्री रखी हुई मिली है। ऐसे घडे भी मिले है जिनमे बलि देने की कुल्हिया या हड्डियाँ और मृतकोपयोगी अन्य वस्तुएँ रखी मिली है, किन्तु आस्थ या फूल नही मिले, जिसका कारण सम्भवत यह था कि दाह के बाद चिता मे से फूल चुनकर उसका चूरा करके उसे प्रवाहित कर देते या छितरा देते थे, जैसे पजाब मे अभी तक होता है। श्री आरेल स्टाइन को बिलोचिस्तान के भिन्न-भिन्न स्थानो मे इस प्रकार के

अनेक भस्मीपात्र या समाधि के बरतन मिले थे। सर्वाङ्ग निखात अथवा आंशिक (शव को पशु-पक्षियों के भक्षणार्थ उघाड़ा रखकर बची-खुची हड्डियाँ एकत्र कर गाड़ने के) रूप में शव निखात या मृतकों के गाड़ने के उदाहरण बहुत कम हैं। सर्वाङ्ग निखात के रूप में इक्कीस कंकाल मोहेंजोदड़ो में मिले हैं, मात्र सार्वजनिक आवागमन के स्थान में और शेष एक कमरे में, जिनमें तीन प्रकार की मानव नस्लों की आकृतियाँ हैं—आदिम निषाद वंशी (Proto-Australoid), द्राविड़ वंशी (Mediterranean) और आर्य-वंशी (Alpine)। शवों के प्राप्त प्रस्तरों से ज्ञात होता है कि वे मोहेंजोदड़ो के अन्तिम ह्रास के युग में गाड़े गए थे। हड़प्पा और बिलोचिस्तान में भी सर्वाङ्गी शव-निखात के सूचक कंकाल मिले हैं, किन्तु वे बाद के हैं।

विस्तार—मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा में मिली हुई प्राचीन वस्तुओं से एक ऐसी समान और व्यापक संस्कृति का पता लगता है जिसकी जड़ें सिन्धु और पंजाब में दूर तक फैली हुई थीं। इन प्रदेशों में और भी बहुत से ताम्र-युग के प्राचीन स्थल पाये गए हैं। सिन्ध में अधिकतर रोड़ी और खीरथर की पहाड़ियों में ताम्र-युग से प्राचीनतर नवपाषाण-युग की सभ्यता के प्रमाण पाये गए हैं, जैसे पत्थर के औजार, चकमक की कतरनें (Flint-flakes) और खंड (Cores) एवं निखात शवों के ऊपर बनाये गए मिट्टी के थूहे या स्तूप (Burrow)[1] और पत्थर के स्थाणु (Cairns) या पत्थर के खड़े-पड़े चीरे।

प्रारम्भ और सम्बन्ध—सिन्धु-उपत्यका की यह सभ्यता एक बृहत्तर हलचल की हिलोर थी, जिससे ताम्र-युग में समान प्राचीन सभ्यताओं का पश्चिमी एशिया और ईराक से लगाकर उत्तरी अफ्रीका तक विकास हुआ था और वहाँ की महान् नदियाँ इनकी धात्री बनी थीं, जैसे मिस्र में नील नदी, ईराक के नदीमातृक देश में उफ़ातु और तिग्रा नदी (Tigres, वर्तमान दजला का नाम बाबेरु की भाषा में दिजलत और प्राचीन ईरान में तिग्रा था), पश्चिमी ईरान में कारूँ और करखेह (कर्का नदी), जिसके काँठे में प्राचीन कर्क जाति रहती थी, और पश्चिमी अफगानिस्तान के सीस्तान (प्राचीन शकस्थान) की हेलमन्द (सेतुमन्त) नदी। अतएव इसमें आश्चर्य नहीं यदि सिन्ध (यह इस प्रदेश का वर्तमान नाम है, इसका प्राचीन नाम सौवीर था) और पंजाब की अधिक समृद्ध और विस्तृत नदी-द्रोणियों में भी इस प्राचीन सभ्यता ने अपने केन्द्र बनाए थे, अथवा आगे की

---

१. Burrow=tila, पुरातत्त्व-शास्त्र में शव के ऊपर बना हुआ थूहा। इसका प्राचीन अंग्रेजी में रूप था beorg। तुलना कीजिए जर्मन भाषा का berg =पहाड़; प्राचीन तिऊतन (bergoz); आर्य भेर्घ (bhergh)=ऊँचाई।

खोज मे गगा-यमुना तक भी इसके प्रकार के चिह्न मिल जाएँ।

इन कई संस्कृतियो की निजी विशेषताएँ है। साथ ही एक-दूसरे से मिलते हुए लक्षण भी है। उदाहरण के लिए प्रत्येक देश मे अपनी भाषा लिखने के लिए अपने-अपने सकेत बने थे। मिस्र देश की चित्रलिपि क्रीट की लिपि से, क्रीट की सुमेर से, सुमेर की एलम से भिन्न है, एव अन्यत्र भी। परन्तु लिपियाँ भिन्न होते हुए भी उनमे एक समानता है। वे वस्तुओ और भावो के सूचक चित्रार्थों का ही प्रयोग नही करती वरन् वास्तविक ध्वनियो की वर्णमाला की तरह भी उनका प्रयोग करती है। ऐसे ही कातने और बुनने की बात है। सिन्धु उपत्यका मे रुई और नील के तट पर सन काम मे लाते थे, किन्तु बुनने और कातने की कला, जो तत्कालीन सभ्य ससार की समान सम्पत्ति थी, दोनो जगह ज्ञात थी। यही बात चित्रित किये हुए बरतनो के बारे मे भी है। प्रत्येक प्रदेश के कुम्हारो के बरतनो की आकृति और अकन निजी थे, किन्तु कुम्हार का चाक और आवे मे बरतनो को पकाने और पक्का रङ्ग देने की क्रिया सबको विदित थी। औरो के साथ विचार और क्रियाओ की इस समानता के होते हुए भी सिन्धु सभ्यता का उसी प्रकार निजी व्यक्तित्व और राष्ट्रीय विशेषता है जैसे उसकी समकालीन अन्य महती नदी-मातृक सभ्यताओ की थी।

सिन्धु-संस्कृति के विशिष्ट भारतीय लक्षण, (जिनका उल्लेख अभी हो चुका है, सक्षेप मे ये है—वस्त्रो के लिए रुई का प्रयोग, जो पश्चिम के अन्य देशो को दो-तीन सहस्र वर्ष बाद भी ज्ञात नही था, (२) नागरिक जीवन और सुख सुविधाओ की ऊँची स्थिति, जैसा कि साधारण पुरवासियो के काम मे आने वाले आरामदेह घर, स्नान-प्रबन्ध, कुएँ और पानी के निकास की मोरियो से ज्ञात होता है। जो बात प्राग्-ऐतिहासिक मिस्र या पश्चिमी एशिया के अन्य किसी भी देश मे न थी, जहाँ की वास्तविक कला मे आलीशान महल, मन्दिर और समाधियाँ तो थी, किन्तु थोडी पूँजी वाले मनुष्य या सर्वसाधारण के वास-स्थानो पर अधिक ध्यान नही दिया गया था, (३) तक्षण-कला मे विशेष उन्नति, जैसा कि सोफ-यानी मिट्टी की ढली वस्तुओ से, या पत्थर की मुहरो मे खुदे हुए [illegible] आदि पशुओ से, या ऊपर उल्लिखित मानवी मूर्तियो की अत्यन्त सुन्दर और मृदुल अङ्ग-प्रत्यङ्ग की रचना मे विदित है, और (४) धर्म, जिसमे स्पष्ट ही अर्वाचीन हिन्दू-धर्म की कितनी ही बातो के पूर्वरूप, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, पाए जाते है।)

काल—सिन्धु-सभ्यता के काल का अनुमान उपरिनिर्दिष्ट उन समानताओ से अनुमानित होता है जो उसमे और प्राचीन काल की अन्य सस्कृतियो मे, जिनका समय ज्ञात है, पाई जाती है, जैसे इतिहास के उषाकाल की सुमेर सभ्यता, एव उसके बाद की जल-प्लावन से पूर्व की एलम (शूषा) और ईराक (तिग्रा-उफ्रातु)

की सभ्यताएँ। सिन्धु, एलम और ईराक की खुदाई मे प्राप्त कई प्रकार की वस्तुओ मे जो-कुछ विशेष समानताएँ देखी जाती है उन्हे यो ही कहकर नही टाला जा सकता, अवश्य ही ईसा-पूर्व चौथी सहस्राब्दी के अन्त तक इन प्रदेशो के बीच मे प्रचलित पारस्परिक सम्पक का ही वे फल हो सकती हैं।

इनमे सबसे महत्त्वपूर्ण पाँच मुहरें है, जिन पर 'सिन्धु की छाप' (लिपि और ककुद्मान वृष) असदिग्ध है, और जो एलम और ईराक के प्राचीन स्थानो मे मिली थी। इनमे से उर और किश से प्राप्त दो मुहरें निश्चयपूर्वक पूर्व-सारगन-युग अर्थात् २८०० ई० पू० से पहले की हैं, यद्यपि मोहेजोदडो मे ऐसी मुहरे और भी प्राचीन स्तरो मे प्राप्त हुई हैं। मोहेजोदडो के अवशेषो के सात भिन्न स्तरो मे प्रत्येक के लिए ५०० वर्षो का भी समय माना जाए, क्योकि बार-बार बाढो के आने से वहाँ पुरानी वस्तुओ का ध्वस और नई का निर्माण बहुत शीघ्रता से हुआ, तो सिन्धु की सभ्यता का समय ३,२५०-२,७५० ई० पू० मे उचित रूप से रखा जा सकता है, यद्यपि उसका मूल विकास और पूर्व इतिहास और भी पहले ले जाना होगा।

मुहरो के अतिरिक्त और भी कई प्रकार की वस्तुएँ और पदार्थ इन सभ्यताओ के आपसी घनिष्ठ सम्पर्कों को सूचित करते है। इनमे से उल्लेखनीय ये हैं—(१) अल्-उबैद से प्राप्त भारतीय सेलखडी के बरतनो के कुछ टुकडे, (२) उपर्युक्त योगी की मूर्ति के वस्त्र पर तिफुलिया अलकरण, जो सुमेर का समझा जाता है, (३) मुहरो पर शृङ्गवान् आकृतियाँ, जिनकी पहचान सुमेर के वीर-देवता (Hero-god) इअबनी से की जाती है, (४) पच्चीकारी के काम की हकीक (Carnelian) की गुरियाँ, जिनकी निर्माण-विधि ठीक पूर्व-सारगन-युग की समाधियो मे किश से मिली हुई गुरियो जैसी है, (५) बरतन, धूपदानी और तोलने के पत्थर के बट्टो आदि के प्रकार और आकार, एव इसी तरह की अन्य बाते भी।[1] श्री अर्नेस्ट मैके के अनुसार मोहेजोदडो के रेखाकित बरतन उनकी अलकरण-शैली के आधार पर शूषा-एक युग (लगभग ४,२५० ई० पू०) अथवा शूषा-दो (लगभग ४,००० ई० पू०) बाद के युग के होने चाहिएँ, अर्थात् ३,२५०-२,७५० ई० पू०

---

१ लन्दन की राजकीय प्राच्य पत्रिका, १६३१, पृ० ५६३-६ मे एक लेखक ने भारत और ईराक के बीच सम्पर्क के तीन सूत्र बताए हैं—लिपि, चित्रित बरतन और चौकोर ईंटें। भारतीय लिपि का तो आरम्भ मे ही सुमेर लिपि के सामने परित्याग कर दिया गया था। ३,५०० ई० पू० के बाद भारतीय प्रकार की चौकोर ईंटें भी हट जाती हैं और उनका स्थान बीच मे उभरी ईंटें ले लेती हैं।

के लगभग समय के, जिस काल के बिलोचिस्तान मे श्री आरेलस्टाइन को प्राप्त हुए रेखाकित वरतन भी है।

हाल मे (१९३२) श्री वूली ने उर स्थान मे एक समाधि की खुदाई करते हुए एक अन्य भारतीय मुहर उस स्तर से प्राप्त की है जिसे वे द्वितीय राजवश और २,८०० ई० पू० के लगभग की वताते है, पर उसके समय और महत्त्व के वारे मे उन्हे खुद सन्देह है, क्योकि वह अकेली एक कब्र मे भराव की मिट्टी मे पाई गई थी। ऊपर वर्णित पाँच मुहरो के विपय मे भी तिथि-क्रम सम्बन्धी इसी प्रकार की अनिश्चितता है।

किन्तु हमारे पास अपेक्षाकृत अधिक पुष्ट आधार उस सामग्री के रूप मे है, जो शिकागो प्राच्य सस्थान के द्वारा प्रेपित ईराक मे काम करने वाले विद्वन्मण्डल (Iraq expedition) को वगदाद के समीप रेगिस्तान मे स्थित टेल्ल असमर (प्राचीन एशनुन्न) की खुदाई मे निश्चित स्तरो से प्राप्त हुई। इस स्थान मे धरती के ऊपर ही अक्कद् देश के सम्राट् सारगन (लगभग २,५०० ई० पू०) के समय की गोल लम्बी मुहरें, वरतन और लेखयुक्त मिट्टी के ठीकरे प्राप्त हुए एव एक मुहर मे तो उसी वश के अन्तिम राजा षु-दुर-उल का नाम भी मिला। इसी सामग्री मे निश्चितरूपेण भारतीय वस्तुएँ भी प्राप्त हुईं, जिनके सिन्धु-उपत्यका से यहाँ लाए जाने मे कोई सन्देह नही रहता और इस प्रकार सिन्धु सभ्यता का भी सशयरहित काल ज्ञात हो जाता है। पशुओ से अकित एक मुहर ऐसी मिली जिस पर हाथी और गेंडे के चित्र है, जो वावेरु देश (वेबीलोनिया देश) मे नही पाए जाते। इनके चित्रो की शैली मे भी सिन्धु-शैली की छाप है—विशेपत हाथी के पैर, कान और त्वचा के दोहरे पर्त की एव मेंढे के कानो के अकन की विशेष रीति मे। इससे कोई सन्देह नही रहता कि यह मुहर सिन्धु की उपत्यका से लाई गई थी और २,५०० ई० पू० के लगभग एशनुन्न मे आ चुकी थी। इस स्थान से प्राप्त ऐसी ही अन्य भारतीय वस्तुएँ ये है—छापने की चौकोर मुहरे, जिनके पीछे पकडने का सूराखदार टुनटुना वना है और चितदांव एक के भीतर एक चौक वने है, जो बनावट मोहेंजोदडो मे सामान्यत मिलती है, पर मेसोपोटामिया मे नहीं पाई जाती, हकीक की खचित गुरियाँ (जिन पर पच्चीकारी का काम है), जो निश्चित रूप से भारतीय होते हुए अक्कदी गुरियो के साथ मिली-जुली पाई गई है, अथवा पच्चीकारी के खाँचो मे वैठाने के लिए हड्डी के छोटे-छोटे पत्रे, जिनकी आकृति वृत्त-जैसी गोलाई लिये है और जो मोहेंजोदडो से प्राप्त शङ्ख के वने हुए इसी प्रकार के खचित पत्रो से यथावत् मिलते है, पर वे मेसोपोटामिया के नही हैं।

वगदाद की इस खुदाई के स्थान मे पाँच क्रमिक स्तर निकले है, अर्थात् (१) लारसायुग (२,१,८६-१,९३१ ई० पू०), (२) प्राक्-सारगनयुग, जो आक्रमण-

कारी पर्वतीय जातियो से सम्बन्धित है, (३) और (४) सारगनयुग, जिसकी मुहरें और अभिलिखित मिट्टी के ठीकरे मिले हैं, और (५) प्राचीनतम युग, जिसमे उर की समाधियो के समकालीन घर मिले है जो बीच मे उभरी हुई ईंटो से बने है। इस प्रकार श्री वूली के कथनानुसार उर से प्राप्त सामग्री बगदाद की सामग्री से एक सहस्र वर्ष अधिक पुरानी है, अर्थात् लगभग ३,५०० ई० पू० की है। इस तरह बावेरू मिस्र से भी अधिक पुराना ठहरता है, जहाँ प्राचीनतम राजवश का समय तीन हजार ईस्वी पूर्व से पहले का नही है। इस मत से तो सिन्धु-सभ्यता का समय और भी पीछे ले जाना पडेगा।

अन्तत यह ध्यान देने योग्य है कि एशनुन्न मे सारगन-कालीन घरो से प्राप्त वस्तुएँ (जैसा कि लेखो मे मिश्रित उल्लेख है) मोहेजोदडो की सामग्री मे वैसी गहरी समता नही रखती जैसी कि पहले कही हुई छह मुहरे। इस अन्तर के पीछे भौगोलिक या तिथि-क्रम सम्बन्धी कारण हो सकते है। बगदाद की मुहरें सिन्धु-सभ्यता के मोहेजोदडो-युग से बाद की या पहले की हो सकती है अथवा वे सिन्धु-सभ्यता के अन्य किसी केन्द्र से बगदाद ले जाई गई होगी। सम्भवत दूसरा पक्ष अधिक सत्य है। जो भी हो, यह तो स्पष्ट ही है कि मोहेजोदडो मे गोचर सभ्यता प्राचीन सिन्धु-सभ्यता का एकमात्र अथवा सबसे प्राचीन उदाहरण नही है, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है (ईराक-उत्खनन की खुदाई के अध्यक्ष डॉ० एच० फ्रेकफोर्ट का ५ मार्च सन् १९३१ को प्रकाशित पत्र)।

निर्माता—इस सभ्यता के निर्माता कौन थे? मोहेजोदडो मे प्राप्त नर-ककालो से चार नस्लो का प्रमाण मिलता है, अर्थात् आद्य-निषाद,[१] भूमध्यसागर से सम्बन्धित जन[२], मगोल और अल्पाइन[३]। आद्य-निषाद जाति के लोग (Proto-Australoids) भारतीय महाद्वीप के निवासी थे, भूमध्यसागरीय नस्ल के लोग एशिया के दक्षिणी भागो से आये, अल्पाइन पश्चिमी एशिया से, मगोल-किरात वश के पूर्वी एशिया से। इस प्रकार सिन्धु की जनता उस पूर्व युग मे भी नानादिग्-देशागत थी। नर कपालो से प्राप्त साक्षी का समर्थन मूर्तियो से भी होता है। मोहेजोदडो से प्राप्त पत्थर की मूर्तियाँ कई नस्लो के सम्मिश्रण का सकेत करती हैं, पर इस प्रकार के प्रमाण मे बहुत सावधानी की आवश्यकता है। शिल्पी या कलाकार नृविशेषज्ञ तो थे नही जो मूल मस्तको की सच्ची प्रतिकृति बनाते। प्राप्त कपालो की सख्या भी इतनी कम है कि उससे मोहेजोदडो की जनसख्या मे प्राप्त

---

१. जिनके वर्तमान वशज कोल, भील आदि है।

२. वर्तमानकालीन लम्बे कपाल वाले हिन्दुस्तानियो मे प्राप्त।

३. चौडे सिर वाले गुजराती, मराठी, बगालो आदि जातियो मे निविष्ट।

विविध जातियो का नि शक अनुमान नही निकाला जा सकता। हडप्पा से प्राप्त मस्तको की सख्या कम ही है। और उसमे भी विशेषज्ञो द्वारा केवल तीन जाने गए है। दोनो स्थानो मे प्राप्त अस्थि-पजरो की सामग्री बहुत ही थोडी है।

दूसरा प्रश्न जो उठाया जा सकता है वह यह है—क्या सिन्धु के निवासी द्रविड थे ? यह इसलिए, क्योकि जिन सुमेर के लोगो के साथ सिन्धुवासियो का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध था, वे भी उस नृवश के माने जाते है जिसके द्रविड है। बिलोचिस्तान की ब्राहुई भाषा बताती है कि अत्यन्त प्राचीन काल मे द्रविड लोग उत्तर के उन प्रदेशो मे थे। इस प्रश्न मे कठिनाई यह है कि सुमेर और द्रविड इन दोनो जातियो की निश्चित परिभाषा दुष्कर है, क्योकि वे स्वय मिलावट से बने है। यदि द्रविडो को पश्चिम से आए आक्रमणकारियो के रूप मे मान लिया जाए तो भी उनका मूल नृवश भारतीय निषाद जाति के साथ अन्तर्विवाह के कारण घुल-मिलकर परिवर्तित हो गया। यदि उन्हे भारत का ही मूल निवासी माना जाए, तो वे स्वय आदिवासी निषाद वर्ग के ठहरते है, जो पीछे चलकर स्वाभाविक विकासक्रम से एव बाहरी तत्त्वो की मिलावट से द्रविड हो गए। दोनो ही अवस्थाओ मे, चाहे वे पश्चिम से पूर्व या पूर्व से पश्चिम गये हो, मोहेजोदडो से प्राप्त थोडे-से नर-ककालो की पहचान से, न उन्हे द्रविड कह सकते है न सुमेरवासी।

वैदिक सभ्यता के साथ सिन्धु-सभ्यता के मिले हुए सूत्र—अन्त मे, प्रश्न यह है कि सिन्धु के निवासी और उनकी सस्कृति का ज्ञान ऋग्वेद मे पाया जाता है या नही। अर्थात् सिन्धु सस्कृति वैदिक सस्कृति से पहले की है या पीछे की एव उसकी पूर्वज है या वशज ?

ऋग्वेदकालीन भारतवर्ष की समीक्षा हम आगे करेगे। ऋग्वेद की सामग्री के सम्यक् पर्यालोचन से यह ज्ञात होगा कि उसमे जो अनार्य लोगो और उनकी सभ्यता के उद्धरण है, वे सिन्धु के निवासी जनो पर लागू हो सकते है। जैसा आगे चलकर बताया जाएगा, ऋग्वेद की प्राचीनता पन्द्रह शताब्दी ईस्वी पूर्व के उन लेखो से सिद्ध होती है, जो खत्ती जाति की राजधानी बोगज कुई से मिले है, और जिसमे ऋग्वैदिक देवताओ के विशेष नाम है, जिससे सिद्ध होता कि ऋग्वेद का जन्म इतने पूर्व काल मे हुआ था कि उसकी सस्कृति भारत से मेसोपोटामिया तक उस प्राचीन समय मे भी पहुँच गई थी। यदि छठी शती ई० पू० के लगभग बौद्ध धर्म के उदय से पहले सस्कृत भाषा और साहित्य के विकास पर सही दृष्टिकोण से विचार किया जाए तो हम ऋग्वेद को २,५०० ई० पू० के बाद नही रख सकते, जबकि उसके रूप का अन्तिम सम्पादन हो चुका था। तिथिक्रम-सम्बन्धी इन समस्याओ को ध्यान मे रखते हुए आचार्य लैंडन ने यह परिणाम निकाला

था कि 'यह बहुत अधिक सम्भव है कि भारतीय आर्य ही इडो-जर्मन जाति के सबसे प्राचीन प्रतिनिधि है।' अपने मत के समर्थन मे उनका यह विश्वास है कि ब्राह्मी लिपि सिन्धु लिपि से ही निकली है।

अनार्य अथवा भारतीय आदिम निवासियो के बारे मे भी ऋग्वेद मे बहुत-सी सामग्री है। आर्येतरो को उसमे दास, दस्यु या असुर कहा गया है। एक मत्र मे रतमुहे (पिशग), पिशाच और राक्षसो का उल्लेख है, जो भीषण शब्द निकालते और युद्ध के समय हल्ला करते थे। इसमे अनार्य वीरो और जनो का भी उल्लेख है (अग्रिम अवतरण देखिए)। इसमे अनार्य सभ्यता की कुछ सार्थक विशेषताओ का उल्लेख है जो सिन्धु-सभ्यता की सूचक और उसके सदृश है। उदाहरण के लिए आर्येतर लोगो को अपरिचित भाषा मे बोलने वाला (मृद्ध्रवाक्), वैदिक कर्मो से रहित (अकर्मन्), वैदिक देवो के न मानने वाले (अदेवयु), श्रद्धा और धार्मिक विश्वास से रहित (अब्रह्मन्), यज्ञो से शून्य (अयज्वन्), एव व्रतो से रहित (अव्रत) कहा गया है। वे केवल अपने नियमो का पालन करने वाले (अन्यव्रत) थे। इन नकारात्मक सकेतो के अतिरिक्त एक निश्चयात्मक सूचना अनार्यों के विषय मे दी गई है कि वे लिंग-पूजक थे (शिश्नदेवा, ऋ० ७।२१।५, १०।९९।३)।

अनार्य सस्कृति के इस ऋग्वैदिक वर्णन मे ऐसी कोई बात नही है जो सिन्धु-सस्कृति के उलटी पडती हो। हम ऊपर देख चुके हैं कि सिन्धु-निवासियो के धार्मिक आचार मे लिग-पूजा का विशेष स्थान था, जबकि उनकी भाषा, जो अब तक पढी और समझी नही जा सकी है, सस्कृति से बिलकुल भिन्न थी, जैसा ऋग्वेद मे लिखा है।

आर्येतर सभ्यता के वास्तविक स्वरूप के विषय मे यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद मे नगर और पुर, पृथिवी और उर्वी अर्थात् लम्बी-चौडी धरती, जो गायो से भरी हुई होती थी (गोमती), सौ खम्भो वाले (शतभुजी), पत्थरो से बने हुए (अश्ममयी) और शरद ऋतु मे काम आने वाले (शारदी) दुर्गात्मक नगरो का वर्णन है, जिनमे लोग नदियो की बाढ से आत्म-रक्षा करते थे। एक आर्येतर देश के सौ पुरो का भी इसमे उल्लेख है। वैदिक देव इन्द्र को भी यहाँ पुरन्दर 'पुरो का भेदन करने वाला' कहा गया है। क्या इन सब उल्लेखो का मेल सिन्धु-उपत्यका की नगर-प्रधान सभ्यता से मिलता हुआ नही दीखता? ऋग्वेद मे एक व्यापारी जाति का वर्णन है जिसे पणि कहा गया है, एव तुर्वशु और यदु नाम के जनो को समुद्र पार का कहा गया है।

मोहेंजोदडो से प्राप्त कुछ नर-कपाल आदिम जाति के, जिसे ऋग्वेद मे अनास

अथवा चपटी नाक वाली और कृष्ण-वर्ण अथवा काले-कलूटे रग वाली कहा गया है, प्रतीत होते है।

अधिकाश पशु, जो सिन्ध के लोगो को ज्ञात थे, ऋग्वेद मे भी मिलते है, जैसे भेड, बकरी, कुत्ता, बैल (४।१५।६, ८।२२।२, ७।५५।३) । ऋग्वैदिक मनुष्य मृग (१०।३६।८), वराह (१०।८६।४), गौर (जगली भैसा, १०।५१।६), सिह (१०।२८।१०) और हाथी (८।२।६), इन पशुओ से शिकार के लिए परिचित थे और ये ही सिन्धु-उपत्यका मे भी ज्ञात थे। केवल घोडे ऋग्वैदिक भारत मे पाले जाते थे, सिन्धु-उपत्यका मे नही।

धातुओ मे ऋग्वेद मे सोने (हिरण्य) के (१।१२२।२) गहनो का वर्णन है। ये आभूषण कान के कुण्डल (कर्ण-शोभन, ७।७८।३), कठे (निष्क ग्रीव, २।३३।१०), नूपुर (खादि, १।१६६।६ और ५।५४।११) और हार (रुक्मवक्ष) और गले मे मणियाँ (मणिग्रीव, १।१२२।१४) थे। इनमे से अधिकाश आभूषण मोहे-जोदडो के पुरवासी भी पहनते थे।

सोने के अतिरिक्त ऋग्वेद मे एक अयस नामक दूसरी धातु का भी वर्णन है, जिसके वर्तन वनते थे (अयस्मय, ५।३०।१५) इस धातु को ठठते या पीटकर वढाते भी थे (अयोहत, ६।१।२)। सम्भवत ऋग्वेद मे अयस् का अर्थ ताँबा है। अथर्ववेद मे वाद मे लोहे को 'श्याम अयस्' कहा गया है और ताँवे को लाल (लोहित) अयस् (११।३।१।७) कहकर भिन्न माना गया। ऋग्वेद मे पत्थर के कुछ हथियारो का भी उल्लेख है, जैसे अश्मचक्र या पत्थर की गरारी (१०।१०१।७), अद्रि (१।५१।३), अथवा अशनि या पत्थर के गुल्ले (६।६।५)।

सिन्धु उपत्यका मे अज्ञात कई प्रकार के कवचो का वर्णन ऋग्वेद मे आता है, जैसे वर्म (६।७५।१), वह कवच या बख्तर जो धातु के तवो को सीकर (स्यूत) वनाया जाता था (१।३५।१५) और शरीर पर कसा हुआ रहता था, अथवा अयस् (४।३७।४) या सोने (हिरण्य, २।३४।३) का बना हुआ शिप्र (५।५४।११)। ऋग्वेद मे स्त्री-पुरुषो के केश-सस्कार के समतुल्य ही मोहेजोदडो मे भी वालो मे कघी करके तेल डालने की प्रथा थी। स्त्रियाँ वालो की पटियाँ काढती थी। एक युवती को चतुष्कपर्दा (ऋग्वेद, १०।११४।३) अर्थात् चार जूडे वाली कहा गया है। पुरुष भी अपने केशो का कभी-कभी जूडा बाँधते थे, या सिर पर सामने की ओर सोने का पात या सिंगारपट्ट पहनते थे (ओपश, १।१७३।६)। वसिष्ठो को दाहिनी ओर जूडा बाँधने वाला बताया गया है (७।३३।१)। पुरुष दाढी (श्मश्रु, २।११।१७) भी रखते थे।

सिन्धु-सभ्यता की अद्वितीय विशेषता अर्थात् रुई से वस्त्र बुनने की कला ऋग्वेदकालीन भारतवर्ष मे भी एक सुपरिचित उद्योग है। ऋग्वेद मे बुनकर को

वाय (१०।२६।६), करघे को वेमन्[1], चरखी को तसर (१०।१३०।२) ताने को ओतु (१०।१३०।२), बाने को तन्तु (६।२।६), ताना पूरने के खूंटो को मयू (१०।१३०।२) कहा गया है।

ऋग्वेद की इस सामग्री का उल्लेख यह बताने के लिए नही किया गया है कि ऋग्वैदिक-सभ्यता सिन्धु-सभ्यता की पूर्वगामिनी या उत्तराधिकारिणी थी। हमारा अभिप्राय केवल यह दिखाने का है कि जिन भौगोलिक और ऐतिहासिक परिस्थितियो मे ऋग्वेद की रचना हुई (जिनका आगे वर्णन किया जाएगा) उनमे आर्येतर लोगो की सस्कृति और जीवन-परिस्थितियो से आर्यों का परिचित हो जाना स्वाभाविक था, जिनमे से कुछ का उल्लेख ऋग्वेद मे आ गया है और जो मोहेजोदडो से प्राप्त सामग्री से मिलता है। तात्पर्य यह है कि ऋग्वेद के आर्येतर वे लोग हो सकते हैं जिन्होने सिन्धु-सभ्यता का निर्माण किया। इस अनुमान का मेल इस सर्व-स्वीकृत मत से भी ठीक बैठता है कि ऋग्वेद का काल २,५०० ई० पू० के बाद का नही है तथा वह सिन्धु उपत्यका के प्राथमिक इतिहास के लगभग समकालीन ठहरता है।[2]

प्राग्-ऐतिहासिक मानव—अब हमे ऊपर-तले की इन प्राग्-ऐतिहासिक सस्कृतियो का सम्बन्ध उन मानव-जातियो के साथ यथासम्भव लगाकर देखना चाहिए जो इनके जन्मदाता थे। यह पुरातत्त्व का नृतत्त्व मे सम्बन्ध मिलाना हुआ। मानव-जातियो, उनके मूल, जन्म और सम्बन्धो की छानबीन शारीरिक, भाषा-सम्बन्धी एव सास्कृतिक विशेषताओ पर निर्भर है। इस प्रकार का अध्ययन एक विशेष अतिरिक्त ग्रन्थ के सिवाय नही हो सकता।

कपाल-सम्बन्धी सामग्री—मानव-जातियो के अध्ययन के लिए प्राग्-ऐतिहासिक कपालो की सामग्री भारतवर्ष मे अभी थोडी ही है। केवल कुछ ही जगह यह मिली है—आदिचनल्लूर और दक्षिण भारत मे कुछ स्थान, स्यालकोट, भरतपुर के पास बयाना, बलूचिस्तान मे नाल और मोहेजोदडो। बस भारतीय प्राग्-ऐतिहासिक कपाल-विद्या का क्षेत्र इतने ही मे समाप्त हो जाता है। इन स्थानो मे मिले हुए नर-कपाल विभिन्न प्रकार के है, आद्य आग्नेय कुल, भूमध्यसागरीय कुल, पर्वतीय कुल अथवा लम्बी कपाली[3] और नाटी कपाली के। इससे ज्ञात

---

१ यह प्रमाण मूल ऋग्वेद मे नही, यजुर्वेद—१६।८३ मे है। —अनुवादक।

२. देखिए सर जॉन मार्शल और दूसरे लेखको की पुस्तक—'मोहेजोदडो और सिन्धु सभ्यता', ३ जिल्दो मे।

३. अग्रेजी Dolicho-Cephalic—वे कपाल जिनकी चौडाई लम्बाई के $\frac{4}{5}$ से कम हो। हिन्दी लम्बा कपाल—यह शब्द सस्कृत साहित्य मे प्रयुक्त

होता है कि मोहेंजोदडो की जनता मे सब लोग समान मानव-कुल के नही थे, किन्तु मिली-जुली आबादी थी।

यह भी मानना पडता है कि भारत के सबसे पहले के निवासियो मे लम्बी कपाली और नाटी कपाली, दोनो प्रकार के लोग थे, जैसा उपलब्ध नर-कपालो से ज्ञात होता है।

मानव-कपाल की इन दो रूपो मे भिन्नता पहले-पहल उन बानर या वन-मानुषो के वश मे मिलती है जिनसे मनुष्य का विकास हुआ। पुरखा कुल का आकार नाटी कपाली का था और कपाल का लम्बा रूप बाद मे विकसित हुआ। यद्यपि शुरू से ही कुछ अनुपात ऐसे लोगो का भी था जो लम्बी कपाली के थे।

हब्शी (Negrito)—भारत मे सबसे पहले बसने वाले मनुष्य कृष्णदेह और नाटे हब्शी जाति के थे, जिनमे से बचे हुए कुछ लोग आज भी अण्डमन द्वीप मे रहते है, और शायद सुदूर दक्षिण भारत के छोर पर रहने वाली कडार और उरली जातियाँ भी इनमे से हैं, जिनका कद नाटा और बाल घुंघराले है। इस श्यामाङ्ग नाटी जाति ने धनुष का आविष्कार किया। यही सस्कृति को उनकी देन थी।

आदिम आग्नेय या निषाद वशी लोग (Proto-Australoids)—नाटे श्यामाङ्ग लोगो के बाद एक लम्बी कपाली वाला दूसरी जाति आई जिन्हे आदिम आग्नेय-वशी अथवा आदिम निषाद जाति कहा गया है। अब उनका मूल निवास फिलस्तीन मे माना जाता है, न कि पूर्वी द्वीपसमूह या आस्ट्रेलिया मे जैसा कि अब तक समझा जाता था। ये आदिम आग्नेय-वशी लोग ही भारतवर्ष के सच्चे आदिवासी हैं, क्योकि उनकी सूरत-शक्ल और विशेषताओ से युक्त मानव

हुआ है। मानव-जातियो के वर्गीकरण के लिए दो मुख्य आधार-भाव हैं। पहला, कपाल की नाप (Cephalic Index), अर्थात् कपाल की अधिकतम चौडाई (एक कान के ऊपर से दूसरे कान के ऊपर तक की नाप) का उसकी अधिकतम लम्बाई (ललाट की शिरोरेखा से सिर की गुद्दी तक के नाप) से अनुपात। यह नाप ७५ प्रतिशत या उससे कम हो तो लम्बी कपाली और उससे ऊपर हो तो नाटी कपाली मानी जाती है। दूसरा नासिका-सम्बन्धी नाप (Nasal Index), अर्थात् नाक की चौडाई का उसकी ऊँचाई से अनुपात। पतली नाक वाली (तुगनासिक—Leptorrhine) चेहरे के नक्शा मे यह अनुपात ७० प्रतिशत से कम और चपटी नाक वाले (पृथुनासिक—Platyrrhine) नक्श मे ८५ से १०० प्रतिशत होता है।

का नमूना ही भारतवर्ष मे आगे चलकर स्थिर हो गया, यद्यपि इस देश मे वे लोग बहुत पहले पश्चिम से आये थे। इनकी सूरत-शक्ल की छाप सबसे शुद्धरूप मे वेद्दा लोगो मे मिलती है। भारतवर्ष मे सबसे ऊँची जातियो को छोडकर अन्य दूसरी जातियो मे जो चौडी नाक और काला रग मिलता है, वह इसी मूलभूत जातीय तत्त्व से आया है।

कृष्णद्वीपीय जातियाँ—नाटे हब्शी और आदिम निषादीय जाति-तत्त्वो के सम्मिश्रण से विकसित होकर जो नया स्थिर जाति-तत्त्व निर्मित हुआ वह कृष्ण-द्वीपीय (Melanesian)[1] कहलाता है। इस सूरत-शक्ल के लोग आसाम और वर्मा के बीच के पहाडी इलाके मे, निकोबार द्वीप मे और मलाबार समुद्री तट पर पाए जाते है। इनकी सस्कृति के कुछ विशेष चिह्न है, जैसे मृत व्यक्ति के शव को खुले मे छोड देना और छोटी-छोटी डोगियो को देवता मानकर उनकी पूजा करना। लेकिन इस जाति के लोग सास्कृतिक इकाई के रूप मे हमारे देश मे अलग नही पाए जाते। वे औरो के साथ घुले-मिले हैं।

आदिम आग्नेय-वशी जाति द्वारा सस्कृति को देन · मुण्डा—आदिम आग्नेय या निषाद वश के लोगो ने नव-पाषाण-युग की सस्कृति की नीव डाली और मिट्टी के बरतनो का आरम्भ किया। किन्तु भाषा के क्षेत्र मे उनकी देन अधिक स्थिर और महत्त्वपूर्ण है। वे लोग उन आग्नेयवशी भाषाओ के बोलने वाले थे जो पजाब से न्यूजीलैण्ड तक और मेडागास्कर से ईस्टर द्वीप तक के विशाल क्षेत्र मे फैली हुई है। भारतवर्ष मे इन भाषाओ का वश 'मुण्डा' कहलाता है, जो इस देश मे बोली जाने वाली भाषाओ मे सबसे प्राचीन है। भारतवर्ष के मुण्डा-भाषी क्षेत्रो पर विचार करने से इस बात पर प्रकाश पडता है कि आदिम आग्नेय जातियो के आने और फैलने का मार्ग कौन-सा था। उनका फैलाव या तो पूर्व से पश्चिम की ओर या पश्चिम से पूर्व की दिशा मे होना सम्भव है। मुण्डा-भाषा लद्दाख और सिक्किम के बीच मे हिमालय की भीतरी पट्टी मे, मध्यप्रदेश के पश्चिम मे, और दक्षिण की ओर गञ्जाम और विशाखापत्तन के पहाडी क्षेत्र मे जीवित है, लेकिन गोदावरी से नीचे नही। न केवल दक्षिण-पूर्वी एशिया और प्रशातमहासागर की भाषाओ के साथ मुण्डा भाषा की समानता है, बल्कि सश्लेषात्मक प्रकृति वाली प्राचीन सुमेर देश की भाषा से भी। इस प्रकार यह समझा जाता है कि आग्नेय-वशी भाषाएँ एशिया के मध्यभाग मे या दक्षिण-पूर्वी भाग मे किसी एक जगह पहले-पहल उत्पन्न हुईं, जहाँ से वे दक्षिण की ओर फैल गई।

मुण्डा भाषा-भाषी लोगो को मुण्डा, कोल, निषाद आदि नामो से पुकारा

---

१. Mela=मलिन, काला या कृष्ण। Nesia=द्वीप।

जाता है। उनकी सख्या ६० लाख से ऊपर है, जिनमे ये है— सथाल (लगभग २३ लाख), भील (१८ लाख), कुरुम्ब (६ लाख), मुण्डा (६ लाख), शवर (५ लाख) हो (४ लाख)। इनमे और भी कुछ छोटे कबीले, जैसे कोरवा (सिरगुजा और मिर्जापुर मे), जुग (ढेंकानल मे), या कोर्कू (पचमढी के पहाडी इलाके मे) सम्मिलित है। सन्थाल परगना और छोटा नागपुर, मध्यप्रदेश के कुछ भाग, उडीसा और मद्रास, इस लम्बे-चौडे क्षेत्र मे एक पृथक् आदिम मुण्डा या कोल जाति की सभ्यता अनेक युगो से चली आ रही है, जिसके विशेष लक्षण ये हैं—स्वतन्त्र ग्राम-सस्थाएँ, सामूहिक रीति से शिकार करना तथा व्रत रखना, जाति-भेद का अभाव, प्रत्येक कबीले के द्वारा बलि देकर अपने वृक्षदेवताओ की पूजा करना, जाति के अपने नियम-विधान, छोटे अपराधो के लिए जाति-बिरादरी की दावत के रूप मे दण्ड और भारी अपराधो के लिए जाति से बाहर करना या कृषि आदि के द्वारा दण्डित करना,[1] इत्यादि।

---

१ डॉ० हेडन के अनुसार मुण्डा-भाषी लोग भारतीय द्वीपसमूह मे बसने वाली जाति के थे, जो गगा की अन्तर्वेदी और पश्चिमी बगाल के अपने मूल स्थान से पोलीनीशिया तक फैल गई थी। उसकी सास्कृतिक पहचान कुछ वस्तुओ मे पाई जाती है, जैसे भारत और लका के पश्चिमी तट पर मिलने वाली छोटी पालदार डोगी (Outrigger Canoe), नारियल का पेड़ एव भारतीय द्वीपसमूह, हिन्द चीन, बर्मा और भारत के कुछ हिस्सो मे पाई जाने वाली वाशी या बसूली, जिसके ऊपरी भाग मे कन्धो के दोनो ओर कोर निकली हो (Shouldered Celt)। चौरस कन्धो की कोरदार बसूलियाँ इरावदी नदी के आस-पास बहुत होती हैं। सन्थाल परगना एव भारत के दक्षिणी और मध्य भाग मे जिस तरह की पत्थर की बसूलियाँ प्राय. मिलती हैं उनसे इरावदी वाली भिन्न होती है और उनका सम्बन्ध मोहे-जोदडो से प्राप्त कासे और तावे की बिना कोरवाली बसूलियो से है। छोटा नागपुर क्षेत्र मे प्राग्-ऐतिहासिक श्मशान-भमियो मे भी कोरदार ताँबे की आयसी वाशी (Celts) मिलती हैं। अतएव यह निश्चित नहीं कि इरा-वदी प्रदेश मे मिली हुई पत्थर की घिसी हुई और कोरदार बसूलियाँ (अश्म-न्वती वाशी) भारत की ताम्र-वाशियो से पहले की हैं या बाद की। यदि ताम्र-वाशी बाद की हैं, तो मानना पडेगा कि कोरदार पत्थर की वाशी भारतवर्ष मे हिन्द एशिया से लाई गईं। यदि मोहेजोदडो मे प्राप्त ताम्र-वाशियाँ पूर्वकालीन थीं तो पत्थर की वाशी भारत या हिन्द एशिया मे पश्चिम की ओर से गई होगी। यह अधिक सम्भव है कि इरावदी की

किरात (Mongol)—द्रविड भाषाओ से भिन्न कुछ भाषाओ मे किरात या मगोल भाषाओ के अश पाए जाते हैं जिन्हे मौन-ख्मेर भाषाएँ कहते हैं। इनके बोलने वाले आसाम की खासी पहाडियो मे, उत्तरी बर्मा के पहाडी इलाके मे, दक्षिणी बर्मा, मलाया प्रायद्वीप और निकोबार द्वीप के कुछ भागो मे रहते है। पूर्व से आने वाले मगोल जातीय आगन्तुको के साथ ये भाषाएँ भारत मे आई—कुछ तो ब्रह्मपुत्र नदी के किनारे-किनारे तिब्बत से और कुछ चीन से बर्मा मे माँगगा (मीकाँग), सालवीन और इरावदी नदियो के रास्तो से। यह भी ज्ञातव्य है कि पूर्व की ओर से कुछ अन्य अभियानो के साथ भारत मे भोट (तिब्बती) और चीनी परिवार की दो भाषाएँ और आ गई। एक तो भोट-बर्मी, जिसके बोलने वाले लोग है अलमोडा और गढवाल के भोटिये, उत्तरी आसाम के डफला, अबोर, मीरी और मिश्मी, पश्चिमी आसाम की पहाडियो के निवासी गारो, नागा पहाडियो के कूकी-चीन, कूच-बिहार, नौगज, कामरूप और गोआलपाडा के बोदो या कोच, उत्तरी इरावदी के पास के रहने वाले काचीन या सिङ्फो, और बर्मी लोग, और दूसरी स्यामी-चीनी परिवार की भाषा जो पूर्वी बर्मा के शान प्रदेश मे बोली जाती है।

पूर्व से आने वाली मगोल जाति का प्रभाव उनकी भाषा के क्षेत्र से कही अधिक आगे तक बढ गया था, जैसा कि मोहेजोदडो मे प्राप्त मिट्टी की मूर्तियो और नरकपालो से ज्ञात होता है।

प्राचीनतम भाषाएँ—पूर्व विवरण से ज्ञात होगा कि भारत के इन आदिवासियो ने कुछ प्राचीनतम भाषाओ का दान देश को दिया, जैसे मुण्डा (निषाद), मौन-ख्मेर (किरात वश की), आग्नेय द्वीपो की एव भोट-चीनी परिवार की भाषाएँ। जैसे आगे ज्ञात होगा, ये भाषाएँ द्रविड भाषाओ के द्वारा और भी अधिक दक्षिण-पूर्व की ओर ढकेल दी गई, जिस प्रकार स्वय द्रविड भाषाओ को आर्य भाषाओ के दबाव से स्थान छोडना पडा।

भूमध्यसागरवासी और आरमीनियन स्वरूपी लोग—आदिम निषाद या मुण्डा जातियो के बाद भारत मे भूमध्यसागर के तटवासी मनुष्यो की कई लहरे आई। उनकी एक आरम्भिक धारा अपनी सश्लेषात्मक भाषा के साथ गगा की अन्तर्वेदी की ओर बढ आई, जहाँ उसने आरम्भिक मुण्डा जातियो के साथ घुल-मिलकर उनकी आग्नेय भाषाओ को प्रभावित किया, जैसा कि ऊपर निर्देश किया गया है। उन्होने नौ-प्रचार, कृषि और अनगढ पत्थरो के भवन निर्माण की नीव

चौरस और अत्यन्त घुटी हुई बाशियाँ पत्थर की नकल न होकर किसी धातु के बने हुए मूल से निकली होगी।

डाली। पीछे से भूमध्यसागरीय आगन्तुक लोगो ने अपनी उस उन्नत सस्कृति और सभ्यता को लेकर यहाँ प्रवेश किया, जिसका निर्माण उन्होने तिग्रा-उफान की अन्तर्वेदी (मैसोपोटामिया) मे आरमीनिया के मूल निवासियो के साथ मिलकर किया था। भूमध्यसागर तटवासी लोग लम्बी कपाली के थे, जबकि अल्पाइन वश के आरमीनियन पृथु-कपाल या चौडी कपाली के थे। यद्यपि उनकी मुख्य बस्ती आरमीनिया और अनातोलिया मे थी, वे थोडे-बहुत भूमध्यसागर तटवासी लोगो के साथ घुल-मिल गए, और एशिया माइनर और मैसोपोटामिया मे फैल गए, यहाँ तक कि सुमेर देश की जनता मे उनका महत्त्वपूर्ण स्थान था। इस प्रकार सुमेर की जनता भूमध्यसागरीय लम्बे कपाल और आरमीनिया के चौडे कपाल वाले लोगो के मिश्रण से बनी थी।

ये लोग विश्व के प्राग्-ऐतिहासिक मनुष्यो मे सभ्यता के आदि निर्माणकर्त्ता के रूप मे पर्याप्त महत्त्व रखते हैं। उनकी वह सभ्यता फारस की खाडी और सीरिया के बीच के उपजाऊ प्रदेश की देन थी। यह सभ्यता चौथी सहस्राब्दी के अन्त मे, जैसा कि ऊपर कहा गया है, कला, नागरिक-जीवन की स्वच्छता और रहन-सहन की सुख-सुविधाओ की दृष्टि मे, ऊँची कोटि पर पहुँच चुकी थी। इसकी भाषा द्रविड परिवार की थी और प्राग्-ऐतिहासिक मैसोपोटामिया की लिपि से मिलती-जुलती विशेष प्रकार की चित्रलिपि का उपयोग करती थी। भारतवर्ष मे, विशेषत तमिल लोगो मे ऊपर लिखी हुई भूमध्यसागरीय और आरमीनियन, दो धाराओ का मिश्रण हुआ है। सम्भवत भारत और मैसोपोटामिया के बीच समुद्री-मार्ग मे सीधा सम्पर्क था। मैसोपोटामिया और सिन्धु-उपत्यका के बीच स्थल-मार्ग से सम्पर्क इन दो प्रदेशो मे कुछ एक-जैसी वस्तुओ की प्राप्ति से और बलूचिस्तान मे ब्राहुई भाषा के अस्तित्व से, सिद्ध होता है। ब्राहुई भाषा सूचित करती है कि मोहेंजोदडो के प्राचीन अधिवासी द्रविड भाषा-भाषी थे और सम्भवत इस देश को सभ्यता की देन उन्होने ही दी।

पर्वत प्रदेशीय (अल्पाइन)—पृथु-कपाल एव तुग-नासिक की विशेषताओ से युक्त जिस सूरत-शक्ल के व्यक्ति पूर्व मे बगाल एव पश्चिमी भारत मे विशेष रूप से पाए जाते है, उनके अस्तित्व की व्याख्या मध्य एशिया के पामीर पर्वत के प्रदेश मे इस देश मे आने वाली एक जन-धारा के द्वारा की जा सकती है। इस पृथु-कपाल जाति के लोग, जो यूरोपीय-एशियाई पर्वतीय (अल्पाइन) वश के थे, सिन्धु घाटी की ओर उतरे वहाँ की मोहेंजोदडो सभ्यता को उखाड डाला और वे ही लोग भारत के पश्चिमी किनारे की ओर फैलते हुए वर्तमान प्रभु और मराठा जाति के पूर्वज बने। इन्होने ब्राहुई लोगो मे भी पृथु-कपाल जाति के अश का प्रवेश कराया। फिर वही लोग मैसूर का पठार पार करते हुए और भी दक्षिण मे घुस

गए। किन्तु मलाबार तट एक ओर बचा रह गया, जिसके कारण वहाँ द्रविड भाषा-भाषी प्राचीन लोगो की सभ्यता सर्वोत्तम रूप मे सुरक्षित रह गई। वे लोग भारत-यूरोपीय परिवार की कोई भाषा बोलते थे, जिसके अवशेष अभी तक आर्य-भाषा-परिवार के अन्तर्गत दरद भाषा मे पाए जाते है, जिसे चितराल-निवासी, जो पृथु-कपालीय हैं, बोलते हैं। कालान्तर मे ये पृथु-कपालीय लोग, वैदिक आर्यों से खदेडे जाने पर, गगा की अन्तर्वेदी मे होते हुए चपटे मस्तक की बनावट को पूर्व की ओर बगाल तक लिये हुए चले गए।

द्रविड़—इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि सिन्धु-उपत्यका की सभ्यता का सम्बन्ध द्रविड भाषा-भाषी उन लोगो से था जो भूमध्यसागर से आये थे और जिनमे आरमीनिया के निवासियो का रक्त भी मिला था और जिनकी उन्नत सभ्यता मध्य पूर्व मे विकसित हुई थी। भारत मे भूमध्यसागरीय एव आरमीनियन लोगो की इस आरम्भिक सस्कृति को हम वेद से पूर्वकाल का हिन्दू-धर्म कह सकते हैं, जिसकी कई विशेषताएँ वही थी जो बाद के हिन्दू-धर्म मे पाई जाती हैं। यह सभ्यता इतनी सशक्त थी कि इसने वैदिक सभ्यता पर भी अपनी छाप डाली। ऋग्वेद (१।६) मे पुर, धन और दूध से नहाने वाली स्त्रियो के वर्णन मे हमे उस सभ्यता की समृद्धि का सकेत मिलता है। ऋग्वेद के आर्येतर 'अनास' (चपटी नाक वाले) लोग आद्य निषादवशी थे, जिससे यह अनुमान होता है कि भील आदि के रूप मे वे लोग पहाडो और जगलो मे भरे हुए थे, यद्यपि भूमध्यसागरीय और पर्वतीय अल्पाइन वश के लोग यहाँ आ चुके थे। अथवा वे लोग ऋग्वेद-पूर्व की सभ्यता का ह्रास होने से सिन्धु-उपत्यका के आधिपत्य से मुक्त भी हो सकते हैं। ऋग्वेद मे वशिष्ठ और विश्वामित्र की भिडत की कहानी दो सस्कृतियो के विरोध को सूचित करती है, जिनका एक-दूसरे से सम्मिलन क्षत्रिय के ब्राह्मण बन जाने से ज्ञात होता है। बाद की अनुश्रुतियो मे आर्येतर ऋषियो का भी उल्लेख है। उत्तर-वैदिक युग की ब्राह्मी लिपि का मूल मोहेजोदडो की चित्रलिपि से समझा जाता है। काफी पहले १८६७ मे ही श्री ई० टॉमस ने अनुमान किया था कि आर्यों ने विभिन्न देशो मे भ्रमण करते हुए अपनी किसी लिपि का आविष्कार नही किया, किन्तु जिस देश मे वे जाकर बसे वही की लिपि को अपनी भाषा लिखने के काम मे ले लिया। बहुत समय तक इस मत को किसी ने मान्यता न दी और ब्राह्मी लिपि का उद्गम सामी या म्लेच्छ लिपियो से खोजा जाता रहा और ऐसा समझा गया कि ब्राह्मी लिपी ईसा से एक सहस्राब्दी पूर्व फिनीशिया से यहाँ लाई गई। अन्त मे ६० वर्ष के बाद अध्यापक लैंगडन ने सिद्ध किया कि ब्राह्मी अक्षर सिन्धु की चित्र-लिपि से बने हैं, जिसका प्रयोग आर्यों से पूर्व सिन्धु-घाटी मे रहने वालो लोगो ने अपने मुद्रा-लेखो मे किया था। वह लिखते हैं, "आर्य सस्कृत-विद्वानो ने इन चिह्नो

का अपनी भाषा के अनुसार साकेतिक मूल्य रखा। इसका तात्पर्य यह है कि आर्य लोग उन चिह्नो का अर्थ जानते थे। उसे जानकर उन्होने उनके व्राच्यार्थो का सस्कृत मे अनुवाद किया और उन सस्कृत शब्दो के अनुसार प्रत्येक लिपि-चिह्न का वर्णमाला मे मूल्य या सकेत निश्चय कर दिया।"

इससे विदित होगा कि द्रविड भाषा-भाषी लोग आर्यो के यहाँ आने से पूर्व भारत के सबसे हाल के अधिवासी थे। वे उत्तर-पश्चिम से आये थे। उन्होने अपनी भाषा के चिह्न ब्राहुई जाति मे छोडे (जो मोहेजोदडो के अवशेषो को अपने पूर्वजो की कृति मानती है) और वे अपने साथ मैसोपोटामिया, एशिया-माईनर और पूर्वी मध्य-सागर की सस्कृति लेकर आये थे। कभी-कभी द्रविड भाषा के स्थान-नाम मैसोपोटामिया और ईरान मे मिल जाते है और मितन्नी लोगो मे बोली जाने वाली एक प्राचीन बोली (सरियन) से दक्षिण की द्रविड भाषाओ की गहरी समानताएँ है।

अतएव तथ्य यह जान पडता है कि आर्यो के द्वितीय सहस्राब्दी ई० पू० मे यहाँ आने से पहले हमारा देश मुण्डा या शवर जातियो का एक जमघट मात्र न था, जैसा कि अब तक समझा जाता रहा, बल्कि सिन्धु-उपत्यका मे और सम्भवत गगा की अन्तर्वेदी मे भी यहाँ एक ऊँची सभ्यता थी, जो तुलना मे मैसोपोटामिया की सभ्यता की टक्कर की थी और जिसका उसके साथ आदान-प्रदान भी था।

उत्तर से दक्षिण की ओर उनके हटने के अवशिष्ट चिह्न—द्रविड लोग आर्यो के सामने हटते हुए और अपनी शक्ति के प्रमाण उत्तर मे छोडते हुए दक्षिण की ओर बढे और अन्त मे वही बस गए। द्रविड भाषाओ के शब्द और अन्य प्रमाण वैदिक सस्कृत एव प्राकृत भाषाओ मे तथा उत्तर भारत की आधुनिक देशज बोलियो मे भी पाये जाते है। भाषा-शास्त्रियो का कहना है कि भारत-यूरोपीय बोली मे, जब वह भारतवर्ष मे आई, एक परिवर्तन हुआ, जो केवल द्रविड परिवार की भाषाओ के कारण हो सकता था। यह परिवर्तन ऋग्वेद मे दन्त्य वर्णों के अतिरिक्त मूर्धन्यो के आ जाने से सूचित होता है जो न तो अवेस्ता की भाषा मे है और न भारत-यूरोपीय अन्य सब भाषाओ मे। द्रविडो के उत्तर से दक्षिण की ओर क्रमश प्रवास करने के फलस्वरूप द्रविड भाषा और सस्कृति के कुछ-कुछ अवशेष जहाँ-तहाँ द्वीपो की तरह बच गए, जैसे राज-महल प्रदेश मे लाल और सौरिया नामक पहाडी जातियो मे, छोटा नागपुर के उराँव (जिनकी सख्या ८ लाख है) और गोडो मे (जिनकी सख्या ३० लाख है), एव उडीसा के कोंघ लोगो मे।

द्रविड भाषा-भाषी जनसख्या मे तीन प्रकार के जातीय तत्त्व पाए जाते

है। (१) लम्बा-कपाल पृथु-नासिका वाले या वेद्दा-मुण्डा लोग, (२) लम्बा-कपाल तुग-नासिका वाले लोग अर्थात् भूमध्यसागरीय सूरत-शक्ल के लोग, और (३) पृथु-कपाल तुग-नासिका वाले या पर्वतीय (अल्पाइन) जाति के लोगो की सूरत-शक्ल वाले। मोटे तौर पर दक्षिण के पठार मे पृथु-कपाल लोगो की बस्ती है, जबकि उससे भी नीचे के प्रदेश मे और दोनो समुद्र-तटो पर लम्बी कपाली के लोग रहते हैं। पृथु-कपाल लोगो का अधिकाधिक सम्बन्ध उन्नत नासिका वालो से और उन्नत नासिका वालो का सस्कृत भाषा से पाया जाता है, जैसा कि कन्नड, मलयालम, मराठी और तेलुगु लोगो मे। किन्तु तमिल, जिसका सस्कृत से सबसे कम सम्बन्ध है, लम्बी कपाली और पृथु-नासिका वाले लोगो द्वारा बोली जाती है।

चौडी कपाली वाले पर्वतीय (अल्पाइन) सूरत-शक्ल के लोग पश्चिमी वेला-तट के किनारे गुजरात से कुर्ग तक फैले हुए है और बनारस से बिहार तक विशेषत। बगाल मे भी उनकी बस्ती है जहाँ मध्य बगाल और गगा के नदी-मुख प्रदेश मे उनका सम्बन्ध ऊँची नाक वालो से है। उत्तर और पूर्व मे उनकी बस्ती क्रमश कम् होती चली गई है। यो बम्बई से बगाल तक के ही जातीय तत्त्व के निवासियो का ताँता फैला हुआ। बगालियो के मूल उद्गम को समझने के लिए हमे पश्चिम की जनसख्या पर विचार करना होगा, न कि पूर्व की या किरात वश की ओर, जिनकी कुछ प्रधान विशेषताएँ, जैसे शरीर पर बालो की कमी, बगालियो मे नही पाई जाती।[1] (देखिए डा० बी० एस० गुहा का भाषण जो

---

१. यह अध्याय अधिकतर डॉ० जे० एच० हटन द्वारा भारतीय जनगणना की १९३१ की रिपोर्ट, जिल्द १, भाग १, पृष्ठ ३५७-३६९ और ४३९-४६० मे प्रस्तुत की गई यथाकाल सिद्ध सामग्री के आधार पर लिखा गया है।

'वनस्पतियो का आदि उद्भव' नामक नये विज्ञान से सस्कृतियो के उद्गम पर भी कुछ अप्रत्याशित प्रकाश पडता है। संस्कृति न केवल मनुष्य बल्कि पौधो और पशुओ से भी सम्बन्धित है। सभ्यता के मूल स्थान का पता लगाने के लिए यह देखना भी जरूरी है कि धान्य और पशु कहाँ सबसे पहले मनुष्योपयोगी तथा पालतू बनाये गए। इसकी खोज रूसी वैज्ञानिक कर रहे है। उनके नेता वाविलाव हैं जो रूस मे क्रियात्मक वनस्पति विज्ञान और पौधो के पोषण-विभाग के अध्यक्ष है। उनके अनुसार गेहूँ की दो जातियाँ हैं जो आसानी से एक-दूसरे के साथ गर्भित नहीं होतीं। ये दो जातियाँ पृथक्-पृथक् स्थानो मे उत्पन्न हुई। ऐसा एक केन्द्र अबिसीनिया मे और दूसरा दक्षिण-पूर्वी अफगानिस्तान मे है जहाँ गेहूँ के अधिकांश

उन्होने १६२८ मे भारतीय विज्ञान परिषद् की नृविज्ञान-शाखा के सभापति पद से दिया।)

महत्त्वपूर्ण भेदो का जन्म हुआ। यह प्रदेश हिन्दूकुश और हिमालय के बीच मे फैला हुआ प्रदेश है, जिसमे पजाब और पडोस का पहाडी इलाका भी शामिल है। इन वैज्ञानिको का कहना है कि अबिसीनिया उस कृषि का मूल स्थान था, जिससे मिस्री सभ्यता का निर्माण हुआ। दूसरा प्रदेश न केवल भारतीय और मैसोपोटामिया के गेहूँ का जन्म-स्थान था बल्कि उसके उन महत्त्वपूर्ण प्रकारो का भी जो यूरोप और उत्तरी अमेरिका मे होते हैं। रोटी के उपयोगी गेहुँओ के अलावा और भी बहुत-से कृषि-पौधो का जन्म यहीं हुआ, जैसे दालें, रुई, सन, शलजम, गाजर, आडू आदि।

हा, यह भी सम्भव है कि सभ्यता का विकास दूसरे ही धान्यो से हो गया हो, जैसे मक्का से, किन्तु मक्का मे बी/२ नामक प्राण तत्त्व (विटामिन) की बहुत कमी है। सिर्फ मक्का खाने वाले लोगो को Pellagra नामक त्वचा-रोग हो जाता है। यह एक बडा कारण है जिससे मध्य अमेरिका की मक्का पर आश्रित सभ्यता प्राचीन विश्व की गेहूँ, जौ और चावल खाकर पनपने वाली सभ्यताओ के समान ऊँची न उठ सकी। इन कारणो से तो यह माना जा सकता है कि भारतवर्ष ही सभ्यता की आदि जन्मभूमि है। (जे० बी० एस० हाल्डेन कृत Inequality of Man, पृष्ठ ४६-४८, ७१-७६)।

: ३ :

भौगोलिक और सामाजिक पृष्ठभूमि

भारत का मुख्य इतिहास आर्यों के भारत मे आगमन से आरम्भ होता है। यह आवश्यक है कि हम शुरू मे ही उस इतिहास के स्थूल आधार की भौगोलिक परिस्थितियो का अध्ययन करे जिन्होने युगो तक उस इतिहास की धारा को प्रभावित किया। रिचर्ड हकलुइत की एक पुरानी उक्ति है कि भूगोल और तिथिक्रम इतिहास के लिए चाँद सूरज जैसे या दाहिनी-बायी आँख जैसे हैं।

भारतीय भूगोल की मुख्य विशेषताएँ, जिन्होने उसके इतिहास पर प्रभाव डाला, ये है—(१) पृथकत्व, (२) सम्पर्क, (३) विशालता, (४) विविधता और (५) एकता।

पृथकत्व—किसी भी महाद्वीप के शायद ही किसी भाग को प्रकृति ने इस प्रकार से देश के रूप मे स्पष्ट रूप से अलग और लक्षित बनाया होगा जैसा कि भारतवर्ष को। उत्तर मे पर्वतो द्वारा सुरक्षित और दक्षिण मे समुद्र से घिरा हुआ होने के कारण, भारतवर्ष निस्सन्देह भौगोलिक इकाई है और ये स्पष्ट परिचिह्नित सीमाएँ उसे सारे ससार से अलग निरूपित करती है। हिमालय पूर्व से पश्चिम तक १,६०० मील लम्बी और औसतन ढाई सौ मील चौडी एक अखण्ड दोहरी दीवार के रूप में है। इस उत्तरी दीवार के उस पार तिब्बत की ओर तीन महानदो का उद्गम है—सिन्धु, शतद्रु (सतलज), ब्रह्मपुत्र। दक्षिणी दीवार के इस तरफ भारत की ओर गगा व उसकी उत्तरी सहायक नदियो के उद्गम है। हिमालय की अर्गला के पूर्वी कोने पर कई पहाडी शाखाएँ फैली हुई है, जैसे पटकोई, नाग लुशाई की पहाडियाँ, जो घने जगलो से ढँकी है और ब्रह्मा देश की इरावदी नदी की घाटी को भारतीय मैदानो से अलग करती है एव चीन से भारत आने के सीधे मार्ग को बीच मे रोकती है। हिमालय के उत्तर-पश्चिमी कोने पर सबसे ऊँचे पहाडी डाँडो का एक कोण बनता है। उसकी एक भुजा कराकुरम पर्वत है, जिसमे गॉडविन-ऑस्टिन नामक चोटी ऊँचाई मे ससार मे दूसरे स्थान पर है। दूसरी भुजा हिन्दू-कुश है। ये दो भुजाएँ लेह, गिलगित और चित्राल के प्रदेश को घेरे हुए है जो कि

भारतीय राष्ट्र की उत्तर मे आखिरी रक्षा-चौकियाँ हैं। हिन्दूकुश के उस पार सफेद-कोह और दक्षिण मे सुलेमान पहाड भारत को अफगानिस्तान से अलग करते हैं और खीरथर पहाडियाँ है जो उसे विलोचिस्तान से पृथक् करती है।

दक्षिण की ओर का समुद्र प्राचीन समय मे भारत को अन्य सव देशो से अलग रखता था। केवल शान्ति के समय कुछ व्यापारिक सम्पर्क विदेशो के साथ समय-समय पर होता था, जैसा कि पाल से चलने वाले पोतो से एव किनारे-किनारे खेने वाली उस युग की धीमी और भयभीत करने वाली यात्राओ से सम्भव था। समुद्र की चौडी खाई उस पार से हो सकने वाले हमलो से भी देश की भरपूर रक्षा करती रही, जव तक कि आशा अन्तरीप की परिक्रमा करके यूरोप के लोग यहाँ न आ धमके। १४९८ मे वास्को-डि-गामा के तीन छोटे जहाज कालीकट मे आ पहुँचे और उन्होने सवसे पहले समुद्री मार्ग से आने वाले साहसी लुटेरो के लिए रास्ता खोल दिया। *यह देश को जीत लेने का एक मार्ग था,* जिस पर वाद मे चार यूरोपीय शक्तियाँ अर्थात् पुर्तगाली, हालैण्डवासी, फ्रासीसी और अग्रेज़ एक के पीछे एक आई और सफल हुई। अव तो नौसन्तरण विद्या ने समुद्र को यातायात और आक्रमण का राजमार्ग वना डाला है और देश का नियन्त्रण भी समुद्र के ऊपर अधिकार रखने पर निर्भर हो गया है। वम्वई, कराची, मद्रास, कलकत्ता, कोलम्वो आदि वन्दरगाहो का अव भारत की रक्षा के लिए भारी महत्त्व हो गया है। कोलम्वो, जहाँ भूमध्यसागर, आशा अन्तरीप, आस्ट्रेलिया और सिंगापुर के चारो समुद्रीमार्ग मिलते है, भारतीय महासागर मे समुद्री सैनिक शक्ति का सवसे वडा केन्द्र है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि भारतवर्ष का दूसरे देशो के साथ समुद्री सम्पर्क होने मे और भी कई प्राकृतिक और स्थायी वाधाएँ हैं, जैसे पश्चिमी किनारे पर सह्याद्रि पर्वतमाला एव पूर्वी किनारे पर प्राकृतिक वन्दरगाहो की कमी, किनारे के पास समुद्र का छिछलापन और किनारे पर खडी चट्टानें। भारत का समुद्री-तट सम्भवत सैनिक शक्ति के रूप मे उसके उत्कर्ष प्राप्त करने के अनुकूल नही है। देश का अधिकाश तो भीतर घुसा हुआ स्थल भाग है और स्वभावत मनुष्य भी कूप-मण्डूक है। नार्वे या इगलैड की तरह, जहाँ देश का कोई भाग समुद्र से दूर नही है, भारत का समुद्री-तट उन गहरी खाडियो, खातो और नदी मुखो से रहित है, जो धरती के भीतरी भागो को समुद्र के निकट ले आती है। जो थोडे-वहुत खात और खाडियाँ इस देश मे है वे भी वडे वन्दरगाहो के लिए उपयुक्त नही है। इस समय भारतवर्ष मे केवल वम्वई ही अच्छा प्राकृतिक वन्दरगाह है। मद्रास और कोलम्वो कृत्रिम वन्दरगाह है और कलकत्ता तो नदी-मुख पर-वसा है। इस प्राकृतिक वाधा के कारण भारतीय पोत और नाविक-विद्या ने इतिहास के निर्माण मे कम भाग लिया।

जब कि एक ओर भारतवर्ष बाह्य ससार से अलग है, दूसरी ओर उसके अपने कुछ भाग भी एक-दूसरे से पृथक् है। विन्ध्य पर्वत-शृखला और उसके घने जगल सदा से उत्तर और दक्षिण भारत के बीच दीवार की तरह रहे हैं। प्राचीन सस्कृत-ग्रन्थो से ज्ञात होता है कि आर्यों के दक्षिण की ओर फैलने के मार्ग मे बहुत दिनो तक विन्ध्याचल की बाधा बनी रही। आज भी जातीय तत्त्व, भाषा और सामाजिक रीति-रिवाजो मे भारत के ये दो भाग एक-दूसरे से बहुत भिन्न है। उदाहरण के लिए, लगभग ५०० ई० पू० प्राचीन बौधायन के धर्मसूत्र मे कहा गया है कि दक्षिण को उत्तर से अलग करने वाली प्रथा ममेरी बहन के साथ विवाह-सम्बन्ध है, जो अभी तक दक्षिणात्यो मे चालू है। सच तो यह है कि दक्षिण का अपना अलग ही इतिहास रहा, जिसमे उत्तर-भारत के साथ सम्पर्क के अवसर कम थे। चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, अकबर और औरगजेब के समान विरले ही शासक हुए, जिनके राज्य मे उत्तर और दक्षिण दोनो ही सम्मिलित थे। दक्षिण की अपेक्षाकृत पृथकता के कारण ही मुस्लिम आक्रमणो से उसकी रक्षा हुई, जिन्होने कई शतियो तक उत्तरी भारत को हिला दिया था। विन्ध्याचल की शृखला, जिसमे सतपुडा भी शामिल है और नर्बदा एव ताप्ती की नदी-द्रोणियाँ भी जिसका भाग है, खम्भात की खाडी से राज-महल की पहाडियो तक फैली है। भारत के मध्य भाग मे विन्ध्य और सतपुडा के छोरो से मध्यप्रदेश का पठार बना है। पूर्व की ओर पूर्वी घाट की पहाडियो तक गोदावरी और महानदी के बीच का प्रदेश भी, जो उत्तर की तरफ सोन नदी की घाटी से मिल जाता है, पहाडियो और जगलो से घिरा होने के कारण सबसे अलग है, जहाँ आदिवासी लोग सभ्यता से दूर सन्थाल परगना एव मध्यभारत के पहाडो और जगलो मे रहते आए है। ऐतरेय ब्राह्मण (लगभग २,००० ई० पू०) के युगो मे भी आन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द और मूतिब जैसे अनार्य लोग आर्यावर्त की सीमा पर विन्ध्याचल के जगलो मे पूर्व की ओर निवास करते हुए कहे गए है। सुदूर दक्षिण मे अन्नमलै, पलनी, और एलामलै पहाडियाँ (कारडमम हिल) केरल राज्य को अलग करती है जिसमे आधुनिक काल के कोचीन और ट्रावनकोर के रजवाडे थे। इस भूमिगत पृथकत्व का प्रभाव सामाजिक रीति-रिवाजो पर पडा, जैसे माता से चलने वाला दायभाग (जिसके अनुसार बहन का लडका या भानजा किसी पुरुष का उत्तराधिकारी बनता है), जो प्रथा आर्य एव भारत के अन्य भागो के सामाजिक रीति-रिवाजो से अलग है। इस प्रकार के पृथकत्व का दूसरा उदाहरण दक्षिण भारत के दो घनी आबादी वाले प्रदेशो का एक-दूसरे से अलग होना है, अर्थात् मद्रास से तञ्जौर तक का कर्नाटक का मैदान और कोचीन-कालीकट के बीच का मलाबार का समुद्र-तट। इन दोनो प्रदेशो के बिलगाव की दीवारो मे सेंध फोडकर उन्हे एक-दूसरे के सम्पर्क

मे लाने वाला मार्ग कोयम्बतूर के पास का पालघाट नामक दर्रा है, जिसके द्वारा कर्नाटक की उपजाऊ भूमि की वस्तुएँ मलाबार के समुद्री तट पर स्थित बन्दरगाहो तक पहुँचती हैं। चोलमण्डल की ओर का समुद्री कगार और मलाबार तट के पीछे फैली हुई सह्याद्रि पर्वतमाला, इन दो दीवारो ने दक्षिण भारत को अपेक्षाकृत अन्य प्रदेशो से अलग रखा। इनके बीच मे पालघाट की सेंध ने पारस्परिक सम्पर्क का द्वार खुला रखा, जिसके कारण उसका बहुत महत्त्व था।

सम्पर्क—इस भौगोलिक पृथकत्व के होते हुए भी भारतीय समाज का अग विलक्षण रूप से कई प्रकार की मिलावट से या पृथक् तत्त्वो से बना है, जो निश्चय ही बाहरी जगत् के साथ भारतवर्ष के सम्पर्क और देशान्तरो से लोगो के यहाँ आकर बसने और आक्रमणो का परिणाम है। यो किसी हद तक भारतीय इतिहास ने अपने भूगोल को झूठा सिद्ध कर दिया है। विचार और जनसख्या के विश्वव्यापी आन्दोलनो ने भारतवर्ष की पृथकता को कुतरकर उसकी सभ्यता मे कई जातीय और सास्कृतिक अशो को मिला दिया है जो मोटे तौर पर इस भाँति है (१) प्राक्द्रविड, (२) द्रविड, (३) आर्य, (४) ईरानी, (५) यवन, (६) रोमन, (७) शक, (८) हूण, (९) इस्लाम और (१०) यूरोपीय।

प्रश्न यह है कि इन सब विदेशी प्रभावो का यहाँ आगमन कैसे सम्भव हुआ? वे कौन-से मार्ग थे जिससे ये प्रभाव भारत मे घुस सके? उत्तर पूर्वी सीमा मे ऐसी दरारे बहुत थोडी है जिनसे भारी मात्रा मे कोई भारी प्रभाव या हलचल यहाँ आ सकती। जेलप, नाटु और डोकिया के तीन पहाडी जोते, जो सिक्किम से तिब्बत मे जाते हैं, इतने ऊँचे हैं कि उनसे बहुत कम यातायात छनकर आ सकता है। पूर्व मे ब्रह्मपुत्र की घाटी तिब्बत की ओर से भारत मे आने का रास्ता बनाती है, मीकाँग, सालविन और इरावदी चीन की ओर से वैसा ही मार्ग बनाती हैं, लेकिन इस राह से भी भारी यातायात और विदेशी आगमन घने जगल और भयकर जगली जानवरो के कारण तथा उत्तरी बर्मा पर अग्रेजो के दखल कर लेने के कारण सम्भव नही हुआ। इस दिशा मे भारतवर्ष की सैनिक रक्षा एक प्रकार से राम-भरोसे छोड दी गई है।

उत्तर की तरफ १,५०० मील लम्बी हिमालय की दीवार बिलकुल दुर्गम और दुष्प्रवेश्य है। पामीर की ओर से गिलगित के रास्ते पर कुछ दर्रे है और तिब्बत की ओर से लेह के रास्ते एव सतलज की घाटी से भारत मे आने के लिए मार्ग है। मुज़ताग (बर्फानी पहाड), कराकुरम (काला पहाड) और चड्चेन्मो के तीन १८,००० फुट से ऊँचे दर्रों मे होकर थोडा-बहुत माल-असबाब का आना या यातायात पजाब और पूर्वी तुर्किस्तान या तिब्बत के बीच होता है। लेकिन ये मार्ग व्यापारियो के काम के है, सैनिक आक्रमण या विदेशी कबीलो के आगमन के

लिए उपयोगी नही। मध्यकालीन बौद्ध चीनी यात्री भी, जो श्युआन् च्वाड् की भाँति स्थल-मार्ग से आते थे, इन दर्रों से भारत मे नही आये। वे पहले तिब्बत के उत्तर मे लम्बे रेगिस्तानी रास्तो से होने हुए पश्चिम मे वक्षु नदी पर जा पहुँचते थे और वहाँ से हिन्दूकुश पार करके भारत का मार्ग पकडते थे।

दक्षिण मे समुद्री-मार्ग से भारत मे विदेशी प्रभाव सदा छनकर आता रहा और शान्तिमय व्यापारिक सम्पर्क भी चलता रहा, पहले मिस्र और बावेरू (बेबीलन) से, और बाद मे रोम साम्राज्य के साथ। कुछ भारतीय वस्तुएँ, जैसे नील, इमली की लकडी, या मलमल, जिसमे ममी लपेटी गई थी, मिस्र की समाधियो मे मिली है। उस लूट के माल मे, जो मिस्र के फरओह जहाज मे भरकर ले गए थे, हाथीदाँत, सोना, कीमती रत्न, चन्दन और बन्दर शामिल थे, जो मूल मे भारत से आये थे। कुछ विद्वानो के विचार से बाइबिल मे भी भारत के साथ प्राचीन व्यापार के प्रमाण उन वस्तुओ के नामो के रूप है मिलते है जो उस समय केवल भारत ही विदेशो को भेजता था, जैसे बहुमूल्य रत्न, सुवर्ण, हाथीदाँत, आबनूस की लकडी (स० कोविदार), मोर और मसाले, जो सुलेमान के जहाज पर लदे हुए व्यापारी माल का अश थे। भारतीय सागौन की लकडी उर नामक राजधानी के अवशेषो मे मिली है और बावेरू की भाषा मे मलमल का नाम 'सिन्धु' था। 'बावेरूजातक' नामक पाली पुस्तक मे (लगभग ५०० ई० पू०) भारतीय व्यापारियो के बावेरू के बाजारो मे मोर ले जाने का निश्चित उल्लेख है। चावल, मोर और चन्दन जैसी विशिष्ट भारतीय वस्तुओ का ज्ञान यूनानियो को उनके भारतीय अर्थात् तमिल नामो से था। क्योकि भारत और बावेरू के बीच का व्यापार ४८० ई० पू० मे बन्द हो चुका था, इसलिए यह मानना पडेगा कि अमुक वस्तुएँ उससे भी बहुत पहले भारत से बावेरू पहुँचती थी, जिसके फल-स्वरूप वे ४६० ई०पू० के लगभग यूनान मे पहुँच सकी और सोफोक्लीज (४९५-४०६ ई० पू०) के समय मे, जिसने उनका उल्लेख किया है, ऐथेन्स नगरी मे ये घरेलू वस्तुएँ बन गई थी। प्राचीन भारतीय साहित्य के अनुसार इस समस्त प्राचीन व्यापार के मुख्य केन्द्र शूर्पारिक (सोपारा) और भरुकच्छ (भरूच) नामक कोकण-तट के दो प्रसिद्ध पत्तन थे। कालान्तर मे रोम के साथ भारत का व्यापार, जो सम्राट् अगस्तस और नीरो के समय मे सबसे अधिक बढा, मुरचीपत्तन (मुजिरिस, वर्तमान क्रगनूर), जो मलाबार तट पर था, और कावेरीपत्तन (पुहार), जो चोलमण्डल तट पर था, नामक दो केन्द्रो से होता था। यही से मसाले, सुगन्धित पदार्थ, रेशम, मलमल, सूती वस्त्र, मोती और रत्न, जिनकी रोम मे बडी माँग और आवभगत थी, पोतो पर लादकर भारत से रोम ले जाए जाते थे। मोती के व्यापार का केन्द्र पाड्य देश की प्राचीन राजधानी कोरके

(कोल्लकनगर, आधुनिक तिन्नेवली) थी, जो अब बालू से पट गया है। बहुमूल्य रत्नो मे वैदूर्य की सबसे अधिक मांग थी, जो कोयम्बतूर और सालेम की खानो मे होता है। कोयम्बतूर और मदुरा मे रोम के सिक्के भी बहुत मिले हैं। पुराने तमिल ग्रन्थो मे 'शक्तिशाली यवन और मूक म्लेच्छो' के तमिल राजाओ की सेवा मे रहने का उल्लेख है। आयोनियाँ के यूनानियो के साथ भारत का सम्पर्क होने के बाद 'यवन' शब्द संस्कृत मे लिया गया। इसी सम्पर्क के परिणामस्वरूप मलाबार-तट पर यहूदी और ईसाइयो की दो छोटी बस्तियो की नीव पड़ी। मिस्र, बावेरु और रोम का युग समाप्त होने पर दक्षिण अरब मे यवन के सौदागरो ने भारतीय व्यापार मे हाथ डाला। ६२२ ई० मे इस्लाम का उदय होने के बाद अरब सागर और अफ्रीकी तटो के सब बन्दरगाह अरबो के नियन्त्रण मे आ गए और फारस की खाडी से भारत और चीन तक का समुद्र-पथ भी उन्ही के अधिकार मे चला गया। पन्द्रहवी शती के अन्त तक भारत का पश्चिम के साथ सम्बन्ध बस इतना ही था कि भारतीय लोग अपने पश्चिमी समुद्र-तट के किनारे का व्यापार स्वय कर लेते थे। उसके बाद तो नौ-सतरण-विज्ञान की समुद्र पर विजय हुई और यूरोपीय जातियो के भारत मे घुस आने का मार्ग खुल गया, क्योकि उनसे पहले के आक्रमणकारी और विजेता तो केवल उत्तर-पश्चिम के स्थल-मार्गों से ही आ पाते थे।

भारत का उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रदेश देखने मे पर्वतो से रक्षित है, फिर भी वह अत्यधिक भेद्य सीमा-प्रदेश है, जिसकी रक्षा के लिए हमेशा महँगी तैयारी करनी पडती है। इस भाग के सुरक्षित न होने का एक कारण यह भी है कि यह अत्यन्त लम्बी सीमा-पंक्ति लडाकू कबायली इलाको मे से होती हुई अफगानिस्तान तक चली गई है, जिसके उस पार यूरोप की स्थल-शक्तियो का खटका बना रहता है।

उत्तर-पश्चिमी सीमा का पूरा महत्त्व समझने के लिए भारत से मिली हुई सरहद से आगे बढकर ईरानी पठार के मानचित्र को भी, जिसमे अफगानिस्तान, बिलोचिस्तान और ईरान ये तीन पडोसी देश सम्मिलित हैं, समझना होगा। यह पठार उत्तर-पूर्व मे पामीर की अगम्य ऊँचाई से जा मिला है और उत्तर-पश्चिम मे आरमीनियाँ की, परन्तु और दिशाओ मे सुगम है, जैसे ईरान की खाडी और अरब सागर की ओर, एव भारत और उत्तर मे तुर्किस्तान या तूरान की ओर। अतएव भारत की रक्षा के लिए ईरान की खाडी और अरब सागर का नियन्त्रण आवश्यक है और ईरानी पठार के दक्षिण-पूर्व की ओर किसी भी विदेशी शक्ति के अड्डे न होने चाहिए। अफगानिस्तान की ओर से काबुल नदी के रास्ते और सीस्तान की ओर से भारत मे पहुचना सरल है, और यह मानी हुई बात

है कि दोनो स्थानो से विदेशी शक्तियो को अलग रखना चाहिए। हिन्दूकुश, जो सिन्धु और वक्षु के बीच का जल-विभाजक है, दोनो ओर से सुगम है और नदियो के किनारे भारत तक पहुँचने के कई रास्ते वहाँ से फूटते हैं, जिनमे सबसे प्रसिद्ध और चालू खैंबर का मार्ग है। खैंबर का मार्ग काबुल से शुरु होकर काबुल नदी के किनारे-किनारे आता है। अफगानिस्तान की ओर से आने वाली कुर्रम नदी कुर्रम दर्रे से होकर बन्नू जिले मे होती हुई सिन्धु मे मिल जाती है। तोची की घाटी गजनी और भारत को मिलाती है, जिसमे बहती हुई तोची नदी वज़ीरिस्तान के पहाडो से निकलकर कुर्रम मे मिल जाती है। गोमल की नदी और घाटी अफ़गानिस्तान और डेराइस्माइलखाँ के बीच मे है। उस पार, जहाँ अफगा-निस्तान के पहाडो की ढलान पश्चिम की ओर है, एक दूसरा रास्ता उनकी जड मे से होता हुआ खुले पठार के ऊपर हेरात से कन्दहार तक चला गया है, जहाँ से सीस्तान भी निकट ही है और जो कन्दहार से दक्षिण-पूर्व की ओर पथरीली भूमि मे होता हुआ सिन्धु के खादर मे जा मिला है। भारत की ओर आने वाली अन्तिम पहाडी के दर्रे के नाम पर इस रास्ते का नाम बोलन-मार्ग है। ईरान को भारत से मिलाने वाली यातायात की अन्तिम कडी बिलोचिस्तान के समुद्री तट के पास से होती हुई मकरान के सामने वाले क्षेत्र से गुज़रती है। यह मार्ग इतिहास मे प्रसिद्ध है, क्योकि सिकन्दर ने ३२५ ई०पू० मे भारत मे लौटते हुए (रानी श्मीरमा और सम्राट कुरुप इन पूर्व-विजेताओ के उदाहरण को लेते हुए) इसी मार्ग को चुना था, किन्तु इससे उसकी सेना का सर्वनाश हो गया। कालान्तर मे अरब के व्यापारी इस मार्ग से बहुत आते-जाते थे। खैबर और बोलन के प्रधान मार्गों को आडे तौर पर जोडने वाला एक मार्ग कन्दहार और काबुल के बीच मे गज़नी के आस-पास से गुज़रने वाली बहुत-सी नदी-घाटियो की एक शृखला है। सिकन्दर के द्वारा बलख और भारत की चढाइयो मे इधर से ही अभियान करने के कारण यह रास्ता इतिहास मे प्रसिद्ध है। और अभी हाल मे जनरल रॉबर्टस १८८२ के अफगान युद्ध मे इसी मार्ग से काबुल से कन्दहार की सहायता के लिए पहुँचे थे। काबुल-कन्दहार पथ की ओर से कई दर्रे भारतीय सीमा-प्रदेश की पर्वतीय मेखला मे घुसते है।

इस भूगोल से प्राचीन और अर्वाचीन भारतीय इतिहास की बहुत-सी घटनाओ की कुजी मिलती है। उत्तर-पश्चिमी सीमा-पर्वतो की दीवार मे पडे हुए ये घट्टे, जिनका अभी उल्लेख किया गया है, सब युगो मे शान्तिमय यातायात और उग्र आक्रमण, विस्तृत जातीय प्रसार और आवागमन के लिए मार्ग देते रहे है। इन्ही मार्गो से प्राग्-ऐतिहासिक युग की जातियाँ भारत मे घुसी, और आर्य, जो भारतीय इतिहास के विधाता है आए; और पिछले ऐतिहासिक युगो मे अनेक

विदेशी आक्रमणकारी प्रविष्ट हुए, जैसे कुरूप् और दारा, सिकन्दर, सिल्यूकस और दिमीत्रियस, शक, पह्लव और कुषाण। इनके सम्बन्ध मे भारत और रोम साम्राज्य के बीच मे स्थल-मार्ग से व्यापारिक यातायात जोर-शोर से चला, और अन्त मे मध्य-युग मे भी इसी मार्ग से मुसलमान आए। भारतीय इतिहास की सबसे महत्त्वपूर्ण शक्ति अर्थात् यूरोपीय लोग ही एकमात्र अपवाद है जो इस रास्ते न आकर दक्षिण की ओर के समुद्री मार्ग से देश मे घुसे। आधुनिक काल मे भारत की रक्षा-योजना खैबर और बोलन के दो सुभेद्य बिन्दुओ पर दृष्टि रखकर सगठित की गई। भारत की रक्षक सेना दो भागो मे बँटी थी—एक उत्तरी सेना जो खैबर के बचाव के लिए कलकत्ता से इलाहाबाद और दिल्ली को लांघती हुई पेशावर तक फैली थी, और दूसरी दक्षिणी सेना, जो मद्रास और बम्बई के राज्यो मे बोलन मार्ग की रक्षा करने वाली प्रधान चौकी क्वेटा नगर पर दृष्टि रखते हुए फैलाई गई थी, और जिसकी सहायता के लिए ब्रिटेन से भी सैनिक शक्ति समुद्र के जरिये कराची से पहुचाई जा सकती थी। भारत की सीमा-रक्षा का एक और मज़बूत उपाय कराची से शुरू होने वाली नॉर्थ वेस्टर्न रेलवे थी, जिसकी शाखाएँ बोलन और खैबर तक फैली हुई थी, और जिसकी पीठ पर राजपूताना के रेगिस्तान की दीवार थी।

सभी युगो मे भारत की रक्षा के लिए राजपूताना के रेगिस्तान का सैनिक और सामरिक महत्त्व बता सकना कठिन है। जलविहीन यह मरुभूमि कच्छ के रन्न से उत्तर-पूर्व की ओर ४०० मील लम्बी और १५० मील चौडी पट्टी की तरह चली गई है और अपने पीछे आडावला पहाडियो के मजबूत पुश्तो के साथ एक दूसरी रक्षा-पक्ति बनाए हुए है, ताकि बोलन और मकरान के रास्तो मे शत्रुओ का प्रवेश रोका जा सके। एक बार जहाँ खैबर की घाटी पार की, दिल्ली तक मैदान साफ़ हो जाता है। दिल्ली सारे भारत का ऐतिहासिक मध्य-बिन्दु है। आडावला शृङ्खला के उत्तरी नुक्कड पर, जहाँ उत्तर-पश्चिम से आने वाली आक्रमणकारिणी सेनाएँ पजाब की नदियो के रास्ते आ पहुँचती है, यदि हम खडे हो, तो पजाब के मैदानो मे देश के भीतर की ओर, जहाँ भारत का हृदय है और जिसमे गगा-जमुना की अन्तर्वेदी शामिल है, आने वाले मार्ग की पूरी नाकेबन्दी की जा सकती है। न तो छठी शती ई० पू० मे ईरानी आक्रान्ता भारत के इस कपाट-द्वार तक पहुँच सका और न सिकन्दर ही। उसे व्यास नदी पर ही रुक जाना पडा। सिर्फ मुसलमान ही इस द्वार से आगे बढ सके, जिसके फलस्वरूप हिन्दुस्तान मे उनके स्थायी पैर जम सके, लेकिन उन्हे भी ७१२ ई० मे अरबो की सिन्धु-विजय के दिन से लेकर ११९३ ई० मे दिल्ली की पहली सल्तनत स्थापित होने तक ५०० वर्ष लग गए, और तब कही वे भारत के सीमा-प्रदेश से

आगे बढकर, दिल्ली के फाटक मे घुसकर देश के हृदय-क्षेत्र मे दाखिल हो सके। इतने दिनो तक राजपूत राजाओ ने देश की प्राकृतिक-भौगोलिक रचना से लाभ उठाकर उत्तर-पश्चिम से सीधे दिल्ली की ओर बढ़ने वाले मुसलमानी आक्रान्ताओ से लोहा लेकर उन्हे रोके रखा और उनकी चढाइयो के मार्ग मे सामने की ओर अडे रहे। एक बार जब दिल्ली का छत्र टूट गया, तभी मुसलमान देश-भर मे सबसे हेकड शक्ति वाले बन सके। "राजपूताना की मरुभूमि के उस पार, और अफगानिस्तान के पठार की जड मे फैला हुआ सिन्धु नदी का कछार भारत के द्वार-प्रकोष्ठ की भाँति है। इस डयोढी के कोठे मे ६०० वर्षो तक मुसलमानो की बहुसख्या रही। दिल्ली के उत्तर-पश्चिम मे, मरुभूमि और हिमालय का मध्यवर्ती जो फाटक है, वहाँ युद्ध के मैदान चारो ओर छिटके हुए हैं—जिनमे जमुना के समीप के प्राचीन युद्ध-स्थल हैं, जहाँ आने वाले मुसलमानो ने भारतीय प्रतिरोध पर विजय पाई और सतलज के आसपास की नई रण-भूमियाँ हैं, जिनमे बढती हुई अग्रेजी शक्ति ने सिक्खो को परास्त किया। यह कोरा सयोग नही है कि अग्रेज वायसराय की ग्रीष्म-राजधानी शिमला, हिमालय की चोटी पर है, जहाँ से साम्राज्य के प्राकृतिक नाक और अधिकार के लिए कशमकश का नियत्रण किया जा सके।" [कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इडिया १ २४][1]

विशालता—यद्यपि भौगोलिक दृष्टि से भारत एक अकेला और पृथक् देश है, तो भी इसके महान् विस्तार के कारण इसे देश की अपेक्षा महाद्वीप कहना उचित होगा। विस्तार मे, रूस को छोडकर वह सारे यूरोप के क्षेत्रफल के बराबर है और ग्रेट ब्रिटेन से बीस गुना बडा है। उसके प्रान्तीय विभाग ही, जैसे पजाब, उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश, एक-एक करके ग्रेट ब्रिटेन से बडे हैं। बगाल, बिहार और उडीसा, इनमे से प्रत्येक का क्षेत्रफल इङ्गलैण्ड और स्कॉटलैण्ड के बराबर है। बम्बई और मद्रास के राज्य दोनो ही इटली से बडे हैं और अकेला असम राज्य इङ्गलैण्ड के बराबर है। क्षेत्रफल के स्थान मे यदि जनसख्या की दृष्टि से देखें तो भी भारत की विशालता कम नही होती। सारे ससार की जनसख्या का पाँचवाँ अश भारत मे रहता है और जितना भूतपूर्व 'ब्रिटिश इण्डिया' था, केवल उसी की जनसख्या अमरीका के सयुक्त राज्य की जनसख्या से ढाई गुनी अधिक है। बगाल, उत्तरप्रदेश या मद्रास जैसे प्रत्येक राज्य जनसख्या मे ग्रेट ब्रिटेन से अधिक हैं और

---

१. इस अध्याय का अधिकांश भाग और दृष्टिकोण भारत पर अग्रेजी शासन के दिनो की विचार-धारा का सूचक है। १५ अगस्त १९४७ के बाद उस स्थिति मे बहुत-कुछ हेर-फेर हो गया है।

—अनुवादक

असम जैसे छोटे राज्य की जनसंख्या भी वेलजियम, स्वीडन या हालैण्ड के बराबर है।

विविधता—भारतवर्ष की विशालता का एक परिणाम प्राकृतिक भूगोल और सामाजिक संस्कृति के क्षेत्रो मे उसकी विविधता है, जिसके कारण भारत को, उचित रूप से ही, ससार का 'सक्षिप्त प्रतिरूप' कहा जाता है।

(अ) प्राकृतिक-भौगोलिक—भारत मे प्राकृतिक भूगोल की वे अनेक स्थितियाँ पाई जाती हैं, जो अन्य देशो मे बँटी हुई मिलती हैं। अक्षाश और देशाश के विपुल विस्तार मे भारत मे तीनों प्रकार की जलवायु मिल जाती है शीत कटिबन्ध या ध्रुवो-जैसी हिमालय के १५,००० फुट से अधिक ऊँचे प्रदेशो मे तथा सम शीतोष्ण एव उष्ण-कटिबन्ध जैसी जलवायु नीचे मैदानो से समुद्र-तट तक। जलवर्षण की दृष्टि से भी भारत मे बहुत विविधता है, जैसे चेरापूंजी स्थान पर ससार की सबसे अधिक ४८० इच वार्षिक वृष्टि एव सिन्ध और राजपूताना के कुछ भागो मे तीन इच से भी कम। जलवायु के इन विपुल भेदो के कारण भूमि की उपज के पदार्थों मे भी बडे भेद हैं। हूकर का कथन है कि भारत के वृक्ष और वनस्पति यदि सारे ससार मे नही तो पूर्वी गोलार्ध मे इतने ही बडे किसी भी अन्य देश मे अधिक विभिन्न हैं। स्टाण्डफोर्ड के अनुसार, भारत मे वृक्ष-वनस्पतियो की विभिन्न जातियाँ यूरोप से कहीं अधिक हैं, यद्यपि यूरोप भारत से क्षेत्रफल मे दुगना है। जैसा कि लिली ने कहा है, सचाई यह है कि भारतवर्ष की उपज मे वे सब वस्तुएँ शामिल हैं जो मनुष्य को अपने उपयोग के लिए चाहिएँ। इस प्रकार प्रकृति ने ही भारत को आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर और स्वतन्त्र होने की अद्भुत योग्यता प्रदान की है, केवल मनुष्य को उसे सिद्ध करने की आवश्यकता है।

(आ) सामाजिक जन, भाषा, धर्म—मानव-समाज की पचमाश भारत की महती जनसंख्या के अन्तर्गत सास्कृतिक और सामाजिक जीवन की भिन्नता के अधिक-से-अधिक भेद हैं। यहाँ मानव-जाति के नृवंश-तत्त्व-सम्बन्धी तीन मुख्य भेद पाए जाते हैं—आर्य (काकेशिया) या श्वेतवर्णी, जिसके गोरा और सांवला दो भेद हैं, मगोल, किरात या पीतवर्णी, और हब्शी (इथियोपिया) या कृष्णवर्णी (जो अण्डमान द्वीप मे रहते हैं), इन मोटे भेदो के अन्तर्गत नृवश की दृष्टि से निम्नलिखित शारीरिक विशेषताओ वाले उपभेद हैं, जिनमे से अधिकाश का सुझाव श्री हर्बर्ड रिज्ले ने १६०१ की भारतीय जन-गणना रिपोर्ट मे दिया था।

(१) प्राक्-द्रविण आदिवासी मानव-जाति, जिसका नाटा कद, चौडी-चपटी नाक, और वे अन्य विशेषताएं होती हैं, जिनका ऊपर वर्णन आ चुका है और जो भारत की विभिन्न वनचर जातियो मे पाई जाती हैं।

(२) द्रविड-जाति, जिसका कद नाटा, रग श्याम, केश घने, सिर लम्बा और नाक चौडी होती है, उत्तर प्रदेश के दक्षिण और ७६° पूर्वी देशाश के पूर्व के समस्त देश मे फैली हुई है।

(३) आर्य-जाति, जो काश्मीर, पजाब और राजपूताना मे मिलती है। इनका शरीर प्राशु (लम्बा), रग गोरा, बाल घने, सिर लम्बा और नाक नुकीली उठी हुई होती है।

(४) तुर्की-ईरानी जाति, जो उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त, बिलोचिस्तान और सिन्ध के पश्चिमी इलाके मे पाई जाती है। इसकी ऊँचाई औसत से कुछ अधिक, रग गोरा, कपाल चौडा और नाक अधिक लम्बी और नुकीली होती है। "सिन्धु नदी जैसे ईरान और भारत के बीच की राजनीतिक सीमा है, वैसे ही वह तुर्की-ईरानी और भारतीय आर्य इन दो मानव-जातियो के बीच की भी सीमा है।" [कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृष्ठ ४४]

(५) शक-द्रविड मानव-जाति, जो सिन्धु नदी के पूर्व की ओर सिन्ध नामक प्रान्त मे, गुजरात और पश्चिमी भारत मे पाई जाती है और तुर्की-ईरानी जाति से जिसका भेद छोटे कद, अधिक लम्बे सिर, अपेक्षाकृत छोटी नाक-जैसी विशेषताओ के कारण है। इस नाम से तो ऐसा इङ्गित होता है कि जिन शको ने पश्चिमी भारत मे लगभग १२० ई० से ३८० ई० तक राज्य किया, उनके कारण यह विदेशी पृथु-कपाल जातीय तत्त्व अपने यहाँ आ गया। किन्तु शक लोग, जैसा कि इतिहास बताता है, भारत के जातीय तत्त्व पर कुछ प्रभाव न डाल सके होगे, क्योकि सस्कृति पर प्रभाव डालना तो दूर, वे स्वय ही क्रमश हिन्दू बन गए। यह विदेशी जातीय तत्त्व पश्चिमी एशिया और ईरान मे रहने वाले उस पृथु-कपाल पर्वतीय जन (अल्पाईन रेस) से आया होगा जो द्रविडो की भाँति पश्चिमी भारत मे उस समय से बहुत पहले आये थे जबकि यातायात का मार्ग बीच मे मरुभूमि पड जाने से रुक गया था।

(६) आर्य-द्रविड, या हिन्दुस्तानी जाति, जो पूर्वी पजाब, उत्तर प्रदेश और बिहार मे पाई जाती है। इनका सिर लम्बा, रग गेहुँए से लेकर साँवला तक और नाक कभी नुकीली और कभी चौडी, और कद औसत से कुछ कम ५ फुट तीन इच से ५ फुट ५ इच के बीच मे होता है। भारतीय आर्य और उनके द्वारा जीते गए द्रविडो के मिश्रण से यह जाति-तत्त्व बना। सरहिन्द के देशाश के समीप हम इस सूरत-शक्ल की जाति को सबसे पहले पाते है। ऋग्वेद से भी ज्ञात होता है कि उसके समय मे आर्यो का सन्निवेश सरहिन्द या सरस्वती नदी से आगे न बढा था। ऋग्वेद का सम्बन्ध सप्त-सिन्धु देश से है। ब्राह्मणो और उपनिषदो के युग के साहित्य का सम्बन्ध कुछ और पूर्व मे गगा-जमुना के बीच मथुरा तक के प्रदेश से

था, जिसकी सज्ञा ब्रह्म-देश थी, जिसमे कुरुक्षेत्र भी शामिल था, जहाँ कितनी ही बार महाभारत के युग से पानीपत के युद्ध तक भारत के भाग्य का निर्णय हुआ। साहित्य की साक्षी नृविद्या के उन प्रमाण का समर्थन करती है जिनका सम्बन्ध दो प्रकार की मानव-जातियो के बीच की विभाजक रेखा से है, जो रेखा इतिहास के दो विभिन्न युगों और परिवर्तनो के विभाग को सूचित करती है, अर्थात् एक ओर भारतीय आर्यों का जन या कबीलो की टुकड़ियो के रूप मे आकर बसना और उसके बाद उन्ही भारतीय आर्यों का सरस्वती के इस पार अपने उपनिवेश स्थापित करना, जो कार्य बहुत धीरे-धीरे विजय और मानवीय जातियो एव सस्कृतियो के आपस मे घोल-मेल से हुआ होगा।

(७) मगोल या किरात जाति। यह बर्मा, आसाम और हिमालय के प्रदेश, जिसमे भूटान और नेपाल शामिल है, पजाब और काश्मीर के सीमान्त प्रदेशो मे बसी हुई है। इस जाति का सिर चौड़ा, रग गहरा पीला, चेहरे पर बाल कम, कद नाटा, चेहरा चपटा और पलकें तिरछी होती है। चीन और तिब्बत या भोट देश की तरफ से आने वाली जाति की धारा ने भारतीय जनसख्या मे इन सूरत-शकल के लोगो को जन्म दिया।

(८) बगाली जाति। यह बगाल और उड़ीसा मे बसती है। चौड़ा कपाल, रग सावला, बाल घने, कद मँझला और इनकी नाक भी कुछ चीन की ऊँचाई की तथा कुछ चौड़ापन लिये होती है। रिजले ने, इस विचार से कि यह जाति द्रविड़ और मगोल अशो के मिलने से बनी है, इसे मगोल-द्राविड़ नाम दिया। बगाल और बिहार के बीच की विभाजक रेखा जिस प्रकार राजनीतिक है, वैसे ही नृवश-तत्त्व पर भी आश्रित है और साहित्य मे भी उसकी झलक मिलती है। उदाहरण के लिए, अथर्ववेद मे मगध और अग (भागलपुर-मुगेर) देश के लोगो को आर्य-क्षेत्र से बाहर का कहा गया है। 'शतपथ ब्राह्मण' मे एक कथा है, जो सूचित करती है कि ब्राह्मणो के यज्ञ आदिम पश्चिम से पूर्व की ओर बढ़ते हुए विदेह या तिरहुत तक फैले।

नृवश पर आश्रित नसल सबन्धी विभिन्नता अपने साथ अनेक प्रकार की

---

१ ऋग्वेद मे केवल एक बार (७।१८।१९) यमुना का उल्लेख है, जिसमे उसके किनारे पर हुए किसी युद्ध के प्रसग का वर्णन है। उत्तरी यमुना और गगा के बीच का भाग बाद मे विजय के फलस्वरूप आर्यों के अधिकार मे आया, जैसा कि 'शतपथ ब्राह्मण' (१३।५।४।११-१४) मे कहा गया है। यह विजय दौष्यन्ति भरत ने अपने युद्धो की सफल समाप्ति पर यमुना और गंगा के किनारो पर यज्ञ-महोत्सवों के रूप मे मनाई थी।

भाषाओं के भेदो को भी लिये हुए है। १९३१ की जन-गणना रिपोर्ट के अनुसार भारत मे प्रयुक्त बोलियाँ २२५ हैं, जो मानवीय भाषा के चार बड़े विभागों में बाँटी जा सकती हैं, अर्थात् मुंडा-शबर, तिब्बती-चीनी, द्राविड़ और भारोपीय (सस्कृत से निकली भाषाएँ)। द्राविड परिवार की भाषाएँ तेलुगु, तमिल, कन्नड और मलयालम के रूप में दक्षिण में फैली हैं जहाँ प्रत्येक का महान् साहित्य है। उनके प्रसार की सीमा-रेखा के उत्तर मे भारतीय आर्य-भाषा का साम्राज्य है, जिसके सामने कितनी ही बोलियाँ, जो अभी तक साहित्य के द्वारा मजबूत और स्थिर नही बन सकी हैं, लुप्त होती जा रही हैं। भारतीय-आर्य भाषाओ का विस्तार-क्षेत्र वही है जिसका उल्लेख प्राचीन सस्कृत ग्रथो मे हुआ है। 'शतपथ ब्राह्मण' (३।२।३।१५) के अनुसार कुरु-पाचाल की वाक् उत्तरा अर्थात् 'श्रेष्ठ थी। यहाँ वाक् से तात्पर्य भारतीय आर्यों की बोली से ही है। यही से यह भाषा अन्य दिशाओ मे फैली। कालान्तर मे मनु के अनुसार भारतीय-आर्य सस्कृति का क्षेत्र आर्यावर्त कहा गया है, अर्थात् हिमालय और विन्ध्याचल, एव पूर्व और पश्चिम के दो समुद्रो का प्रदेश। इसके अन्तर्गत कुरु, पाचाल, मत्स्य और शूरसेन, इन चार जनपदो का समुदाय—अथवा ब्रह्मर्षि देश—उस सस्कृति का अगुआ था। वह उसके सर्वोत्तम ज्ञानियो का केन्द्र था (२।२२)। उसी प्रकार से हम अर्वाचीन समय मे भी पाते हैं। एक तो मध्यदेशीय भाषाओ का केन्द्रीय क्षेत्र है, जिसकी प्रतिनिधि बोली पश्चिमी बोली है और जिसके साथ बोलियो का एक भीतरी मण्डल चारो ओर घिरा हुआ है, जैसे पश्चिम की ओर पजाबी, राजस्थानी और गुजराती, उत्तर मे पहाडी और पूर्व मे पूर्वी हिन्दी। उसी प्रकार का दूसरा बाहरी मण्डल भी है, जिसमे पश्चिम की ओर काश्मीरी, लँहदा, सिन्धी और कच्छी बोलियाँ, दक्षिण-पश्चिम मे मराठी और पूर्व मे बिहारी, बगाली, असम और उडिया बोलियाँ हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि भारतीय-आर्य सस्कृति ब्रह्मर्षि देश से शुरू होकर, जहाँ कि मध्य-देशीय भाषाएँ बोली जाती हैं, गगा-यमुना की अन्तर्वेदी मे फैलती हुई कोसल से विदेह और बग तक व्याप्त हो गई। इस विस्तार के ही अन्तर्गत ऊपर लिखी हुई भीतरी और बाहरी मण्डल की भाषाओ का क्षेत्र भी आ जाता है।

ब्रह्मर्षि देश एव सप्तसिन्धु प्रदेश मे प्राचीनतम आर्य-आवासो के बीच मे जो भाषा-सम्बन्धी तादात्म्य था उसमे छठी शती ई० पू० के लगभग हखामनिशीय ईरानियो के बलख (प्राचीन बाल्हीक) देश के अपने अड्डे से भारतवर्ष मे घुस आने के कारण कुछ गडबडी उत्पन्न हो गई। ईरानी और भारतीय आर्यों के सम्पर्क का फल यह हुआ कि मिली-जुली बोलियो का एक नया वर्ग उत्पन्न हो गया, जिन्हे पिशाच भाषा कहा जाता है, जिनमे अभी तक बहुत-से पुराने वैदिक

शब्द पाए जाते हैं और जो काबुल और स्वात (ऋग्वेद के कुभा और सुवस्तु) नदियो के क्षेत्र मे बोली जाती है। पिशाच भाषाओ के और भारतीय-आर्य भाषाओ के बाहरी मण्डल के पश्चिम मे ईरानी भाषा की बोलियाँ शुरू हो जाती हैं, जैसे पश्तो और बिलोच।[1]

धर्म के क्षेत्र मे भी भारत मे सबसे अधिक विभिन्नता है। यहाँ सभी विश्व-धर्म पाए जाते है। अकेले हिन्दू धर्म के अनुयायी २६ करोड हैं जो भारतीय जनसख्या का दो-तिहाई है और ससार की जनसख्या का आठवाँ भाग है। इतने करोडो आदमियो के अनुकूल यह धर्म अपने सिद्धान्तो मे अत्यन्त सहिष्णु और उदारता मे विश्वजनीन होना ही चाहिए। हिन्दू धर्म समन्वयात्मक एव सर्वग्राही रूप से व्यापक है, उसका दर्शन-शास्त्र विश्वजनीन है, उसका कोई परिमित या सीमाबद्ध लक्षण या व्याख्या भी नही है। वह अनेक बातो में अरूढ है और उसमे अपने-आपको हर नई स्थिति के अनुसार ढालने की क्षमता और लोच है, उसके गाथा-शास्त्र और पुराणो की कथाएँ बहुरूपिणी हैं। उसका कर्मकाण्ड और आदेशात्मक विधियाँ भी वैसी ही बहुमुखी और यथाकाम सग्रथित होने वाली है। इन कारणो से हिन्दू-धर्म अपरिमित मनुष्यो का सर्वसामान्य धर्म बन गया है जो जाति, भाषा, राजनीतिक गठन, सामाजिक परम्परा और रुचियो मे एक-दूसरे से बहुत भिन्न हैं। इस्लाम के मानने वालो की सख्या भारत मे ७ करोड ८० लाख है, जो थोडे-अधिक सब प्रान्तो मे फैले है, किन्तु सीमाप्रान्त, सिन्ध, पजाब और बगाल मे जिनका बहुमत है। इसके अतिरिक्त १ करोड २० लाख बौद्ध, ६० लाख ईसाई, ४० लाख सिक्ख, १३ लाख जैन और १ लाख पारसी हैं। भारत मे मानवीय विकास की सभी अवस्थाओ और स्थितियो मे प्रथमारम्भ से लेकर उच्चतम दशा तक के लोग पाए जाते हैं। यह देश लोक-धर्म, जन-विश्वास, रीति-रिवाज, रहन-सहन, मत-मतान्तर, भाषा-बोलियो, जातियो और समाज-सस्थाओ की दृष्टि से पूरा सग्रहालय कहा जा सकता है। पर यह मुर्दा चीजो का और ईंट-पत्थरो का 'अजायबघर' नही, बल्कि प्राणवन्त मानव-जाति और अध्यात्म विचारो का, जो अपने-अपने ढग से विकसित हो रहे है, महान् कोश है।

एकता—उसके महाद्वीपीय विस्तार और विभिन्नता के कारण एक राष्ट्रीय इकाई के रूप मे भारत की स्थिति सहज ही हमारे मन से ओझल हो जाती है। इस देश का समग्र रूप एकसाथ इकाई के रूप मे हमारे ध्यान मे नही आता। उसके एक-एक खण्ड या भाग को ही हम समझ पाते हैं : यह ठीक उसी तरह है

---

१. देखिए केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग १, अध्याय २, जहाँ से इस अध्याय की बहुत-सी सामग्री यथेच्छ ली गई है।

जैसे एक पुरानी कहानी के अनुसार कुछ अंधे हाथी के एक-एक अंग को अलग-अलग टोहते हुए उसे ही पूरा शरीर समझ लेते हैं। अथवा हमे उपनिषद् की उस कहानी का ध्यान आता है जिसमे मनुष्य की इन्द्रियाँ अपने-अपने बडप्पन के लिए झगडती हैं और उस प्राण को भूल जाती हैं जिसके द्वारा पूरा शरीर चलता है और उनमे से हरेक जीवित रहती है। वस्तुत. अनेक मे एक को, समुदाय मे व्यक्ति को, मिश्रित वस्तुओ मे शुद्ध को पहचानना कठिन काम है। विभिन्नता होना इस बात का प्रमाण नही कि वहाँ एकता का अभाव है, विभिन्नता तो जीवनी शक्ति, सम्पन्नता और बलिष्ठता का लक्षण है।

भारत की भौगोलिक एकता मानचित्र मे देखने से तुरन्त ही प्रत्यक्ष होती है। उसमे साफ यह प्रकट होता है कि किस प्रकार यह देश ससार के अन्य देशो से ऐसी सीमाओ के द्वारा अलग है जो अलघ्य हैं और जो यूरोप के देशो की उन विवादग्रस्त कृत्रिम सीमाओं की भाँति नही जिन्हे मनुष्य ने मान लिया है। फिर भी प्रश्न यह है कि कहाँ तक भारत की इस भौगोलिक एकता का यहाँ के लोगो ने अनुभव किया अथवा वह देश के इतिहास मे आई। प्रकृति के वरदान निरर्थक हैं यदि उन्हे मनुष्य के हितार्थ काम मे न लाया जाए और मनुष्य को उनकी खोज करने, उन पर अधिकार करने और उनका उपयोग करने की सूझ-बूझ न हो। राजनीतिक जीवन और सभ्यता के क्षेत्र मे किसी जाति के उन्नति करने की पहली शर्त यह है कि उसके पास अपनी निश्चित और सुव्यक्त भूमि हो जिसे वह अपनी कह सके और अपनी मातृभूमि बना सके। जिस जाति के पास अपनी भूमि नही है और जो अस्थायी एव अस्थिर परिस्थितियो मे जीवन बिताती है, जहाँ किसी वस्तु का ठिकाना नही और हरेक वस्तु अनिश्चित है, वह जाति सस्कृति और सभ्यता के विकास की अनुकूल परिस्थितियो से वचित रहती है। यहूदियो के राजनीतिक विकास मे एक बडी बाधा यह रही है कि वे अपने लिए मातृ-भूमि का निर्माण करने मे कभी सगठित नही हो सके। राष्ट्र के लिए देश ऐसे ही है जैसे मनुष्य के लिए शरीर। वह उसके आत्म-विकास के लिए आवश्यक है। राष्ट्रीयता की उन्नति के लिए भाषा, धर्म, शासन, इतिहास, परम्परा, रहन-सहन और रीति-रिवाजो की एकता आवश्यक है, पर ये सब बाते गौण है। इनकी जडें समान देश मे बिताए जाने वाले समान जातीय जीवन पर निर्भर हैं।

भारतीयो ने सस्कृति और सभ्यता मे जो पहले ही उन्नति की, उसका कारण यह था कि वे आरम्भ मे ही भारत देश को अपनी मातृभूमि बना सके थे। समस्त देश के लिए उन्होंने 'भारतवर्ष' यह नाम दिया। पुराणो की परिभाषा के अनुसार भारतवर्ष "वह देश है जो हिमालय के दक्षिण और समुद्र के उत्तर मे है, जहाँ महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान, ऋक्ष (गोडवाना के पहाड), विन्ध्य और पारियात्र

(विन्ध्य का पश्चिमी भाग आडावला तक), ये कुल सात पर्वत है, जहाँ भारत के वशज रहते हैं, जिनके पूर्व मे किरात और पश्चिम मे यवन बसते है। और जहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रवर्ण के लोग हैं।" [देखिए, विल्सन-कृत विष्णुपुराण २/१२७-६] देश के लिए इडिया नाम स्वदेशी नही, विदेशी हैं। पुराने समय में विदेशी लोग भारत को उसके उत्तर-पश्चिम मे बहने वाले महानदी सिन्धु के नाम से पुकारते थे, जिसे ईरानियो ने हिन्दु और यूनानियो ने हकार का लोप करके 'इन्डोस' कहा। लेकिन भारतवर्ष नाम इण्डिया की तरह केवल भौगोलिक सज्ञा नही है, उसका ऐतिहासिक महत्त्व है और इसका अर्थ है, 'भरत जन' का देश, अथवा भारतीय-आर्य सस्कृति का क्षेत्र, जिसके मुख्य प्रचारक भरत लोग थे। हिन्दुओं की एक देशव्यापी स्तुति मे मातृ-भूमि के स्वरूप की कल्पना और पूजा गगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्धु और कावेरी इन सात नदियो के देश के रूप मे की गई है, जो इस समस्त भूखण्ड मे फैली हैं। एक दूसरी स्तुति मे मातृ-भूमि का स्वरूप बताते हुए उसे अयोध्या, मथुरा, माया (हरिद्वार), काशी, काची, अवन्तिका और द्वारावती इन सात पुरियो का देश कहा गया है, जो भारत के प्रमुख भागो मे है। हिन्दुओ की तीर्थयात्रा इन प्रार्थनाओ की भावना को पुष्ट करती है। इसके अनुसार प्रत्येक हिन्दू का कर्तव्य है कि वह अपने जीवन-काल मे अपने धर्म के इन पवित्र स्थानो का दर्शन करे। वैष्णव, शैव और शाक्त हिन्दू-धर्म के इन तीनो सम्प्रदायो मे अपने-अपने तीर्थ-स्थानो की सूचियाँ हैं, जो भारतवर्ष-भर मे फैले हुए है, और किसी एक प्रान्त तक सीमित नही हैं। इस प्रकार हिन्दू-धर्म के सभी सम्प्रदाय अपने अनुयायियो को इस बात का आदेश देते हैं कि वे देश के विभिन्न और दूरतम भागो मे तीर्थ-यात्रा के लिए जाएँ। इस प्रकार अपनी समान मातृभूमि के प्रति उनके हृदयो मे जीवित जाग्रत प्रेम उत्पन्न किया जाता था। इसी विचार मे शकराचार्य ने अपने चार मठ देश के चार कोनो मे बनाए, जैसे ज्योतिर्मठ उत्तर मे (हिमालय पर बदरी-केदार के पास), शारदा मठ पश्चिम मे द्वारका मे, गोवर्द्धन मठ पूर्व मे पुरी मे और शृगेरी मठ दक्षिण के मैसूर मे। इस प्रकार हिन्दू सस्कृति साम्प्रदायिक भक्ति के द्वारा राष्ट्रीयता की सहायक है। कुछ धार्मिक ग्रन्थो मे जैसे 'भागवतपुराण' और 'मनुस्मृति' मे राष्ट्रीयता उत्पन्न करने वाले वचन पाए जाते है, जिनमे भारतवर्ष को देवो के द्वारा निर्मित देश कहा गया है, और यह भी सकेत है कि देवता भी इस भूमि को स्वर्ग मानकर यहाँ जन्म लेने की इच्छा करते हैं। और इन सबके ऊपर महत्त्वशालिनी यह उक्ति है कि जननी और जन्मभूमि दोनो स्वर्ग से भी बढकर है—

'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।'

इन सब प्रार्थनाओ और श्लोको से सूचित होता है कि हिन्दुओ के अनुसार

देश-प्रेम भी धर्म का अग है। एक प्रसिद्ध अग्रेज विद्वान् का कथन है,[1] "हिन्दू के लिए भारतवर्ष न केवल एक सत्ता से शासित होने वाली राजनीतिक इकाई है—चाहे वह सत्ता ईसाई, मुसलमानी या हिन्दू कोई भी हो—बल्कि वह उनकी अध्यात्म-सस्कृति का मूर्त रूप अथवा मातृ-देवी है।··· 'उसके लिए भारतवर्ष उसकी सस्कृति का मूर्तिमान रूप है, जिसमे उसने अपनी आत्मा को उँडेल दिया है। उसके विचारो मे उसकी आत्मा का महान् रूप ही उसकी मातृभूमि है।"

किन्तु धर्म के अतिरिक्त प्राचीन हिन्दुओ को अपने राजनीतिक जीवन से भी मातृभूमि के प्रति अपनी भावनाओ को पुष्ट करने मे सहायता मिली। जब देश एक शासन-सूत्र के अन्तर्गत होता है तो उसकी एकता सहज ही समझ मे आती है—प्राचीन हिन्दू बहुत पुराने समय से ही देश मे सर्वोपरि राजनीतिक सत्ता के आदर्श और अस्तित्व को जानते थे। उसके द्योतक कुछ महत्त्वपूर्ण वैदिक शब्द ये हैं—एकराट्, सम्राट्, राजाधिराज, सार्वभौम, और कुछ वैदिक यज्ञ हैं, जैसे राजसूय, वाजपेय और अश्वमेध। जो राजा दिग्विजय के द्वारा अपने-आपको अन्य राजाओ का अधिपति बना लेता था उसे इन यज्ञो के करने का अधिकार था। कुछ वैदिक ग्रन्थो मे और बाद के महाभारत एव पुराणो मे भी ऐसे सार्वभौम राजाओ या सम्राटो की सूचियाँ पाई जाती हैं। इन पुराकाल के राजाओ के अतिरिक्त ऐतिहासिक युग मे भी देश मे कितने ही सम्राट् हुए हैं, जैसे चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, समुद्रगुप्त, हर्ष, मिहिरभोज और मुस्लिम युग मे अकबर और औरगजेब। कुछेक ने अपने सर्वोपरि आधिपत्य की घोषणा के लिए अश्वमेध यज्ञ भी किया था, जैसे पुष्यमित्र, समुद्रगुप्त, कुमारगुप्त प्रथम, आदित्यसेन और पुलकेशिन् प्रथम। इस प्रकार सार्वभौम सम्राट् के पद का भारतवर्ष मे लम्बा इतिहास है। धार्मिक ग्रन्थों मे क्षत्रिय राजाओ के लिए उचित जिन आदर्शों का उल्लेख है, सार्वभौम सम्राट की कल्पना उसके सर्वथा अनुरूप थी, जिससे अनुसार वे अपने ऐश्वर्य का विस्तार अपनी मातृभूमि की चतुरन्त सीमाओ तक कर सकते थे।

देश की एकता का द्योतन उस विशिष्ट सस्कृति के द्वारा भी होता है जिसकी छाप सारे देश पर लगी हुई है। चौबीस करोड जनसख्या वाले हिन्दुओ ने, जो इस देश के प्रधान 'जन' हैं, उस सस्कृति का निर्माण किया है। फारस देश के लोग पहले भी भारत को हिन्दुओ का देश 'हिन्दु-स्थान' कहते थे। "इसमे सन्देह नही कि भारतवर्ष और हिन्दू धर्म का परस्पर शरीर और आत्मा की तरह

---

१. इंगलैण्ड के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री श्री जे० रैम्से मैकडानल्ड द्वारा लिखित भूमिका, जो उन्होने लेखक की पुस्तक 'दि फण्डामैण्टल यूनिटी ऑव इण्डिया' (लौंगमेन्स, लन्दन) के लिए लिखी।

घनिष्ठ सम्बन्ध है।" [जे० रैम्से मैकडानल्ड, ऊपर उद्धृत पुस्तक से] हिन्दू-धर्म ने समस्त भारतवर्ष को दृढ और स्थायी सास्कृतिक एकता प्रदान की है जिनसे युग-युगान्तर मे राजनीतिक उथल-पुथल के धक्को को सहा है। वह सास्कृतिक एकता हिन्दू धर्म के अन्तर्गत विशेष प्रकार के जातीय स्वराज्य की छत्र-छाया मे सुरक्षित रही है एव देशी और विदेशी शासन-यन्त्रो से उनका सम्पर्क कम ही हुआ है। भारतवर्ष मुख्यतया गाँवो का देश है। ये गाँव स्वराज्यभोगी प्रजातन्त्र के रूप मे जीवित रहते थे। इनमे अपनी सस्कृति की रक्षा के लिए स्थानीय सस्थाओ और सगठनो का एक जाल बिछा हुआ था, जिस पर राजधानी या केन्द्रीय शासन मे होने वाली उथल-पुथल का कोई असर न पडता था। 'हिन्दू धर्म', इस नाम से प्रसिद्ध भारत की आत्म-सस्कृति की प्रधान विशेषताएँ क्या है? हिन्दू-धर्म की जो निजी परिभाषा है उसी मे इनका सकेत भी मिलता है, अर्थात् वर्णाश्रम-धर्म, वह धर्म जो वर्ण और आश्रम-सज्ञक दो प्रकार के विभागो पर आश्रित है, एव हिन्दू धर्म का सबसे विशिष्ट और उसमे एकता लाने वाला गुण है। मूलत, जैसा कि वैदिक साहित्य से ज्ञात होता है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चार अपने मे पूर्ण सामाजिक वर्गों या जातियो मे समाज का बँटवारा करने मे वर्ण-सस्था का जन्म हुआ। समय पाकर ये जातियाँ अनेक उप-जातियो मे बँट गई। इस समय भारत-भर मे हिन्दू सैकडो जातियो और उपजातियो मे बँटे हुए हैं। जाति-पाँति के भेद के विषय मे, जो भारतीय सामाजिक जीवन की बडी विशेषता है, बहुत भ्रम भी पाया जाता है। इसका सम्बन्ध मुख्यतया व्यक्ति के निजी, घरेलू और धार्मिक जीवन से है, सार्वजनिक जीवन से नही। इसमे दो भिन्न-भिन्न जातियो के परस्पर रोटी बेटी के सम्बन्ध का निषेध है, अर्थात् सन्तति-शास्त्र के आधार पर दो भिन्न जातियो के व्यक्ति आपस मे विवाह-सम्बन्ध नही कर सकते और न एक ही थाली मे बैठकर भोजन कर सकते हैं, अथवा अशुद्ध हाथो से छुआ हुआ भोजन कर सकते हैं। भोजन व्यक्ति का निजी कर्म है। यह उतना ही पवित्र है जितना ईश्वर को सम्बोधित करके किया हुआ सध्या-कर्म। पर यह स्मरण रखना चाहिए कि जाति-पाँति का भेद हिन्दू धर्म का एक अग-मात्र है। उसका दूसरा अग व्यक्ति के जीवन मे चार आश्रमो मे विभक्त है, जिनकी पूर्ति स्वाभाविक रीति से होनी चाहिए। ये आश्रम इस प्रकार है: (१) ब्रह्मचारी या विद्या-अध्ययन करने वाला छात्र, (२) गृहस्थ या घर-गृहस्थी सँभालने वाला विवाहित व्यक्ति, (३) वानप्रस्थ या वन मे रहने वाला भिक्षु, और (४) सन्यासी अथवा वह तपस्वी साधू जो ध्यान या ईश्वर-चिन्तन मे लीन रहता है। जीवन का तीसरा आश्रम पचास वर्ष की आयु मे आरम्भ होता है। इस काल मे गृहस्थ के लिए उचित है कि वह सासारिक और घरेलू जीवन से अपने को अलग कर ले

और विश्वजनीन उच्च जीवन की साधना मे तथा दूसरो की सेवा मे अपने-आपको लगा दे। जैसा पहले कहा जा चुका है, अपने वाह्य सामाजिक रूप मे हिन्दू धर्म के दो अग है—एक वर्ण-व्यवस्था और दूसरी आश्रम-व्यवस्था। दुर्भाग्य से आश्रमो की अपेक्षा जाति-पाँति का महत्त्व अधिक वढ गया है। जाति जन्म के आधार पर व्यक्तियो को एक-दूसरे से अलग करती है, किन्तु आश्रम की प्रथा लोगो को ऐक्य की ओर खीचती है और सभी जातियो के लोगो को एक-एक आश्रम से सम्बन्धित विशेष प्रकार के *नियमो मे बाँधती है, जिससे वे निश्चित मार्ग से स्वाभाविक* अवस्थाओ को पार करते हुए उन्नति की ओर वढ सके।

हिन्दू सस्कृति का मुख्य वाहन सस्कृत भाषा है। जनता को एक सूत्र मे बाँधने के लिए सस्कृत का जो प्रभाव पडा है उसे पूरी तरह कह सकना कठिन है। मौनियर विलियम्स ने इस विषय मे ठीक कहा है (Hinduism, पृ० १३)—"यद्यपि भारत मे पाँच सौ से अधिक बोलियाँ हैं पर धार्मिक भाषा केवल एक है और धार्मिक साहित्य भी केवल एक है, जिसे हिन्दू धर्म के सभी अनुयायी, चाहे वे जाति-पाँति, बोली, सामाजिक स्थिति और मत की दृष्टि से कितने ही भिन्न हो, मानते हैं और श्रद्धा से पूजते हैं। वह भाषा सस्कृत है और वह साहित्य सस्कृत-साहित्य है। वही वेद या विश्वजनीन ज्ञान का एकमात्र कोश है। हिन्दू धर्म, दर्शन, व्यवहारशास्त्र और गाथा-शास्त्र का एकमात्र साधन वही है, केवल वही ऐसा दर्पण है जिसमे हिन्दुओ के सभी मत-मतान्तर, विचार, रीति-रिवाज और प्रथाएँ ठीक-ठीक प्रतिबिम्बित हुई है, और (यदि एक चौथे रूपक का हम प्रयोग कर सकें तो) वही ऐसी खान है जहाँ से देशी भाषाओ को उन्नत करने की सामग्री मिल सकती है, अथवा महत्त्वपूर्ण धार्मिक और वैज्ञानिक विचारो के प्रकाशन की सामग्री प्राप्त की जा सकती है।"

अपनी निजी विशिष्टता रखने वाली इस भारतीय सस्कृति ने कालान्तर मे इस प्रकार सारे देश को एकता के सूत्र मे बाँध दिया कि देश और सस्कृति अभिन्न समझी जाने लगी और एक-दूसरे की समानार्थक हो गईं। देश सस्कृति बन गया और सस्कृति देश बन गई। देश भौगोलिक रूप से अपर अध्यात्म जगत् का स्वरूप बन गया। यह भारतीय आर्य-सस्कृति जब ऋग्वेद के समय से यहाँ आरम्भ हुई तो पीछे के युगो मे उत्तरोत्तर विस्तार को प्राप्त होती हुई सप्तसिन्धु, ब्रह्मर्षिदेश, ब्रह्मावर्त, मध्यदेश, आर्यावर्त्त, जम्बूद्वीप, अथवा भारतवर्ष नामक क्षेत्रो मे फैल गई। यहाँ तक कि अपनी प्रबल महाप्राणता के कारण यह भारत की सीमाओ के उस पार विदेशो मे भी पहुँच गई और उसने अपने लिए समुद्र-पार के देशो मे 'बृहत्तर भारत, का निर्माण कर लिया। भारतीय विचार और सस्थाएँ आज तक स्याम, कम्बोडिया (कम्बोज देश), जावा (यव-द्वीप),

सुमात्रा (सुवर्ण-द्वीप), वाली (वलि-द्वीप) और बोर्नियो (वारुण-द्वीप) के साहित्य, मन्दिरो और स्तूपो की कला-कृतियो, लोकवार्ताओ, अनुश्रुतियो, रीति-रिवाजो और रहन-सहन मे पाई जाती है। यह सब उपनिवेशो मे जाने वाले भारतीयो के श्रम का फल है। इनमे से कुछ देशो ने तो अपना धर्म भी भारत से मिला लिया है, जैसे तिब्बत, नेपाल और चीन, जहाँ महायान बौद्ध धर्म का प्रचार है, एव बर्मा, सिंगल, स्याम और कम्बोज देश जहाँ हीनयान बौद्धधर्म का प्रचार है। कर्मण्य और प्रगतिशील राष्ट्रीयता के कारण ही देशान्तरो मे उपनिवेशो का जन्म होता है, जिसके पीछे अपनी मातृभूमि और निजी सस्कृति की भावना प्रेरणा देती रहती है।

इतिहास पर प्रभाव—भारत की इस मौलिक एकता को देखते हुए भी देश की विशालता, भौगोलिक परिस्थितियो की अनेकरूपता और सामाजिक अवस्थाओ की विविधता ने देश के इतिहास और राजनीतिक विकास पर स्वाभाविक प्रभाव डाला। हमेशा ही सारे देश को इकाई के रूप मे सगठित करने और एक केन्द्र से एक सम्राट् या एक शासन-तन्त्र से प्रशासित करने मे कठिनाई का अनुभव किया जाता रहा है। परिणाम यह हुआ कि भारतीय इतिहास मे उस प्रकार की एक इकाई या एकसूत्रित उन्नति, जैसी अग्रेजी इतिहास या फ्रास के इतिहास मे मिलती है, बहुत कम सम्भव हुई। प्राय भारतवर्ष का इतिहास सम्पूर्ण देश के लिए एक सूत्र मे ग्रथित विकास की कहानी न होकर कितने ही छोटे-छोटे गौण और विशृखल टुकडो मे बँट गया है। एक निर्दिष्ट धारा के अनुसार एक केन्द्र से विकसित होने के बजाय भारतीय इतिहास प्राय विभिन्न और एक-दूसरे से स्वतन्त्र केन्द्रो से भी विकसित होता रहा है, जिसके कारण उसकी एकता पृथक् स्थानीय इतिहासो मे खो जाती है, जो विभिन्न जातियो और प्रदेशो को आधार मानकर बने है और हर-एक ने एक-दूसरे के साथ सम्पर्क या सादृश्य के बिना अथवा विरोध मे आकर अपने-अपने पृथक् ढग से अपना विकास किया है। भारत के राजनीतिक इतिहास को कई भागो और खण्डो मे टटोलना पडता है, जिनमे कई व्यवधान है और कही-कही एक-दूसरे से असम्बन्धित रूप मे ऐतिहासिक पुनर्गठन के प्रयत्न हैं और कही-कही तो कुछ कडियाँ खोई हुई भी है। युग-युगान्तर मे होने वाले कितने ही राजाओ और जातियो ने भारतीय इतिहास का निर्माण किया है, जैसे उत्तर मे मौर्य, कुषाण, आन्ध्र, गुप्त और गुर्जर वशो ने एव दक्षिण मे पल्लव, चालुक्य और चोल वशो ने अथवा कालान्तर मे मुसलमान, मराठो, सिक्ख और अग्रेजो ने। ये लोग कितने ही केन्द्रो से, जो प्राय बदलते रहते थे, राज्य करते थे, जैसे पाटलिपुत्र, पुरुषपुर, पैठण, नासिक, उज्जैन, कन्नौज, वादामी, काची, कल्याणी और तन्जौर, अथवा दिल्ली, पूना, लाहौर और कलकत्ता, जो भारतीय इतिहास के पृथक्-पृथक् युगो

मे विभिन्न राज्यो की राजधानी रहे है। हिन्दूकालीन भारत मे केवल एक बार ऐसा देखने मे आता है कि समस्त देश एक ही शासन-तन्त्र और एक ही ऐतिहासिक धारा के अन्तर्गत आ गया। यह अशोक का मौर्य-साम्राज्य था, जिसने अपना शासन समस्त देश पर एव 'बृहत् भारत' के अग-भूत अफगानिस्तान और बिलोचिस्तान पर भी स्थापित किया और वह उन सबका सार्वभौम सम्राट बन गया।

परन्तु हमे यह भी स्मरण रखना चाहिए कि एक केन्द्रीय शासन की स्थापना मे देश की विशालता जैसे बाधक थी वैसे ही प्राचीन-युग की विशेष अवस्था भी, जिसमे यन्त्र-युग से पूर्व आवागमन की वे अनेक कठिनाइयाँ थी जो अब कोयला, बिजली या तेल से उत्पन्न शक्ति के द्वारा हटा दी गई हैं। शासन प्रभावशाली हो और उसका प्रभुत्व सब लोग देश के बडे भाग मे और सुदूरतम प्रदेशो मे भी बराबर स्वीकार करें, इसके लिए यह आवश्यक था कि स्थानीय स्वराज या स्वशासन का अधिकार प्रदान करके शासन-यन्त्र का विकेन्द्रीकरण किया जाए। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय सामान्य इतिहास और जीवन तो पीछे पड गया एव स्थानीय जीवन और इतिहास बहुत-कुछ आगे आ गए। इस प्रकार भारतीय इतिहास परस्पर असम्बन्धित स्थानीय इतिहासो का एक सग्रह-मात्र बन गया। उसमे सारे भारतवर्ष पर लागू राजनीतिक जीवन की कहानी बहुत कम मिलती है।

देश की भौगोलिक विशालता के प्रभावो की अमिट छाप भारतीय इतिहास पर पडी है। यद्यपि वर्तमान काल मे यातायात की सुविधाओ ने देश और काल को छोटा कर दिया है फिर भी वे प्रभाव अभी तक मौजूद हैं। अब भी समस्त भारत समान शासन के अन्तर्गत नही है। १९५१ के पूर्व तक की स्थिति यह थी कि देश के एक-तिहाई भाग मे अनेक रजवाडो की सत्ता थी, जो उस राजनीतिक अवस्था से उत्पन्न हुए थे, जिसमे देश के एकीभूत इतिहास की अपेक्षा छोटे-छोटे स्थानीय इतिहासो को प्रोत्साहन मिला। इस तरह के रजवाडो की सख्या छ सौ से कुछ अधिक थी। ब्रिटिश भारत मे यद्यपि एक शासन था, फिर भी इतने बडे देश मे चुस्त और प्रभावशाली शासन-यन्त्र की स्थापना के लिए उसे कितने ही प्रान्तो मे बाँटना पडा था, जिनमे से कुछ तो यूरोप के कई देशो के बराबर थे। अग्रेजी राज्य और रजवाडो को मिलाकर भारत के शासन को एक सूत्र मे ग्रथित करना उसके राजनीतिक विकास का अगला कदम था, जो अभी हाल मे पूरा हुआ है।

पर यह स्मरण रखने की बात है कि प्रत्येक स्थान के अलग-अलग इतिहास के उस गडबडझाले के पीछे अखिल भारतीय इतिहास की एक पृष्ठभूमि सदा से रही, जो राजनीतिक न होकर सास्कृतिक थी। वह एकता भारतीय विचार और दर्शन के इतिहास मे पिरोई हुई है, जो प्रादेशिक सीमाओ और शासन की छोटी-

छोटी इकाइयो से ऊपर है। समस्त भारतवर्ष पर विचार और जीवन के एक-जैसे आन्दोलनो की छाप पडी है, जिससे एक-जैसे आदर्श और एक-सी सस्थाओ का यहाँ उदय और विकास हुआ, जिनके कारण भारतीय सभ्यता ससार की अन्य सभ्यताओ से अलग पहचानी जाती है और जो उस इतिहास को 'मानव-जाति के सामाजिक, धार्मिक और बौद्धिक विकास मे एक स्वतन्त्र इकाई के रूप मे' प्रतिष्ठित करती है। [वी० ए० स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया, चौथा सस्करण, पृष्ठ ५]

: ४ :

भारत में आर्य : ऋग्वेदीय सभ्यता

आर्यों के मूल के विषय मे ऋग्वेद की साक्षी—भारत का इतिहास एक प्रकार से इस देश मे आर्य-जाति का इतिहास है। उसका आरम्भ आर्यों के भारत मे आगमन से होता है। उसका सबसे प्राचीन स्रोत 'ऋग्वेद सहिता' है, जो न केवल भारतीय आर्यों का वल्कि समस्त आर्य-जाति का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ से न केवल भारत मे आर्यो के इतिहास के प्रारम्भ पर प्रकाश पडता है, वल्कि अन्य देशो के आर्य-इतिहास पर भी, जिसमे उनकी भाषा, शब्दो के रूप, स्वर और छन्द, धर्म और सभ्यता की पूर्वकालीन विकास की अवस्थाएँ सम्मिलित है।

समान आर्य-भाषा और निवास-स्थान—भाषा-शास्त्र के विद्वानो का कहना है कि ऋग्वेद की भाषा व्याकरण और धातुओ की दृष्टि से ईरानी, यूनानी, लातीनी, ट्यटनी, कैल्ट और स्लाव भाषाओ से मिलती है, जैसे वे सब एक ही मूल-भाषा से निकली हुई हो। परिवार के निकटतम सम्बन्धो एव जीवन के मौलिक अनुभवो के सूचक शब्द इन भाषाओ मे एक-जैसे है, जैसे पिता, माता, पुत्र, पुत्री, ईश्वर, हृदय, आँसू, परशु, वृक्ष, श्वान और गौ आदि शब्द। उदाहरण के लिए देखिए, सस्कृत मातृ, लैटिन मातेर, अग्रेजी मदर, सस्कृत सूनु, लिथवानियन सूनू, प्राचीन जर्मन की खडी बोली सुनु, इग्लिश सन।

भाषा-शास्त्र की यह साक्षी महत्त्वपूर्ण आरम्भिक इतिहास की साक्षी प्रस्तुत करती है। इस प्रकार से सम्बन्धित भाषाएँ सूचित करती है कि उनके अर्वाचीन बोलने वालो के पूर्वज किसी एक स्थान मे रहते थे और एक ही भाषा बोलते थे। इन भाषाओ के बोलने वाले अपने उस मूल निवास से चलकर अलग-अलग समूहो मे बँट गए। किन्तु उनके पूर्वज एक ही आर्य 'जन' के अग थे, जिसे हम, 'वीर' कह सकते है, क्योकि पुरुषवाची वीर (Wiros) शब्द इस परिवार की अधिकाश भाषाओ मे पाया जाता है।

प्रश्न यह है कि 'वीर' सज्ञक आर्य लोगो का मूल निवास-स्थान या देश कहाँ

था। इस विषय मे भायूरोपीय या भारत-जर्मनीय भाषाओ मे प्राप्त सामग्री के आधार पर कुछ अनुमान ही लगाया जा सकता है। पहली बात यह है कि 'वीर' जाति किसी द्वीप मे या समुद्र-तट के निकट नही रहती थी, क्योकि उनकी भाषा मे समुद्र के लिए शब्द नही है। दूसरे, वे शीतोष्ण जलवायु मे रहते थे जहाँ उन्हे बाँज, बेत और कुछ पीतदारु परिवार के वृक्षो का परिचय हुआ।[1] तीसरे, वे लोग नियत स्थान मे बसे हुए थे, खानाबदोश या घुमक्कड न थे। वे महीनो श्रम करके अन्न उत्पन्न करते और बैल, गाय, भेड, घोडा, कुत्ता और सुअर इन जानवरो को पालते थे, किन्तु गधा, ऊँट और हाथी नही। घोडा और गाय विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियो के सूचक है। घोडा खुले मैदानो मे चरने जाता है, जहाँ उसके बछेडे (किशोर) मादा के पीछे-पीछे घूमते रहते है, गाय जब चरने जाती है, अपने बछडे को पीछे छोड तो देती है लेकिन उससे दूर नही हटती। मूल आर्य-वास-स्थान ऐसा होना चाहिए जहाँ पशुओ के चरने और कृषि दोनो की सुविधा हो, अर्थात् अश्व-पालन के अनुकूल लम्बे-चौडे घास के मैदान और भेडो के चरने के अनुकूल घास से भरी हुई पहाड़ी उडार दोनो निकट हो।

---

१ अंग्रेजी Oak, Beech, Willow and some coniferous trees, अ० ओक=हिन्दी बाँज। इसलिए भारत-यूरोपीय भाषा मे कई समान शब्द हैं, जिनका मूल अर्थ 'वृक्ष' था। संस्कृत और जन्द भाषा मे 'द्रु' शब्द का, यूनानी भाषा मे 'द्रुस्' का अर्थ बाँज वृक्ष था। इन शब्दो के स्वर विभिन्न होते हुए भी मूल व्यजन द्-र् समान थे, जिनका अर्थ कभी वृक्ष और कभी बाँज का पेड किया जाता था। बाँज यूरोप मे जगल का राजा, प्रधान वृक्ष, 'वनस्पति' समझा जाता रहा है, जिस पर देवो का निवास था।

अ० विलो=हिन्दी बेंत; O H G *wila*, Lat *vitex*= Zend *Vaeli*, पहलवी *wid* फारसी बेद *bid*.

अ० बीच beech के लिए हिन्दी-पर्याय नही मिला। यह मध्य और पश्चिमी यूरोप का वृक्ष है। O H G *buobha*. A S *boce* Lat *fagus*, Slav *buky*, भूर्ज (अ० बर्च *birch* लिथुआनी *berlzas*)। ऐसा वृक्ष था जो यूरोप से भारत तक पाया जाता था।

कोनिफरस वृक्ष—देवदारु, चीड, कैल आदि की जाति के वृक्ष जिनमे पत्तियो की जगह 'सुइयाँ' होती हैं। कहा जाता है कि बाँज आदि पत्रल वृक्षो को हटाकर उनके स्थान पर शनैः-शनैः 'सूची' वाले वृक्षो ने दखल जमा लिया।

डॉ० गाइल्स के मतानुसार (कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया भाग १, अध्याय ३) वृक्ष, वनस्पति और पशु-पक्षी-सम्बन्धी ऊपर की साक्षी से (१) भारतवर्ष, (२) पामीर प्रदेश, जो आरम्भिक निवास के लिए बडा अनुपयुक्त है, (३) यूरोप के उत्तरी मैदान जहाँ पहले घने वन थे, (४) रूस के दक्षिणी मैदान और (५) उत्तरी ध्रुव, ये प्रदेश मूल आर्य-वास-स्थान नही हो सकते। उनका सुझाव है कि हंगरी, आस्ट्रिया और बोहेमिया वाला यूरोप का टुकडा ही वह प्रदेश था।

आर्यों का फैलना—इस मूल देश से पूर्व की ओर जो आर्य फैले (जिनसे भारतीय इतिहास का सम्बन्ध है) वे नये जगल और गोचरो की खोज मे डैन्यूब नदी के किनारे-किनारे वालेशिया तक बढे और आगे दक्षिण मे बासफोरस और दर्रे दानियाल पर जा उतरे। उन्हे पार करके एशिया माइनर का पठार पार करने के बाद वे उफरातु और तिग्रा नदियो की अन्तर्वेदी के सिरे पर जा निकले। किन्तु वहा अन्य बलवान जाति का राज्य होने के कारण उससे बचते हुए तब्रेज़ और तेहरान के रास्ते ईरान मे प्रविष्ट हुए और मशद, हेरात और बलख की ओर आगे बढे।

ऋग्वेद और अवस्ता मे साम्य—अन्तिम प्रदेश मे वे आर्य बसे जो भारतीय और ईरानियो के पूर्वज थे। इसलिए उनके धार्मिक ग्रन्थ ऋग्वेद और अवस्ता मे भाषा और विचार की समता किसी भी यूनानी, लातीनी या भारतीय-जर्मन साहित्य से अधिक है। न केवल इक्के-दुक्के शब्द और वाक्याश बल्कि पूरे-पूरे वाक्य भारतीय भाषा से ईरानी भाषा मे बिना शब्दावली या वाक्य-रचना को बदले परिवर्तित किये जा सकते है। यह निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट होगा—

१—छन्द

अवस्ता	**वैदिक भाषा**
तत् थ्वा	तत् त्वा
पेर्श एर्स	पृच्छा ऋजु
मोइ वोचा	मा वच
अहुरा	असुर
ता चीत्	ता चित्
मज्दा	मेधिष्ठ
वश्मी	वश्मि
अन्याचा	अन्याचा
वीद्ये	विदे

२—देवता

अवस्ता	वैदिक
इन्द्र	इन्द्र
वायु	वायु
मिथ्रु	मित्र
नाओनहइथ्य	नासत्य
वेरेथ्घ्न	वृत्रघ्न

इससे ज्ञात होता है कि हिन्दुओ और ईरानियो के पूर्वज औरों की अपेक्षा अधिक काल तक एक-दूसरे के साथ रहे। सम्भवत वे सबसे अन्त मे अपने मूल वास-स्थान से निकले, क्योकि उनकी भाषा मे आर्य-सस्कृति का सबमे अधिक अश धातु, व्याकरण, शब्द, गाथाओ और उपाख्यानो के रूप मे आया।

ऋग्वेद का काल—विदेशी और भारतीय प्रमाण—अब प्रश्न यह है कि इन महत्वपूर्ण देशान्तरो मे प्रवास का सम्भावित काल कौनसा था। इस पर भारत के बाहर की एक नई सामग्री से प्रकाश पडता है। एशिया माइनर के बोगाज कुई नामक स्थान मे १४०० ई० पू० के कुछ अभिलेख मिले हैं जिनमे खत्ती (Hittites) और मितानी (Mitani) जातियो मे हुई सन्धि का उल्लेख है। वहाँ सन्धि की शर्तों की रक्षा के लिए साक्षी रूप मे दिये हुए देवताओ के नाम इस प्रकार हैं—

'इलानि मि-इत्-र अश्-शि-इल् (इलानि) उ-रु-व न-अश्-शि-इल् (इलु) इन्-दार (इलानि) न-श-अ (त्-ति-इअ-अ) न्-न · ' ये नाम ऋग्वेद मे दिये हुए मित्र, वरुण, इन्द्र और दोनो नासत्य देवताओ से मिलते हैं। चूंकि ये देवता अवस्ता मे भी आए हैं, कुछ विद्वानो का विचार है कि वे उस काल के अविभक्त आर्यों के देवता हैं, जब भारतीय और ईरानी एक-दूसरे से अलग नही हुए थे। किन्तु इन अभिलेखों मे नामो के जो रूप हैं वे ऋग्वेद से अधिक मिलते है। इस हालत मे यह मानना पडेगा कि ऋग्वेद और उसकी आर्य-सस्कृति १४०० ई० पू० मे बहुत पहले भारत मे जड जमा चुकी थी, जिससे वह सुदूर एशिया माइनर की तत्कालीन सस्कृति पर अपना प्रभाव डाल सकी।

बोगाज़ कुई अभिलेखो के ही समय के कुछ प्रसिद्ध पत्र तल्ल-अल्ल्-अमरना गाँव से मिले थे, जिनमे कुछ मितानी राजाओ के नाम सस्कृत रूपो से मिलते हैं। आर्ततम, तुपरत्त, सुततर्न (वैदिक सुत्राण) बेबीलोनिया पर राज्य करने वाले लगभग १७४६-११८० ई० पू० कस्सी (Kassites) राजाओ के नाम सस्कृत हैं, जैसे शुरिअस् (सूर्य), मर्यतस (वैदिक मरुतस) इत्यादि। असुर बनीपाल के (लगभग ७०० ई० पू०) पुस्तकालय मे, असीरिया मे पूजे जाने वाले देवताओ

की सूची मिली है, जिसमे अस्सर-मजस् नाम है, जो अवस्ता के मुख्य देव अहुर मज्द का रूपान्तर है, यद्यपि अस्सर अवस्ता के अहुर की अपेक्षा सस्कृत के असुर से अधिक मिलता है।

भारतीय साहित्य के प्रमाणो से भी आर्यों के भारत-देश मे आगमन और ऋग्वेद की वैसी ही प्राचीनता ज्ञात होती है। यदि भारत मे बौद्ध धर्म का उदय ६०० ई० पू० के लगभग माना जाए तो उसमे पूर्वकालीन रूप से उल्लिखित भारतीय साहित्य और सस्कृति उस युग से पहले की होनी चाहिए। सस्कृत साहित्य के सूत्र, आरण्यक, उपनिषद्, ब्राह्मण, चार वैदिक सहिताएँ एव उनसे पूर्ववर्ती मूल मन्त्र-समूह, जो पीछे ऋग्वेद-सहिता के रूप मे सकलित हुआ, इन भिन्न-भिन्न शैलियो के विकास के लिए हमे पर्याप्त समय मानना पडेगा। अत उचित उपपत्ति से लगभग २५०० ई० पू० मे ऋग्वेद का काल मानना होगा।

ऋग्वेद मे सभ्यता का ऊँचा स्तर—स्वय ऋग्वेद मे आर्यों के इस आवागमन के विषय मे एक शब्द भी नही है। उसमे स्थान-विशेष मे बसे हुए जन, व्यवस्थित समाज और पूर्ण उन्नत सभ्यता का वर्णन है। हिन्दू अनुश्रुति का विश्वास है कि ऋग्वेद मे भारतीय सस्कृति के उषा-काल के स्थान पर उसके मध्याह्न-काल के दर्शन होते हैं। यह सस्कृति सरस्वती देवी की उसी मूर्ति के समान है जो पूर्ण युवती के रूप मे एक समय मे प्रकट हुई। भारतीय विचारो के महान् वट-वृक्ष का मूल ऋग्वेद है, जिनसे अनेक मत, दर्शन और धर्मो की शाखा-प्रशाखाएँ फूटी है। ऋग्वेद आज तक उस गायत्री मन्त्र का मूल स्रोत है, जिसके अक्षरश जप मे श्रद्धा रखने वाले करोडो हिन्दू उसके प्रत्येक स्वर, वर्ण और शब्द को पवित्र मानते है और उसके स्थान मे मनुष्य-विरचित किसी भी अनुवाद या अन्य जप को स्वीकार नही करते।

ऋग्वेदकालीन भारत—उसकी नदियाँ, प्राकृतिक दृश्य और जन—ऋग्वेद के आर्य विस्तृत भू-प्रदेश मे बसे हुए थे। उस क्षेत्र मे उन्होने स्वतन्त्रता से अपनी सस्कृति और विशेष प्रवृत्तियो का विकास किया। ऋग्वेदकालीन भारत की भौगोलिक सीमाएँ ऋग्वेद मे आये कुछ नामो से जानी जाती है। पश्चिम की ओर कुभा (काबुल), क्रुमु (कुर्रम), गोमती (गोमल), सुवास्तु (स्वात) नदियाँ बताती हैं कि उस समय अफगानिस्तान भी भारतवर्ष का अग था। उसके बाद पजाब की पाँच नदियो का उल्लेख है—सिन्धु (सिन्ध), वितस्ता (झेलम), असिक्नी (चुनाब), परुष्णी (इरावती या रावी), विपाश् (व्यास) और उनके साथ ही शुतुद्री (सतलज) और सरस्वती, यमुना और गगा के नाम भी आये हैं। ऋग्वेद के एक भाग मे जहाँ उषा के सूक्त है, पजाब के अद्भुत सौन्दर्यशाली प्रात काल की झाँकी मिलती है। लेकिन उसके अधिक भाग मे बादल

और विजली, मेघो और पर्वतो से घनघोर वर्षा के रूप मे रुद्र प्रकृति का वर्णन है जो पजाब मे नही ब्रह्मावर्त के उस प्रदेश मे पाई जाती है जहां सरस्वती और दृषद्वती नदियां वहती है। यही ऋग्वेद का अधिकाश भाग बना होना चाहिए।

ऊपर कहा हुआ भौगोलिक प्रदेश कई वैदिक जनो मे बँटा हुआ था, जिनमे से कुछ प्रधान जनो के नाम मिलते हैं—जैसे गाधारि (जो अपने ऊनी माल के लिए प्रसिद्ध थे), मूजवन्त[1] (जहां का सोम प्रसिद्ध था), अनु, द्रुह्यु, और तुर्वश (परुष्णी के तट पर), पूरु और भरत (जो मध्य देश मे थे)।

राजनीतिक संगठन—दस राजाओ का युद्ध—ऋग्वेदकालीन भारत मे राजनीतिक एकता का भी पूरे वेग मे विकास हो रहा था। ऋग्वेद मे दाशराज्ञ (७।३३।२, ५।८३।८) अर्थात् दस राजाओ के युद्ध का वर्णन है जो भरतो के राजा सुदास के साथ हुआ। यह सघर्ष उत्तर-पश्चिम मे बसे हुए पूर्वकालीन जन और ब्रह्मावर्त के उत्तरकालीन आर्यो के बीच राज्याधिकार के लिए हुआ। मालूम होता है कि ऋग्वेद के समय की सभी जातियो ने, जिनमे अनार्य भी थे, इस महान् युद्ध मे भाग लिया। सिन्धु नदी के पश्चिम मे पाँच जन मुख्य थे—अलिन (वर्तमान काफिरिस्तान), पक्थ (वर्तमान पख्तून), भलान (सम्भवत बोलन दर्रे के निवासी), शिव (सिन्धु के पास) और विषाणिन्। इनके अतिरिक्त पाँच दूसरे जन सिन्धु के इस पार के भीतरी प्रदेश के थे, जैसे अनु, द्रुह्य, तुर्वश, यदु और पूरु। इस जमघट मे तीन जन जमुना तटवासी ही थे जो अनार्य ज्ञात होते हैं। वे अज, शिग्रु और यक्षु थे। उनका नेता भेद था। इस समूह मे शिम्यु नाम का एक और अनार्य राजा भी था। दूसरे आर्य राजाओ मे कवष, शम्बर और दो वैकरण थे जो अपने साथ अपने अनुयायी इक्कीस जनो को और लाए। राजाओ के पुरोहित ऋषि लोग इस युद्ध मे नेतृत्व करते हैं। विश्वामित्र, दाशराज्ञ-सगठन के नेता थे और उनके प्रतिपक्षी सुदास के नेता वसिष्ठ थे। अनुओ के नेता भृगु थे। इस युद्ध मे विजयी सुदास ऋग्वेदकालीन भारत के सर्वोपरि सम्राट् बन गए।

ऋग्वेदकालीन जनो मे भरता के अतिरिक्त पूरु भी महत्त्वपूर्ण थे। वे दोनो आगे चलकर कुरुओ मे मिल गए। उन्ही के सहकारी क्रिवि और सृञ्जय थे।

विभिन्न आर्य जनो मे प्रभुत्व के लिए यह सघर्ष उस राजनीतिक विकास का अग था जिसके द्वारा ऋग्वेदकालीन भारत वडे राजनीतिक समूहो मे सगठित

---

१ मूल लेखक ने मूजवन्त को कुहा के तट पर लिखा है। वस्तुत मूजवन्त की पहचान मुंजान इलाके से की जानी चाहिए जो वक्षु नदी के दक्षिण मे गलचा भाषा-भाषी क्षेत्र है और जहां की बोलियां आर्य-भाषा परिवार की हैं।

होकर एक सार्वभौम या सम्राट् के शासन मे आ रहा था। इस राजनीतिक विकास का उतना ही महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि आर्य लोग आदिम निवासी अनार्य जातियो पर पूर्ण रूप से अपनी विजय स्थापित कर सके। आर्य और अनार्य लोगो के मौलिक द्वन्द्व की झाँकी ऋग्वेद मे प्राय मिलती है। इस सघर्ष का कारण सास्कृतिक भी था और राजनीतिक भी।

ऋग्वेद मे अनार्य—ऋग्वेद मे अनार्यों को दास, दस्यु या असुर कहा गया है। कुछ अनार्य सरदारो के नाम इस प्रकार आए है—इलिबिस, धुनि, चुमुरि पिप्रु, वर्चिन् और शम्बर। कुछ अनार्य जनो के नाम भी है, जैसे शिम्यु, कीकट, अज, यक्षु और शिग्रु। ऋग्वेद १।१३३।४ मे पिशङ्ग वर्ण के पिशाचो और राक्षसो का उल्लेख है, जो युद्ध के समय भयकर कोलाहल करते थे।

आर्य और अनार्य जनो का भेद स्पष्ट मिलता है। वह शारीरिक भी है और सास्कृतिक भी। अनार्य काले रग के और अनास या चपटी नाक वाले थे (जैसे द्रविड)। (१) उनकी भाषा वैदिक-सस्कृति से भिन्न थी जो स्पष्ट नही थी (मृध्र-वाक्), (२) वे वैदिक कर्मकाण्ड से शून्य थे (अकर्मन्), (३) वे वैदिक देवो को नही पूजते थे (अदेवयु), (४) वे देवो के लिए भक्ति से रहित थे (अब्रह्मन्), (५) वे यज्ञ से विरहित थे (अयज्वन्), (६) वे वैदिक व्रतो का पालन नही करते थे (अव्रत), (७) उनके स्थान मे वे भिन्न प्रकार के व्रत या धार्मिक नियमो को मानते थे (अन्यव्रत), (८) वे वैदिक देवो के निन्दक थे (देवपीयु), और (९) वे लिंग की पूजा करते थे (शिश्नदेव)।[1] (७।२१।५, १०।९९।३)।

---

१. इनमे से कुछ विशेषण आर्यों के लिए भी प्रयुक्त हुए हैं। ऋग्वेद ७।८।३।७ मे दस राजा और उनके सहायक जो सुदास के शत्रु थे, अयज्यु (यज्ञ-रहित), और ७।१८।१६ मे अनिन्द्र (इन्द्र को न मानने वाले), अन्यत्र ऋग्वेद ७।१०४।१४-१५ में स्वयम् वसिष्ठ ऋषि को अनृत देव (झूठे देवो को मानने वाला) कहा गया है। इस प्रमाण के आधार पर और इस बात से कि सुदास के विरुद्ध लडने वालो मे अनार्य सरदार और जातियाँ थीं, श्री रमाप्रसाद चन्दा ने यह परिणाम निकाला था कि ऋग्वेदीय इतिहास का सम्बन्ध आर्यों या इन्द्रपूजक राजाओ के घरेलू युद्ध से था, न कि आर्यों और अनार्यों के युद्धो से। उनका यह भी मत था कि ऋग्वेद के युग मे आर्यों का विस्तार और युद्ध आदिवासियो के साथ नहीं हुआ, किन्तु उस समय आर्य और दास एक ही मातृभूमि के पुत्रो की तरह आपस मे मेल कर चुके थे। उनकी कुछ दूसरी मान्यताएँ, जो विवादग्रस्त हैं, ये हैं—(१) इन्द्र,

आर्यों ने अनार्यो को वनो और पहाडो की ओर हटा दिया और उन्हे दास बना लिया। वैदिक साहित्य मे प्राय 'दासी' का उल्लेख आता है। ऋग्वेद के 'पुरुष सूक्त' मे विराट् पुरुष के शरीर से चार वर्णो की उत्पत्ति का उल्लेख करते हुए चौथे वर्ण शूद्र का नाम आया है, जिसमे दास भी सम्मिलित थे। अन्तर्विवाह या मैत्री-सम्बन्ध के फलस्वरूप आर्यो और अनार्यो के बीच मे अनिवार्यत एक प्रकार का मिश्रण भी हो रहा था। इस प्रकार की मैत्री के उदाहरण ऊपर कहे हुए दाशराज्ञ युद्ध मे आ चुके है। आर्यो ने भारत मे तीन प्रकार का नियोग-कार्य पूरा किया, देश की विजय, उसका उपनिवेशीकरण और उसे सस्कृति प्रदान करना। आदिवासियो को जीतना और उन्हे अपने मे पचा लेने का काम भी आवश्यक था।

किन्तु कृष्ण-वर्ण अनार्यो को परास्त करना हँसी-खेल न था। ऋग्वेद के अनार्य अपनी बढी-चढी सभ्यता के साथ दुर्गो मे सुरक्षित थे। ऋग्वेद मे उनके पुरो और दुर्गो का उल्लेख है (१।४।१।३), जिन्हे लोहे का (आयसी, २।५८।८), पत्थर का (अश्ममयी ४।३०।२०), लम्बे-चौडे (पृथिवी), विस्तृत (उर्वी), गउओ से भरे हुए (गोमती, अथर्व ८।६।२३) कहा गया है। ऐसे ही सौ खम्भो वाले दुर्गों (शतभुजी, ऋग्वेद १।१६।८, ७।१५।१४) और शरत्कालीन जलौघ से बचाने वाले दुर्गो का उल्लेख हुआ है।

वरुण, अग्नि और अन्य देवो के मानने वाले ऋषियो के धर्म को सिन्धु उपत्यका के लोगो ने स्वीकार कर लिया था, जिनका अपना धर्म और सस्कृति अवनति पर थीं। (२) भरत, पुरु, यदु, तुर्वश, अनु, द्रुह्यु आदि वैदिक क्षत्रिय-जन भारत की प्रात-युगीन जनता के प्रतिनिधि थे। (३) ऋषि अर्थात् ब्राह्मण और क्षत्रियो मे भारी सांस्कृतिक मतभेद था। क्षत्रिय या इतर जातियां नर-बलि, अनुमरण (सती प्रथा) और ऐसे ही ब्राह्मण विद्विष्ट रीति-रिवाजो को मानती थीं। (४) जातियो की विभिन्नता सस्कृति के भेद से उत्पन्न हुई। (५) वैदिक धर्म और सिन्धु-उपत्यका के धर्म का जब एक-दूसरे से सम्पर्क हुआ तो दो बातो मे परिवर्तन हुआ, एक तो योग-परम्परा, जिसमे पहले बलि की विशेषता थी, वैदिक धर्म के अनुकूल बनाई गई। दूसरे, लोक-धर्म मे बहुत-सी अवैदिक बातो की मान्यता जारी रही। योग का जन्म इसी देश मे हुआ, इसका प्रमाण मोहेजोदडो मे मिली हुई कुछ पत्थर की मूर्तियां हैं, जिनके नेत्र अर्ध-निमीलित और दृष्टि नासाग्र पर केन्द्रित हैं। चन्दा के अनुसार ये प्रागैतिहासिक सिन्धु-सभ्यता और उत्तर-कालीन हिन्दू-जैन-बौद्ध-सभ्यता के बीच की कड़ियाँ हैं। [पुरातत्त्व विभाग का मेमॉयर, स० ४१]

हडप्पा और मोहेजोदडो की खुदाई मे मिले हुए नगरो के खण्डहरो मे इस सभ्यता के अवशेष मिले है। आर्यों के प्रमुख विरोधी अनार्य पणि लोग थे जो यास्क के अनुसार वाणिज्य व्यवसायी थे (निरुक्त ६।२७)। यही सिन्धु उपत्यका की वाणिज्य-प्रधान सभ्यता के निर्माता थे, जैसा कि वहाँ की खुदाई मे मिले हुए समुद्री शङ्खो की बनी हुई वस्तुओ से ज्ञात होता है। सिन्धु-घाटी मे आर्यों को एक उन्नत सभ्यता से टक्कर लेनी पडी[1] वह अनेक नगरो मे फैली हुई थी, जिन्हे जीतना आवश्यक हो गया। इसलिए आर्यों के देव इन्द्र 'पुरन्दर' अर्थात्-पुरो के भेदन करने वाले कहे गए।[2] (ऋग्वेद १।१०३।३)।

ऋग्वेद के कुछ मन्त्रो से आर्य और अनार्य के इस सघर्ष पर प्रकाश पडता है। मन्त्र १।१-४।७-८ मे पृथ्वी को दास लोगो की श्मशान-भूमि (उपवर्हणी) कहा गया है। मन्त्र द्वितीय, २०।६।७ मे इन्द्र को पुरन्दर और कृष्ण-योनि दासो की सेनाओ का नाश करने वाला कहा गया है। मन्त्र ४।१६।१३ मे ५० सहस्र कृष्ण-वर्ण दासो को युद्ध-भूमि मे मारने और पुरो के नाश करने का उल्लेख है। मन्त्र ४।३०।२१ मे ३० सहस्र दासो को माया से मूर्छित करने का उल्लेख है। मन्त्र १।४३।८ मे वगृद नामक अनार्य राजा के सौ पुरो का ऋजिश्वा के द्वारा भेदन करने का वर्णन तब आया है, जब कि कृष्ण वर्ण वाले दासो पर चढाई की। अनेक मन्त्रो मे पर्वत-निवासी दास सेनापति शम्बर के पुरो या दुर्गों के ध्वस का उल्लेख है, जिनकी सख्या नब्बे (१।१३०।७), निन्यानवे (२।१६।६), और सौ (२।१४।६) कही गई है। मन्त्र १०।२२।८ मे इन्द्र के लिए की गई आर्यों की स्तुति मे परिस्थिति को सक्षेप मे इस प्रकार कहा गया है—'हमे सब ओर से दस्यु घेरे हुए है। वे यज्ञ-कर्म नही करते (अकर्मन्), न वे किसी चीज़ को मानते है (अमन्तु), उनके व्रत हमसे भिन्न हैं (अन्यव्रत), वे मनुष्यो-जैसा व्यवहार नही करते (अमानुष)। हे शत्रु-नाशन्, तू उनका वध कर और दासो का नाश कर।'

---

१. पजाब के दक्षिण मे फैली हुई एक सभ्यता का परिचय आर्यों को था, यह बात ऋग्वेद के एक मन्त्र (६।२०।१२, उसकी आवृत्ति १।१७४।६) से ज्ञात होती है जिसमे यह कहा गया है कि इन्द्र, तुर्वश और यदु को स्वस्तिपूर्वक समुद्र के पार ले आये। इससे अनुमान होता है कि ऋग्वेद के अन्य आर्य तो उत्तर-पश्चिम से आये थे, किन्तु तुर्वश और यदु दक्षिण से आये और आर्य जाति मे मिलने के योग्य माने गए। [श्री रमाप्रसाद चन्दा, पुरातत्त्व विभाग का मेमॉयर स० ३१]

२. वही।

अन्य पालतू जानवर थे। कुत्ते चौकीदारी, पशुओ की रक्षा, रात की पहरेदारी आदि के काम मे आते थे (४।१५।६, ८।२२।२, ७।५५।३)। गोपालो की देख-रेख मे गायें गोष्ठ (१।१६१।४) मे चरती थी। गोपाल के पास एक अंकुश होता था और वह गड्ढे मे गिरने, खोने या चुराए जाने से गौओ की रक्षा करता था। कभी-कभी गौओ के लिए लोग धाड़ें भी मारते थे (गविष्ठि, १।६१।२३)। गायो के कानो पर स्वामित्व-सूचक चिह्न बना दिए जाते थे।

ऋग्वेद मे कृषि को बहुत महत्त्व दिया गया है। पचविंश ब्राह्मण (१७।१) के अनुसार कृषि से ही आर्य की पहचान व्रात्य से की जाती थी, जो तत्कालीन हिन्दू समाज से पृथक् थे।

हल मे जोनी जाने वाली धरती उर्वरा या क्षेत्र कहलाती थी। हल मे छह, आठ या बारह तक बैल जोडे जाते थे (८।६।४८, १०।१०१।४)। अन्न पक जाने पर हॅसिया (दात्र, सृणि) से काटा जाता था और तब बाँधकर गट्ठे बनाए जाते थे (पर्श) (८।७८।१०, १०।१०१।३, १३१।२)। उसे खलिहान (खल) मे इकट्ठा करके मॅडनी की जाती थी (१०।४८।७)। चलनी (तितउ) और सूप (शूर्प) का भी उल्लेख किया गया है (१०।७१।२)। उसाई करने वाला धान्यकृत् कहलाता था (१०।६४।१३)। अन्न मापने के बरतन को उर्दर कहा गया है (२।१४।११)।

खाद शकन् या करीष कहलाती थी। शतपथ ब्राह्मण मे एक स्थान पर जुताई, बुआई, लवनी और मॅडनी का उल्लेख आया है (कृषन्त, वपन्त, लुनन्त, मृणन्त, १।६।१।३)।

सिचाई—मनुष्यो के लिए कुएँ (अवट) और पशुओ के लिए लकडी की चरही (द्रोण, आहाव) (१०।१०१।७) का उल्लेख है। कुएँ से सिंचाई का पानी खीचने के लिए चरस (कोष), बरत (वरत्रा) और गरारी (अश्म-चक्र) का प्रयोग किया जाता था (१०।१०१।५-६)। ऊपर निकाला हुआ पानी चौडी पनाली या बरहो (सुषिरा सूर्मि) द्वारा खेतो मे ले जाया जाता था (८।६९।१२)। पोखर (ह्रद) और नहरो (कुल्या) मे सिंचाई होती थी (३।४५।३, १०।६६।४)।

खेती के शत्रु—खेती को हानि पहुँचाने वाले शत्रुओ, जैसे कीडो, चिडियो, टिड्डियो आदि का उल्लेख है (१०।६८।१)। अतिवृष्टि और अनावृष्टि से भी खेती को हानि पहुँचती थी।

धान्य—खेती मे होने वाले अन्न को यव और धान्य कहा गया है (१।११७। २१, ६।१३।४)। बृहदारण्यक उपनिषद (६।३।१३) मे दस तरह के ग्राम्य धान्यो का वर्णन है—व्रीहि, यव, तिल, उडद (माष), गेहूँ (गोधूम), मसूर, चना (अण्ड), प्रियगु, खल्व, और खलकुल।

धन—गाय, घोड़े और अश्व पशु इन्हें ही धन समझा जाता था (अश्विन नुपुष्टि वीरवन्त रयि नशते स्वस्ति, ५।४।११)।

मृगया—ऋग्वेदकालीन भारतीय कृषि और पशु-पालन के अतिरिक्त जीविका, विनोद और जंगली जानवरों से पशुओं की रक्षा के लिए शिकार भी खेलते थे। इनके साधन ये थे—बाण (ऋ. २।४२।२), जाल (अथर्व १०।१।३०) जिसे पाश (३।४५।१) निधा (९।८३।४), जाल (अथर्व १०।१।३०) या कुशीजा (ऋ ५।१२५।२) भी कहा जाता था। इनसे शिकार करने वाले बहेलिये निधापति होते थे (९।८३।४)। हिरन (ऋश्य) गड्ढों में पकड़े जाते थे (ऋश्यदा) (१०।३९।८)। वराह का शिकार कुत्तों से किया जाता था और जंगली भैंसे का शिकार फेंके जाने वाले फन्दे से, (क्षेप्णो जारा १०।५१।६)। सिंह को पकड़ने के लिए गड्ढे की युक्ति काम में लाई जाती थी (परिपद १०।२८।१०), अथवा शिकारियों द्वारा छिपकर (कुल्लमद ५।७४।४) पीछा करते हुए चारों ओर से सिंह को बीच में घेरकर भी शिकार किया जाता था। (सिंह न क्रुद्धमभित परिष्ठु, ५।१५।३)। जंगली हाथियों के (मृग) पकड़ने के लिए पालतू हथिनियाँ (रेनु) काम में लाई जाती थी (८।२।६)।

कारु-शिल्प—बढ़ई (तक्षा ९।११२।१) शिल्पियों का अगुआ था। यह युद्ध या सवारी के लिए रथ, माल ढोने के लिए छकड़े (अनस् ३।३३।९) बनाता था, जिनकी छत 'छदिस्' कहलाती थी (१०।८५।१०)। वह परशु (१।१०५।१८) और बसूले (वाशी) से काम करता था और सुन्दर नक्काशी का काम करता था (प्रिया व्यक्ता तष्टानि, १०।८६।५)। धातु का काम करने वाले कर्मार कहलाते थे (१०।७२।२), जो धातु को आग में गलाते थे (अधमत १०।७२।२, ५।९।५ उपध्माता इव धमति)। वह चिड़ियों के परों की धौंकनी (पर्णेभि शकुनानाम) और सूखी लकड़ियों से धातु को गलाकर उनके बर्तन बनाता था (अयस्मय घर्म, ५।३०।१५)। लोहे को पीटकर भी बर्तन बनाये जाते थे (अयोहत, ९।१।२)। सुनार (हिरण्यकार) सोने के आभूषण गढ़ता था (१।१२२।२)। सोना सिंधु जैसी नदियों से, जिसे 'हरण्यवर्तिनि' कहा गया है। (६।६१।७) और भूमि से (निखात स्वमम्, १।११७।५) प्राप्त किया जाता था। चर्मकार प्रत्यञ्चा, गोफना, रथ कसने की बद्धियाँ, रास, चाबुक, या मशक (दृति) आदि चमड़े का सामान तैयार करता था। चमड़ा कमाने की कला भी ज्ञात थी (वैदिक इण्डैक्स, १।२३४, २५७)। कपड़ा बुनने वाला (वासो वाय, १०।२६।६) अपने करघे (वेम) पर बुनाई का काम करता था। बुनने की करघी 'तसर' कहलाती थी, ताना 'ओतु' और बाना 'तन्तु' कहलाता था (६।२।९)। बुनाई का काम बहुत करके स्त्रियाँ करती थी (१।९२।३)। एक मन्त्र में (९।११२।३) ऋषि ने अपने पिता को

भिषज और माँ को चक्की पीसनेवाली (उपलप्रक्षिणी) कहा है।

व्यापार और नगदी—ऋग्वेद मे व्यापारी के लिए वणिक् शब्द है (१।१२२।११)। वस्तुओ के विनिमय की प्रथा थी। दस गायो को देकर इन्द्र की एक प्रतिमा लेने की बात एक मन्त्र मे कही गई है (क इम दशभिर्ममेन्द्र क्रीणाति धेनुभि, ४।२४।१०)। हाट के भाव-ताव एव सौदा पक्का करने के उत्तरदायित्व का भी उल्लेख हुआ है—'कोई थोडे दाम पर (कनीय वस्न) भारी मूल्य की वस्तु बेच देता है, पर फिर लेनेवाले के पास जाकर यह कहता है कि मैंने नही बेची (अविक्रीत) और अधिक मूल्य चाहता है, किन्तु इसलिए कि उसने कम मूल्य पर अधिक वस्तु दे दी है वह मूल्य नही बढा सकता (भूयसा कनीयो न अरिरेचीत्। मूल्य कम हो या अधिक बिक्री के समय जो तय हो उसे ही दक्ष-विक्रेता और दीन-क्रेता दोनो को मानना चाहिए' (४।२४।९)। रुपये-पैसे का उल्लेख मन्त्र १।१२६।२ मे झलकता है, जहाँ सौ निष्क और अश्व देने का वर्णन है। ऋण का व्यवहार भी चलता था (२।२७।४)। प्राय कितव या पासा खेलने वाले ऋण-ग्रस्त हो जाते थे। एक जगह आठवाँ या सोलहवाँ भाग व्याज के रूप मे या मूल लौटाने के रूप मे देने का उल्लेख है (यथा कला यथा शफ यथ ऋण सन्नयामसि, ८।४७।१७)।

सामुद्रिक व्यापार भी होता था। ऋग्वेद (७।९५।२) मे समुद्र शब्द का अर्थ निश्चित रूप से सागर है, जहाँ सरस्वती नदी के पर्वत से समुद्र तक बहने का उल्लेख है। समुद्र से प्राप्त होने वाले धन (रयिं समुद्रात् १।४७।६, वसूनि समुद्रात् ७।६।७, ९।९७।४४), का भी उल्लेख हुआ है, जिसका तात्पर्य मोती या समुद्री व्यापार से होने वाला लाभ हो सकता है (१।४८।३, ५६।२, ४।५५।६)। एक कहानी मे भुज्यु के जहाज (नाव) के समुद्र मे टूट जाने का उल्लेख है। वह अथाह और आश्रयरहित समुद्र मे गिर पडा जहाँ से सौ डाँडो से युक्त जहाज मे अश्विनी-कुमारो ने उसका उद्धार किया (भुज्युम् अस्त शतारित्रा नावम् आतस्थि-वासम १।११६।३—५)। इनमे निश्चित रूप से पोतो द्वारा सामुद्रिक यात्रा करने का प्रमाण पाया जाता है।

वेष-भूषा—लोगो की वेष-भूषा (वासस्, १।३४।१, वसन १।९५।७, वस्त्र १।२६।१७) मे एक अधोवस्त्र (नीवी) और एक उत्तरीय (अधीवास, १।१४०।९) शामिल थे। वस्त्र प्राय भेड की ऊन से बनते थे (ऊर्णा, ४।२२।२)। परुष्णी की ऊन और गन्धार की भेडे (१।१२६।८) प्रसिद्ध थी। पेशस्कारी नाम की स्त्रियाँ सुईकारी से कसीदे के वस्त्र (पेशम्) तैयार करती थी। सुनहली जरी या किमखाब की लम्बी अचकन (हिरण्मयान् अत्कान्) का भी उल्लेख है। मुनि लोग अजिन (१।१६।१०) या दूसरे प्रकार की त्वचाएँ, जिन्हे 'मल' कहा गया है, पहनते

थे (मुनयो वातरशना पिशगा वसते मला, १०।१३६।२)।

आभूषण—स्त्री और पुरुष दोनो ही सोने के आभूषण पहनते थे, जैसे कानो मे कर्णशोभन (८।७८।३), गले मे निष्क (१।१२६।१०), हाथो मे कडे और पैरो मे खडुवे (खादि, १।१६६।६, ५।५४।११ पत्सु खादय) और छाती पर सुनहले पदक (वक्ष सु रुक्मा)। गले मे मणिया भी पहनी जाती थी (मणिग्रीव, १।१२२। १४)। बालो को काढकर उनमे तेल डालते थे। स्त्रियां बालो की पट्टियां बनाती थी। कभी-कभी पुरुष लम्बे बाल रखते थे। वसिष्ठ कुल के लोगो मे अपनी लम्बी जटाओ का जूडा सिर के दाहिनी ओर बांधने का रिवाज था (दक्षिणतस्कपर्दा वसिष्ठा ७।३३।१)। एक मन्त्र मे एक युवती स्त्री को चतुष्कपर्दा कहा गया है (चतुष्कपर्दा युवति सुपेशा, १०।११४।३)। कुछ लोग दाढी (श्मश्रु, २।११।१७) रखते थे, पर क्षौर कराने की प्रथा भी थी। सिल्ली पर उस्तरा तेज करने का भी उल्लेख है (सश शिशीहि भुरिजोरिव क्षुरम्, ८।४।१६)। नाई को 'वप्ता' कहा गया है (वप्तेव श्मश्रु वपसि १०।१४२।४)।

अन्न और पान—क्षीर और उनसे बनने वाले घृत और दधि का भोजन मे सर्वाधिक महत्त्व था (१।१०६।३, १।१३४।६, ८।२।६)। क्षीरपाकौदन अर्थात् दूध मे पकाये हुए भात (जिसे खीर कहते है) का भी उल्लेख है। अन्यत्र दृति या चमडे की मशक मे भरे हुए दही से बनने वाले पनीर का भी वर्णन है (दधन्,६। ४८।१८, दृतेरिव दधन्वत सुपूर्णस्य)। खूब घी डालकर बनाये हुए मालपूए खाने का भी वर्णन आया है (अपूप घृतवन्तम् १०।४५।६)। जौ को कूटकर उसकी भूसी अलग करके भूनकर पीसते थे और उसके सत्तू दही मे मिलाकर करम्भ नामक भोज्य-पदार्थ बनाते थे (१।१८७।६-१०)। मास प्राय यज्ञीय पशुओ का, जैसे भेड-बकरी (अजावय) का, होता था। गऊ को अघ्न्या अर्थात् वध के अयोग्य कहा गया है (८।१०१।५-१६)। सुरा निन्दित समझी जाती थी, (७।८६।६)। उसे पीकर लोग दुर्मद हो जाते थे और सभा-समितियो मे आपस मे लड जाते थे (पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम् ८।२।१२)। सोम का यज्ञो मे विधान था। ऋग्वेद के सम्पूर्ण नवे मण्डल मे और छह अन्य सूक्तो मे सोम की प्रशसा की गई है। सोमवल्ली मूजवन्त पर्वत पर (१।६३।६) अथवा कीकटो के देश मे (३। ५३।४) उत्पन्न होती थी। सोमरस के तय्यार करने मे सोमलता को कूटने-छानने आदि की प्रक्रिया बडी जटिल थी, जिसका पूरा विवरण इस समय स्पष्ट नही है। उसे भूमि पर बिछी हुई खाल (त्वक्, ६।६५।२५) पर फैला कर वेदी या धिषणा (१।१०६।३) पर रखकर ग्रावा पत्थरो से कूटते थे या मूसली (मन्था) से ऊखल मे कूटकर रस निकालते थे जो चमू नाम के पात्रो मे (६।६६।८) इकट्ठा किया जाता था, यह देवो के लिए होता था। अथवा चमस या कलश नामक वर्तनो मे

सोम को भरते थे जो ऋत्विजो के लिए होता था। कटने से पहले सोमलता को पानी मे भिगोकर रखा जाता था जिससे अधिक रस निकल सके (आप्यायन ६। ७४।६)। सोम की पहचान निश्चित नही, कुछ लोग उसे द्राक्षा और कुछ गन्ना मानते है। सोम की मादकता और आनन्ददायिनी विशेषता का उल्लेख किया गया है (८।१८)।

आमोद-प्रमोद—इनमे रथ की दौड, घोडो की दौड, पासे खेलना (अक्ष-देवन), नृत्य और गान सम्मिलित थे। दौड के लिए आजि शब्द था (५।३७।७)। दौड के मैदान को काष्ठा या सत्य कहते थे। वह मैदान चौडाई और लम्बाई मे नपा-तुला होता था। विश्पला नामक एक तेज घोडे का उल्लेख आया है। अक्ष या पासे का खेल खेलते समय लोग हार-जीत का दाव (विज १।६२।१०) लगाते थे। अक्ष खेलने के दुष्परिणामो का भी उल्लेख है। उससे लोगो का सर्वनाश हो जाता था और ऋण उतारने के लिए अपने-आपको दूसरे के यहाँ दास तक बनाना पड जाता था। कितव या जुआरी पुत्र को पिता की डाट-फटकार सहनी पडती थी (पितेव कितव शशास्य २।२६।५)। स्त्री और पुरुष दोनो ही झाझ-मजीरे (आघाटि १०।१४६।२) के वाद्यो के साथ नृत्य मे भाग लेते थे। उस समय तीनो ही प्रकार के वाद्यो का आविष्कार हो चुका था—अवनद्ध वाद्य जैसे दुन्दुभि (१।२८।५), तन्तुवाद्य जैसे कर्करि (२।४३।३) अथवा वाण या वीणा, जिसके सप्त-स्वरो की ठीक पहचान हो चुकी थी (वाणस्य सप्तधातु १०।३२।४) और सुषिर वाद्य जिसे नाळी कहा जाता था (इयमस्य धम्यते नाळी १०।१३५।७)।

राजतन्त्र—ऋग्वेदकालीन भारतवर्ष के राजनीतिक विकास को निम्नलिखित उत्तरोत्तर विस्तृत होते हुए सगठनो के रूप मे समझा जा सकता है—

(१) गृह अथवा कुल
(२) ग्राम
(३) विश् (कबीला)
(४) जन
(५) राष्ट्र

कुल—सामाजिक सगठन की मूलभूत इकाई कुल थी जिसमे पिता या ज्येष्ठ भ्राता के, जो कुलप कहलाता था (१०।१७६।६), अनुशासन को मानते हुए कई सदस्य एक ही गृह मे (३।५३।६, २।४२।३) एकसाथ रहते थे। गृह न केवल सम्पूर्ण अविभक्त परिवार के रहने के लिए पर्याप्त होता था, किन्तु उस कुल के गोधन (७।५६।१६) और भेड-बकरियो के लिए भी (१०।१०६।५), जो दिन मे व्रज या गोचर-भूमि मे चरकर रात को घर लौट आते थे (२।३८।८)। एक घर मे कई शालाएँ होती थी और वे सब बाहर से बन्द की जा सकती थी।

ग्राम—कई कुलो के समूह की सज्ञा ग्राम होती थी (१।४४।१०) ग्राम का उलटा अरण्य या जङ्गल था जो जगली पशु और वृक्षो से भरा रहता था (१०।९०।८)। ग्राम शब्द का तात्पर्य गाँव के लोगो से भी था, जैसे मत्र ३।३३।११ मे ग्राम अर्थात् गाँव के लोगो को गोधन के लिए उत्सुक कहा गया है। गाँव का मुखिया ग्रामीण कहलाता था (१०।६२।११, १०७।५)।

विश्—गाँव से वडी सस्था विश् नामक वस्ती थी, जिसका मुखिया विश्पति होता था (१।३७।८)। यह कहना कठिन है कि ऋग्वेदकालीन विश् स्थानीय वस्ती की सज्ञा थी अथवा रक्त से सम्वन्धित कवीला। यह भी स्पष्ट नही कि ग्राम अथवा कुल और गोत्र के साथ विश् का ठीक सम्वन्ध क्या था।

जन—विश् से वडा समूह जन था (१०।८४।२)। मन्त्र २।२६।३ मे पुत्र, जन्म (=कुल), विश् और जन, इन चारो का उत्तरोत्तर क्रम से उल्लेख किया गया है। मन्त्र १०।९१।२ मे एक ओर जहाँ गृह का वर्णन है, वहाँ उसके मुकावले उससे भिन्न विश् और जन का भी उल्लेख किया गया है। जन के प्रसग मे पाँच जनो का पचजना एव यादव जन (यादवा ८।६।४६,४८) और भारत जन (३।४३।१२) का उल्लेख मिलता है। राजा को जन का गोप्ता या रक्षक कहा गया है (३।४३।५)

राष्ट्र—देश या राज्य के लिए राष्ट्र शब्द था (४।४२।१)[१]।

राजा—वैदकालीन राज्य-पद उन परिस्थितियो का स्वाभाविक परिणाम था, जो आर्यों के शत्रुओ के साथ युद्ध-निरत रहने से उत्पन्न हुई थी। जैसे यूरोप की उत्तराखण्ड की आर्य-शाखाओ मे वैसे ही वैदिक इतिहास मे भी प्राय युद्ध के कारण राजा की उत्पत्ति हुई थी। ऋग्वेद १०।१२४। ८ मे जनता की उस दुर्दशा का वर्णन है जो शत्रुओ के विरुद्ध नेतृत्व करनेवाले राजा के अभाव मे उनकी होती है। यो राजा आक्रमण के समय और रक्षा के समय दोनो ही प्रकार के युद्धो मे स्वय अगुआ वनता था। उसे जन का गोप्ता (गोप्ता जनस्य) और दुर्गों का भेदन करनेवाला (पुरा भेत्ता) कहा गया है।

इन सेवाओ के वदले मे प्रजा को अपनी इच्छा से अथवा राजा के वल के कारण राजा की आज्ञा के अधीन रहना पडता था और राज-सत्ता की स्थिति के लिए उन्हे

---

१. और भी कई राजनीतिक सस्थाओ के नाम आते हैं। व्राजपति जिसकी स्थिति ग्राम-समूहो से बने हुए जन के नेता के रूप मे थी और कुलो के मुखिया या कुलप जिसके अनुवर्ती रहते थे (१०-१७९।२)। शर्ध, व्रात और गण से तात्पर्य उन सैनिक समूहो से था, जो जन, ग्राम या कुल की इकाई के अनुसार युद्ध करते थे (५।५३-११)।

कर देना पडता था, जिसे बलि कहते थे (१।६४।४)। इसी कारण राज बलिहृत् कहलाता था (८।६।५, १०।१७३।६) जीते हुए शत्रुओ से भी राजा को कर मिलता था (७।६।५, १८।१६)। उसके बदले मे राजा प्रजाओ मे न्याय का वितरण करता था। व्यवहार-सम्बन्धी मामलो मे वही अन्तिम धर्माध्यक्ष (१।२५।१३) था एव दण्ड-नीति के क्षेत्र मे भी वही प्रजा का रक्षक (पायुर विश) था। उसके अधिकार विस्तृत थे, कोई उसे दबा न सकता था (अदब्ध. ४।४।३)। स्वय वह दण्ड से ऊपर था (अदण्डय), किन्तु प्रजा के लिए वह मुख्य दडधर होता था और राज-कार्य के लिए गुप्तचरो की भी सहायता लेता था (८।४७।११)। राजा की विशेषता उसका भव्य वेष (त्वेष सदृश (१।८५।८) एव उसका प्रभविष्णु राजप्रासाद था, जिसे सहस्र स्तम्भोवाला सभास्थान कहा गया है (सहस्रस्थूण सदस्, २।४१।५)। राजा के साथ उसका परिकर भी रहता था। एक स्थान पर सहस्र द्वारोवाले गृह का उल्लेख है (सहस्र द्वार गृहम् ७।८८।५)।

राजा के मन्त्री—इन सबमे प्रधान पुरोहित था, जिसका अर्थ है "आगे स्थापित" (१।१।१)। उसे पुरोधा भी कहते थे एव उसके कार्य को पुरोहित (७।६०।१२, ८३।४)। शिक्षक, पथ-प्रदर्शक, ऋषि तथा मित्र के रूप मे वह राजा का मुख्य साथी था। ऋग्वेद मे पुरोहितो के उदाहरण ये हैं—विश्वामित्र और वसिष्ठ तृत्सु वश के भरत राजा सुदास के पुरोहित (३।३३।५३, ७।१८), कुरु-श्रवण राजा का पुरोहित (१०।३३) और शान्तनु का पुरोहित देवापि (१०।९८)। मुख्य कार्य राजा के घर मे पुरोहिताई करना था। धार्मिक बातो मे वह राजा का दूसरा प्राण था, किन्तु राजनीति मे भी वह नेतृत्व करता था। युद्ध मे वह राजा के साथ जाता और उसकी रक्षा और जय के लिए देवो की स्तुति करता था (७।१८।१३)। भारतीय इतिहास के सभी युगो मे ब्राह्मणो का राजनीति मे प्राधान्य इसी कारण रहा है। राजा के पार्श्ववर्ती लोगो मे दो और थे, सेनानी अर्थात् सेना का नेता (७।२०।५, ९।९६।१) और ग्रामणी जो शासन और सैनिक कार्यो के लिए ग्राम का नेता था (१० ६२।११, १०७।५)। एक राज्य मे अनेक ग्रामणी होते होगे, किन्तु वेदो मे राजा के मन्त्रियो मे एक ही ग्रामणी का उल्लेख आया है, जो सम्भवत गाँव की जनता और उनके हितो का प्रतिनिधि था। राजा के व्यक्तिगत पार्श्वचर उपस्ति (१०।९७।२३) और इभ्य (१।६५।४) भी कहलाते थे।

परिषदें—राजा की एकछत्र शक्ति की कुछ रोक-थाम करनेवाली दो सार्वजनिक सस्थाएँ थी, सभा और समिति, जिनके द्वारा जनता के हित से सम्बन्ध रखने वाली महत्त्वपूर्ण बातो मे, यहाँ तक कि स्वय राजा के चुनाव मे भी जनता की इच्छा प्रकट की जाती थी।

ऋग्वेद के अनेक मन्त्रो मे सभा का उल्लेख है (६।२८।६,८।४।६,१०।३४।६), किन्तु उनसे उसके स्वरूप और कार्यो पर निश्चित प्रकाश नही पडता। उसका अर्थ ससद् भी है और सामाजिक सम्मिलन तथा सार्वजनिक विषयो पर विचार करने के लिए सभा-स्थान भी। द्यूत क्रीडा के लिए भी सभा का प्रयोग होता था। सभा मे श्रेष्ठ व्यक्ति सभासद् (१०।७१।१०) और सभा के योग्य व्यक्ति सभेय कहलाता था (२।२४।१३)। उत्तम कुल मे उत्पन्न (सुजात ७।१।४) व्यक्ति सभा मे जाते थे। सभा के योग्य धन (रयि सभावान् ४।२।५) का भी उल्लेख है। इन शब्दो से कुछ ऐसा ज्ञात होता है कि ऋग्वेदकालीन सभा वृद्ध या प्रवर जनो की परिषद् या समिति थी। ऋग्वेद के कितने ही मन्त्रो मे समिति का भी उल्लेख आता है, किन्तु उसके ठीक स्वरूप पर प्रकाश नही पडता। राजा के समिति मे प्रिय पात्र होने (१०।६७।६) और समिति मे उसके उपस्थित होने के कर्तव्य का भी उल्लेख हुआ है (६।६२।६, राजा न सत्य समितीरियान)। एक मन्त्र मे इस प्रकार का वर्णन है कि राजा अपने अभिभावी तेज से समिति मे जाता है और वहाँ अन्य सदस्यो के चित्त और व्रतो को अपने अनुकूल करता है[1] (१०।१६६।४)। अन्यत्र कहा गया है कि राजा और समिति मे राष्ट्र की अभिवृद्धि के लिए सजान (समनस्कता) का होना आवश्यक है। इस मन्त्र मे प्रार्थना की गई है कि राजा और समिति दोनो के मत्र, मन, चित्त, प्रयत्न और हृदय समान हो (१०।१६१।३-४)।

न्याय—इस विषय की सामग्री अपेक्षाकृत कम है। उस समय यह प्रथा थी कि मारे गए व्यक्ति के सम्बन्धियो को धन देकर उसकी जान के बदले मे उऋण हो सकते थे। एक व्यक्ति या मनुष्य को शतदाय (२।३२।४) कहा गया है, क्योकि उसके प्राणो का मूल्य सौ गायें था। कजूस और जनता मे अप्रिय पणि लोगो को वैरदेय (५।६१।८) कहा गया है, अर्थात् जिससे वैर का बदला चुकाया जाए। इस प्रकार प्राणघात के लिए द्रव्य देने की प्रथा से आँख के बदले आँख निकालने और दाँत के बदले दाँत तोडने की आदिम क्रूर प्रथा का सुधार हुआ और बदला लेने के निजी अधिकार पर भी पाबन्दी हुई। उग्र (७।३८।६) और जीवगृभ् शब्द (१०।६७।११), जिसका शब्दार्थ है जीवित पकड लेना, राजा के दण्डधर या रक्षा-पुरुषो के वाचक माने गये है। झगडो मे पचफैसला करने वाले को मध्यम-सी अर्थात् बीच मे रहनेवाला कहा गया है (१०।६७।१२)। बाद की तैत्तिरीय सहिता (२।३।१।३) मे गाँव के न्यायकर्ता पच को ग्राम्य-वादिन् कहा गया है।

१ अभिभूरहमागमं विश्वकर्मेण धाम्ना।
आ वश्चित्तमा वो व्रतमा वोऽह समितिं ददे॥

युद्ध—ऋग्वेद काल मे युद्ध आत्मरक्षा और विजय के लिए तथा पडौसी राज्यो का धन लूटने के लिए लडे जाते थे (१०।१४२।४)। लडाई को युद्ध (१०।५४।२) या रण (१।६१।१-६) कहते थे। सेना पृत् या पृतना (७।२०।३) कहलाती थी। उसमे पैदल (पत्ति, अथर्व ७।६२।१) और युद्ध के लिए साथ प्रयाण करते हुए रथी (२।१२।८) होते थे। रथो का पैदल सेना के साथ युद्ध अथवा मुष्टा-मुष्टि युद्ध (मुष्टि हत्या १।८।२), जो पैदल सैनिक रथारोहियो के साथ करते थे (५।५८।४) का भी वर्णन मिलता है। सैनिक योद्धा (१।१४३।५) के साज-सामान का उल्लेख दाशराज्ञ (६।७५) युद्ध के वर्णन मे आया है। वह जिन हथियारो से सुसज्जित रहता था उनका वर्णन इस प्रकार है—

(१) उसके पास धनुप (८।७२।४) और वाण (६।७५।१७) होते थे। धनुप मजबूत डण्डे को टेढा झुकाकर और दोनो सिरो को प्रत्यञ्चा से मिलाकर बनता था। यह प्रत्यञ्चा (ज्या, ६।७५।११) गाय के चमडे की वद्धी से बनती थी। बाण कान तक खीचकर छोडा जाता था, इसलिए उसे कर्ण-योनि, अर्थात् जो कान के पास से जन्म ले, कहते थे। तरकश निषग कहलाता था (५।५७।२ सधन्वान इपुमन्तो निषगिण अर्थात् धनुप-वाण और तरकश से सज्जित योद्धा)।

(२) कवच (वर्म) कई धातु के टुकडो को एकसाथ सीने से बनता था (स्यूत, १।३१।१५, १०।१०१।८)। वह अत्क भी कहलाता था, जो बुना जाता था (व्युत) और खूब कसकर बैठता था (सुरभि अत्क, (१।१२२।; ६।२६।३)।

(३) हाथ का दस्ताना जो कि प्रत्यञ्चा की रगड से हाथ की रक्षा करता था (६।७५।१४)।

(४) झिलम टोप (शिप्र)—यह लोहे या तॉबे का वनता था (अय शिप्रा, ४।३७।४), या सोने का (२।३४।३, हिरण्य-शिप्रा), शिरस्त्राण पहले हुए योद्धा (शिप्रिन्) कहलाता था (१।२६।२)।

अन्य हथियार ये थे, असि, उसकी म्यान (असि धार), परतला (वाल, १।१६२।२०), सृक्ति या भाला (७।१८।१७), बल्लम (सृक्, १।३२।१२), दिद्यु या फेककर चलानेवाला अस्त्र (१।७१।५), और अद्रि (१।५१।३) या अशनि (६।६।५) अर्थात् गोफने मे रखकर फेकने के गोले-गोलियाँ। हथियारो के चलाने मे (आयुधानि) अभ्यास-जनित निपुणता का परिचय दिया जाता था (१।६२।१)।

रथ मे दो, तीन (१०।३३।५) या चार (२।१८।१) घोडे जोते जाते थे जिन्हे सारथि (१।५५।७) लगाम (रश्मि) और चाबुक (कशा, ५।८३।३) से वश मे रखता था। योद्धा का साथी उसके पास ही बाई ओर रथ पर बैठता था और इसीलिए सव्यष्ठा (२।१६।६, १०।१०२।६) कहलाता था।

युद्ध के अन्य साज-सामान ये थे, ध्वज (७।८५।२), दुन्दुभि (१।२८।५) और

युद्ध-घोष (ऋ ८ २।१२।८)। युद्ध की कला के अन्तर्गत ये बातें भी, आक्रमण में रक्षा के लिए बनाये हुए धातु के पुश्तो या मिट्टी की प्राकार को ध्वस्त करना (६।४७।२) अथवा अग्नि से दुर्गों (पुर ७।५।३) को हरण करना।

विद्या—ऋग्वेदकालीन सभ्यता का आधार सादा जीवन और उच्च विचार था। मिस्र और असीरिया की सभ्यताओं में भौतिक उन्नति की सूचक जो विशाल इमारतें हैं उनका यहाँ अभाव है, किन्तु बुद्धि और आध्यात्मिक उन्नति-सम्बन्धी प्रमाणों की कमी नही। जीवन सीधा-सादा था, किन्तु विचार ऊँचे और परात्पर तक जानेवाले एव नित्य वस्तुओं का चिन्तन करनेवाले थे। ऋग्वेद के कुछ मन्त्र, जैसे गायत्री-मन्त्र, ज्ञान के उच्चतम छोर का स्पर्श करते हैं और आज भी मानवीय आत्मा को उनसे बल मिलता है। कोई हिन्दू, चाहे वह कितना ही अर्वाचीन हो, इन मन्त्रो में एक शब्द, स्वर या मात्रा का परिवर्तन भी स्वीकार नही करेगा।

ऋग्वेद का इतिहास उस युग की सस्कृति का इतिहास है। ऋग्वेद अपने वर्तमान रूप में एक सग्रह-ग्रथ है, जिसमे कई भाग और तिथिक्रम-सम्बन्धी कई स्तर है। उसमें देवताओं की स्तुतियाँ, आवाहन, यज्ञपरक मन्त्रो के अतिरिक्त नाराशसी गान, जीवन-सम्बन्धी कविताएँ और उच्चतम दार्शनिक चिन्तन-सम्बन्धी मन्त्र है। स्वय ऋग्वेद में प्राचीन और नवीन कविता एव पूर्व और नूतन ऋषियो का, जो मन्त्रो के द्रष्टा थे, परिचय प्राप्त होता है। (१।१।२, १०९।२ इत्यादि)। उसकी सामग्री की रचना युग-युगो तक होती रही। प्रत्येक ऋषि उन मन्त्रो का द्रष्टा था, जिनका उसने अपने तप और ध्यान की शक्ति से साक्षात्कार किया (१०।१०९।४, १५४।२)। वे मन्त्र उस ऋषि के पुत्रो और शिष्यो अर्थात् उसके कुल में परम्परा से सुरक्षित रहते थे। इस प्रकार प्रत्येक ऋषि-कुल एक वैदिक विद्यालय के समान था, जहाँ उनके मन्त्रो का सग्रह सुरक्षित रहता था और पिता-पुत्र अथवा गुरु-शिष्य द्वारा आगे चलता रहता था। इन समस्त ऋषि-कुलो या वैदिक विद्या-गृहो के कार्य के फलस्वरूप मन्त्रो की प्रभूत सामग्री व्यापक राष्ट्रीय सग्रह के रूप में सचित हो गई। इस विशाल साहित्य अथवा मन्त्रो के तरल समुदाय में से पूजा-उपासना के लिए एक सुलभ सग्रह की आवश्यकता थी, यो ऋग्वेद सहिता का जन्म हुआ। उसी में से उन्ही नियमो के अनुसार साम, यजु और अथर्व, ये तीन अन्य वैदिक सहिताएँ बनी। इस प्रकार वैदिक विद्या के विकास की चार अवस्थाएँ मिलती है—(अ) सबसे पूर्व मन्त्रो का उदय, (इ) विभिन्न केन्द्रो या विद्यागृहो अर्थात् ऋषियो के कुलो में नूतन रचना द्वारा मन्त्रो का बाहुल्य, (उ) ऋग्वेद सहिता के रूप में मन्त्रो का एकत्र चुनाव, एव (ऋ) उस मौलिक सामग्री से, जो ऋग्वेद सहिता में सुरक्षित और सगृहीत की गई, अन्य तीन वैदिक सहिताओ का विकास।

ऋग्वेद में उल्लिखित यह विकास दीर्घकालीन इतिहास का सूचक है। "ऋग्वेद

मे प्राप्त सब मन्त्रो के अस्तित्व मे आने के लिए सैंकडो वर्षो के समय की अपेक्षा हुई होगी" (मैकडानल)। "सबसे पहले मन्त्रो की रचना और ऋग्वेद सहिता की पूर्ति के बीच मे अनेक शताब्दियाँ व्यतीत हुई होगी" (विण्टरनिज)। इसीलिए जब हम ऋग्वेद के समीप आते है तो उसमे हमे भाषा और दार्शनिक विचार-सम्बन्धी ऊँचे सृजन का परिचय मिलता है। ऋग्वेद की सस्कृत मे कही भाषा के विकास की अपेक्षा का प्रमाण नही मिलता। उसका व्याकरण-सम्बन्धी ठाठ नितान्त परिपूर्ण है। प्रत्येक क्रिया के लकार, वचन, पुरुष सुनिश्चित है और कारक एव विभक्तियो के रूप भी नियत हैं, जो भाषा के रूपो के अधिक उन्नत विकास की दशा का परिचय देते है। बुनसेन के कथनानुसार "वैदिक सूक्तो के सबसे प्राचीन अश भी मानव-जाति के अर्वाचीन इतिहास के अग है।"

ऋग्वेद सहिता मे सूक्तो का चुनाव और क्रम जिन सिद्धान्तो के अनुसार किया गया है और जिन उपायो से मन्त्रो के पाठ की रक्षा की गई है, वे मौलिकता तथा बढी-बढी साहित्यिक कुशलता के सूचक है। सर्वप्रथम ऋग्वेद के छ ऋषि ऐसे चुने गए जिनके सूक्त उस साहित्य का सबसे अधिक प्रतिनिधित्व करते थे और सरक्षण के योग्य थे। उन ऋषियो के नाम ये है गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज और वसिष्ठ। उनके बनाये हुए मन्त्र ऋग्वेद के मण्डल दो से सात तक छ विभागो मे सगृहीत कर दिये गए, जिन्हे उनके 'कुल-ग्रन्थ' कहा जा सकता है। इस सग्रह मे निम्नलिखित सूक्त और जोड दिये गए (१) अन्य ऋषि परिवारो के सूक्त जो प्रथम मण्डल के सूक्त ५१ से १९१ तक उत्तरार्द्ध के रूप मे सगृहीत है, (२) प्रथम मण्डल के पूर्वार्द्ध के अन्तर्गत पाए जानेवाले सूक्त, (३) कण्व ऋषि के पारिवारिक सूक्त जिमसे आठवाँ मण्डल बना है, (४) सोम-सम्बन्धी सूक्तो का एकत्र सग्रह जो सब नवें मण्डल मे एक स्थान पर रख दिये गए, अन्य सूक्तो के साथ नही मिलाये गए, एव (५) परिशिष्ट रूप मे प्रथम मण्डल के बराबर की सख्यावाले १९१ सूक्त जो दसवें मण्डल मे पाए जाते हैं, जिसमे भाषा, छन्द और विषय की दृष्टि से कुछ विशेषताएँ हैं और जिसमे दार्शनिक सूक्त तथा विवाह, अन्त्येष्टि आदि फुटकर विषयो के मन्त्र भी हैं।

इस प्रकार जो सहिता बनी उसमे ७० हजार पक्तियाँ हैं, जिनमे ५ हजार दोहराई गई है। इसका कारण यह ज्ञात होता है कि ऋषियो के सामने मन्त्रो का एक पूर्वनिर्मित तरल समुदाय था जिसमे से नूतन ऋषि भी सुविधानुसार उस सार्वजनिक साहित्यिक सम्पत्ति मे से कुछ भाग ग्रहण कर लेते थे। यह स्मरण रखना चाहिए कि सूक्तो के प्रथम विकास और सहिता रूप मे उनके सग्रह की लम्बी अवधि के बीच मे मन्त्रो के शब्दो की यथावत् रक्षा बडे प्रयत्न से की गई। सहिता पाठ के सग्रहकर्ताओ ने पूर्व ऋषियो के वास्तविक शब्दो को स्व-सम्पादित

पाठ मे सुरक्षित रखा है एव उनके स्वर और रूपातरो की विशेपताओ मे कुछ भी मशोधन या हेर-फेर किए विना उन्हे ज्यो-का-त्यो रहने दिया है। इसके अपवाद केवल कुछ स्थल हैं जिनमे जिम काल मे मन्त्रो का सकलन किया जा रहा था उम काल की सस्कृत भाषा के उच्चारण या सन्धि के नियमो के अनुसार कुछ परिवर्तन आवश्यक थे, जैसे कि 'सुम्न' की जगह 'द्युम्न' नही किया गया, किन्तु 'त्वहि अग्ने' की जगह त्वह्यग्ने' लिखा गया।

महिता पाठ के स्थिर होने पर उसकी रक्षा की अन्य युक्तियाँ निकाली गईं, जिमसे कालान्तर मे पाठान्तर या पाठभ्रष्ट होने की सम्भावना नही रही। यहाँ उन पर विचार करना अच्छा होगा यद्यपि वे युक्तियाँ पर्याप्त समय वाद अस्तित्व मे आईं। सर्वप्रथम सहिता-पाठ मे मे ही एक नया पाठ तैयार किया गया, जिसमे प्रत्येक शब्द सन्धि औरसमास का विग्रह करके अपने पद रूप मे रखा गया। इसे पदपाठ कहते हैं। दूसरा पाठ क्रमपाठ था जिसमे पदपाठ का प्रत्येक शब्द एक वार अपने से पहले पद के अन्त मे और दोवारा अपने से आगेवाले पद के पूर्व पढा जाता है। उदाहरण के लिए अ, इ, ऊ. ऋ यदि पदपाठ के चार शब्द हो तो वे क्रमपाठ मे अइ, इउ, उऋ इम भाँति पढे जाएँगे।

इन वैदिक ग्रथो की पाठशुद्धता को वचाए रखने के लिए और भी कुछ विशेष ग्रथो की रचना हुई, जिन्हे प्रातिशाख्य और अनुक्रमणी कहते हैं। प्राति-शाख्यो मे उदाहरणपूर्वक सन्धि के नियम वताये गए हैं, जिनके द्वारा पदपाठ महिता-पाठ मे परिवर्तित किया जा सकता है। वेद के अनुक्रमणी ग्रथो मे सूक्त, मत्र, शब्द, यहाँ तक कि अक्षरो की सख्या भी दी गई है जिमसे ग्रथ-परिमाण की सच्चाई जानी जा सकती है। "इन युक्तियो की सहायता से भारतीय ग्रथो की पाठ-परम्परा जैसी सच्ची है वह किसी भी अन्य प्राचीन साहित्य मे अद्वितीय है" (मकडानल, 'इण्डियाज पास्ट')।

शिक्षा—उस युग मे विद्या और शिक्षा के उपायो पर भी विचार करना आवश्यक है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है आचार्य का घर ही विद्यालय था, जहाँ वह अपने शिष्यो को, जिनमे अधिकाश उमके पुत्र या सम्बन्धी आदि होते थे, वैदिक और शास्त्रीय ग्रन्थ पढाता था जिनकी रचना मे उसका भी उत्तरदायित्व था। ये ग्रन्थ कण्ठस्थ किये जाते थे। ऋग्वेद (७।१०३।४) मे आचार्य के पढाये हुए शब्दो के शिष्यो द्वारा दुहराये जाने का उल्लेख है। प्रवचन और उच्चारण का वहुत अधिक महत्त्व था। उच्चारण के सात प्रकार (१।१६४।३-५, तैत्तिरीय सहिता ६।४।७।३) और वाक् की चार अवस्थाओ का उल्लेख आता है। एक स्थान पर विश्वामित्र को पारायण मे निपुण कहा गया है। किन्तु शिक्षा का मौलिक ढग तप था। तप आत्मदर्शन की युक्ति थी। तप के प्रभाव से ही दैवी

प्रेरणायुक्त मुनि (देवेषित, १०।१३६।२, ४, ५), अथवा विप्र (प्रेरणा से भरे हुए मन्त्रगायक, १।१२९।२, ११, १६२।७, ४।२६।१, विप्र धातु कम्पन अर्थ मे प्रयुक्त), अथवा मनीपी (७।१०३)—इस प्रकार के विशिष्ट विद्वानो का निर्माण होता था। ये लोग उस ज्ञान के अधिकारी थे जिनका केवल एक अश मानवी वाक् या शब्द के द्वारा प्रकट होता है। यहाँ हमने ऋग्वेद के उस गहन दार्शनिक मत का उल्लेख किया है जिसके अनुसार सृष्टि मे व्यक्त तत्त्व अव्यक्त अव्यय का एक अश-मात्र है। एक दूसरे रोचक मन्त्र (७।१०३) मे उस प्रकार के मानसिक चिन्तन और ध्यान का उल्लेख है, जिसके फलस्वरूप ज्ञान या प्रकाश की पूर्णता मिलती है और जिसे प्राप्त कर लेने पर शिष्य स्वय प्रवक्ता आचार्य बनने के योग्य होता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि सवत्सर तक चुपचाप पडे हुए मण्डूक पर्जन्य मेघो के आने पर बोलने लगते है।[1]

धर्म और दर्शन—ऋग्वेद-काल मे जीवन की जो सरल पद्धति थी उसकी तुलना मे धार्मिक जीवन उतना ही जटिल था जैसाकि उस युग के बहुदेवतावाद से ज्ञात होता है।

सर्वप्रथम प्रकृति के प्रधान कार्यों के द्योतक देवताओ का एक वर्ग है जैसे (अ) द्यौ, (आ) पृथिवी (द्यावापृथिवी=आकाश और भूमि, १।१४३।२, १५९।१ आदि, (इ) वरुण जो मूलत आकाश के देवता थे और जिनके लिए ऋग्वेद के कुछ सर्वोत्तम सूक्त कहे गए है। वरुण को असुर भी कहा गया है जो ईरानी देव अहुर मज्द से सम्बन्धित है। ऋग्वेद के दार्शनिक सूक्तो मे वरुण ऋत के अधिपति हैं जो विश्वजनीन नियमो की सज्ञा थी और पीछे चलकर जिसका प्रयोग विश्व के नैतिक नियमो के लिए होने लगा, (ई) इन्द्र, जो कि मेह, बरसने वाले मेघ और विद्युत् के देवता थे। जब आर्य पजाब के सूखे प्रदेश से पूर्व की ओर वृष्टि और विद्युत् के क्षेत्र ब्रह्मावर्त की पुण्य-भूमि की ओर बढे तब ऋग्वेदकालीन धर्म मे वरुण की अपेक्षा इन्द्र शनै-शनै प्रधान बन गए, (उ) सूर्य, जिसका पूजन पाँच रूपो मे किया जाता था जैसे (१) सूर्य, (२) सवितृ, सूर्य की प्रेरक शक्ति का वाचक, (३) मित्र, जो भारत की अपेक्षा ईरान मे अधिक प्रसिद्ध हुआ, जहा हम उसे वरुण के साथ सयुक्त पाते है, (४) पूषन्, औषधि और वनस्पति-जगत् की वृद्धि मे सहायक सूर्य की शक्ति का प्रतीक, (५) विष्णु, जो ऋग्वेद मे आकाश-चारी सूर्य के रूप हैं, यद्यपि आगे चलकर उनकी पूजा पृथक् देव के रूप मे होने लगी, (ऋ) रुद्र, जो प्रकृति के उग्र रूप के देवता थे और अपरकालिक शिव

---

१. सवत्सर शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिण।
वाच पर्जन्यजिन्विता प्रमण्डूका अवादिषु॥

के पूर्वरूप थे, (ऋ) दो अश्विन्, जो प्रात और सायकाल के नक्षत्रद्वय के वाचक थे, (लृ) मरुत, जो झझावात के देवता और रुद्र के सहायक थे, (ए) वायु, (ऐ) वात, हवा के देवता, (ओ) पर्जन्य, वृष्टि, जल और नदियो के देवता, (औ) उपा, प्रात काल की अधिष्ठात्री देवी, जिसकी प्रशसा मे ऋग्वेद के कुछ अत्यन्त सुन्दर सूक्तो की रचना हुई।

इसके अनन्तर कुछ अन्य देवताओ का वर्ग है जिसका गृहस्थ जीवन से सम्बन्ध था, जैसे (अ) अग्नि, जिसके तीन रूप थे आकाश मे सूर्य, अन्तरिक्ष मे विद्युत् और पृथिवी पर भौतिक अग्नि, (आ) सोम (अमृत का पेय), जिससे सम्बन्धित सूक्त ऋग्वेद के अत्यन्त रहस्यमय सूक्त है। सोम को चन्द्रमा का पर्यायवाची भी माना जाता है।

कुछ अमूर्त देवताओ का भी एक वर्ग था जैसे (अ) श्रद्धा, (आ) मन्यु।

कुछ अन्य छोटे देवता भी थे, जैसे (अ) ऋभु, आकाशचारी देवयोनियाँ, (आ) अप्सराएँ और (इ) गन्धर्व।

कही-कही देवो की कल्पना पशु-रूप मे भी की गई है, जैसे इन्द्र की वृषभ रूप मे और सूर्य की अश्व रूप मे। किन्तु इतने से ही ऋग्वेद-काल मे अश्व पूजा सिद्ध नही होती। ऋग्वेद मे पशु-प्रतीक-सम्बन्धी विश्वास (टोटेमिज्म) का भी कोई चिह्न नही मिलता, अर्थात् किसी पशु को पूर्वज मानकर उस पशु को पवित्र और देवता मानने का विश्वास ऋग्वेद मे नही पाया जाता, और न सर्प-पूजा के ही चिह्न हैं, यद्यपि सर्प को समुद्र का देवता अथवा अवर्षणकारी असुर कहा गया है, जिसका वध इन्द्र के द्वारा होता है। हाँ, कही-कही इन्द्र की मूर्ति को शत्रुओ से रक्षा करनेवाला कहा गया है, जिससे हमे कुछ झलक उस प्रकार के विश्वास की मिलती है जिसमे गडे-तावीज को देवता की शक्ति से युक्त मानकर रक्षार्थ प्रयुक्त किया जाता था।[1] ऋग्वेदीय देवो के शत्रु भी थे जिन्हे असुर और राक्षस कहा गया है।

ऋग्वेदीय धर्म का मुख्य रूप उन देवताओ की पूजा करना है जिन्हे निर्दिष्ट यज्ञो द्वारा प्रसन्न करके उनसे वरदान या प्रसाद पाने की अभिलाषा की जाती थी। विशेष-विशेष यज्ञो के द्वारा वे देवता वश मे किए जा सकते थे। यज्ञ मे क्षीर, अन्न, घृत, मांस और सोम की आहुतिया दी जाती थी। किन्तु ऋग्वेद मे जिसका विशेष विस्तार है वह है सोमयज्ञ। यज्ञीय कर्मकाण्ड की इतनी वृद्धि हुई कि उसके विधान के लिए विभिन्न ऋत्विजो का विकास हुआ, जैसे होता मन्त्र-पाठ के लिए अध्वर्यु कर्मकाण्ड के लिए और उद्गाता सामगान के लिए। इनके

१ अग्रेजी Fetishism।

साथ सहायक भी होते थे। कुछ यज्ञ बहुत विस्तारयुक्त और व्ययसाध्य होते थे, जिन्हे केवल राजा या रईस लोग (मघवन्) ही कर सकते थे। ऋग्वेद का दृष्टिकोण धनिक वर्ग के लिए है, जिसमे सार्वजनिक धर्म, जो जनता के लिए उपयुक्त हो, कम ही मिलती है।

इस कर्मकाण्ड-प्रधान धर्म का पर्यवसान उस गहन दर्शन के रूप मे हुआ जिसकी अभिव्यक्ति ऋग्वेद के दसवे मण्डल तथा कुछ अन्य सूक्तो मे पाई जाती है। वहाँ बहुदेवतावाद को खुले तौर पर और साहस के साथ चुनौती दी गई है और विश्व की मूलभूत एकता का प्रतिपादन करते हुए उसे एक अद्वितीय ब्रह्म की रचना कहा गया है, जिसके विश्वकर्मा, हिरण्यगर्भ, प्रजापति अथवा अदिति (सर्वोपरि अग्रिम मातृशक्ति) इत्यादि अनेक नाम दिये गए हैं। सृष्टि को विराट पुरुष (सर्वोपरि ब्रह्मतत्त्व) के आत्म-यज्ञ का परिणाम बताया गया है, अथवा असत तत्त्व के अग्नि या जलीय रूप मे विकसित होने पर सृष्टि-रचना मानी गई। एक ऋग्वैदिक मन्त्र (१।१६४) मे बडी ही स्पष्टता से उस "एक तत्व (एक सत्)" का उल्लेख है "जिसे ज्ञानी लोग अनेक भाँति से पुकारते है (विप्रा बहुधा वदन्ति), जैसे अग्नि, यम अथवा मातरिश्वा के विभिन्न नामो से।"

अन्तत ऋग्वेद मृत्यु के अनन्तर होनेवाले उस जीवन मे विश्वास करता है जो यम से अनुशासित लोक मे प्राप्त होता था।[1]

---

१. देखिए, मैकडानल-कीथकृत वैदिक इडेक्स ; एव कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया, अध्याय ४–५।
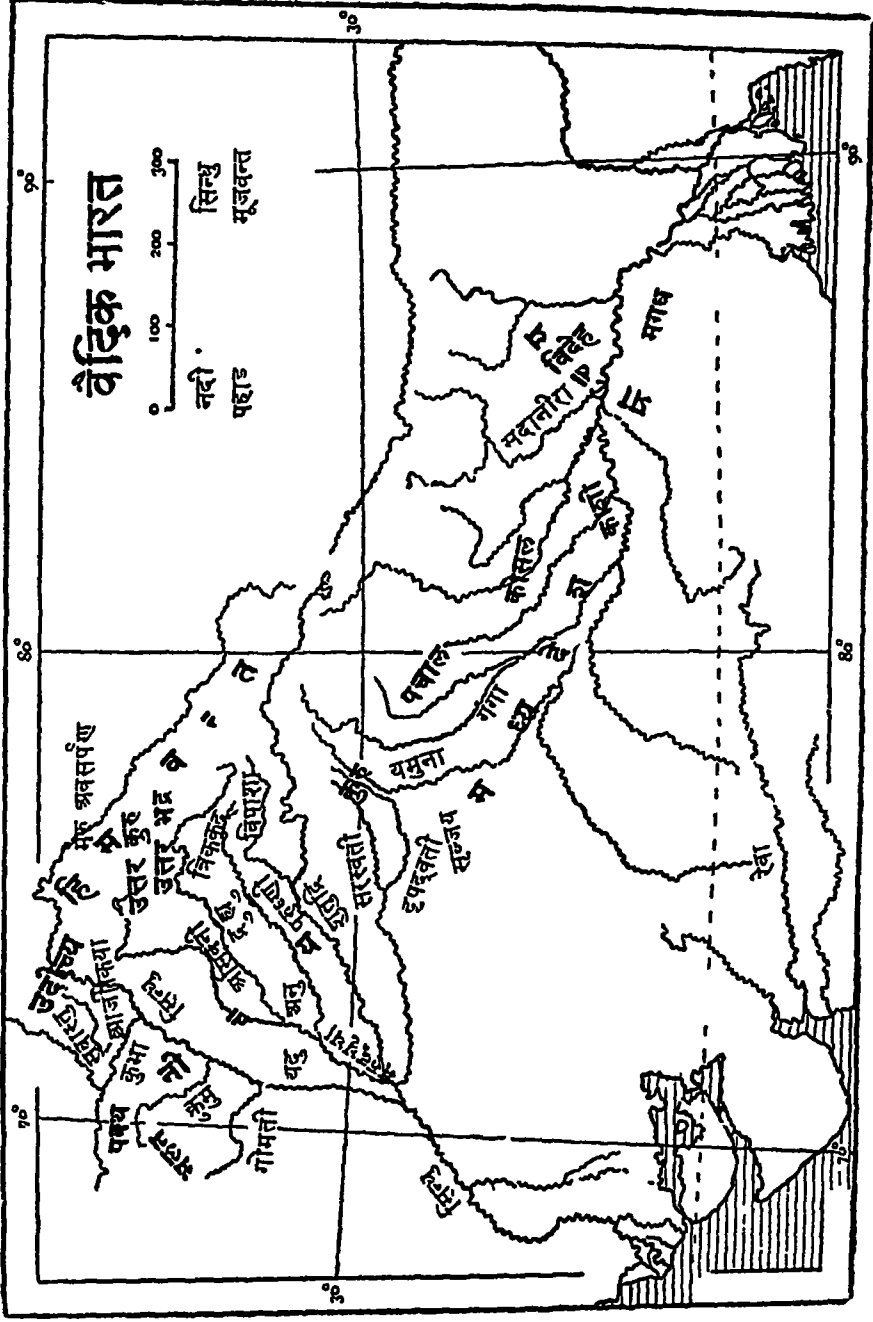
वैदिक भारत
0
100
200
300
नदी
सिन्धु
पहाड
मूजवन्त
उत्तर कुरु
उत्तर भद्र
उदीच्य
सुवास्तु
आर्जीकिया
कुभा
पक्थ
सिन्धु
गोमती
यदु
अनु
असिक्नी
विपाशा
शुतुद्रि
सरस्वती
दृषद्वती
सृञ्जय
यमुना
गंगा
पंचाल
कोसल
काशी
सदानीरा
विदेह
मगध
रेवा
70°
80°
90°
30°

: ५ :

उत्तरकालीन वैदिक सभ्यता

प्रमाण-सामग्री—ऋग्वेदकालीन सभ्यता उस सभ्यता से विभिन्न थी, जो उत्तरकालीन वैदिक साहित्य से, जैसे उत्तरकालीन संहिताओ, ब्राह्मणो, आरण्यको और उपनिषदो से प्रकट होती है।

आरम्भ मे यह जानना आवश्यक है कि किस प्रकार वैदिक साहित्य के विभिन्न भाग एक-दूसरे मे से विकसित होते गए। ऋग्वेद-संहिता मूल ग्रन्थ था। उसी मे से सामवेद-संहिता बनी। किन्तु यजुर्वेद की कृष्ण और शुक्ल इन दो संहिताओ मे नई सामग्री भी है। वह उन मन्त्रो के रूप मे है जो यज्ञीय कर्मकाण्ड कराते समय अध्वर्यु के लिए आवश्यक थी। कृष्ण यजुर्वेद सज्ञा इस कारण पडी, क्योकि उसमे मूलमन्त्र-भाग के साथ उनकी गद्यात्मक व्याख्या भी शामिल है। शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता मे मन्त्र-भाग और यजुष्-भाग अर्थात् पद्य और गद्य दोनो ही हैं। किन्तु व्याख्यात्मक गद्य-भाग 'शतपथ ब्राह्मण' के रूप मे बिल्कुल अलग संगृहीत है। चौथी संहिता अथर्ववेद संहिता थी। वह यज्ञ के निरीक्षक 'ब्रह्मा' के उपयोग के लिए थी। इसमे सात सौ इकतीस सूक्त और लगभग छ हजार मन्त्र हैं, जिनमे से कुछ तो ऋग्वेद से भी पहले के हैं और कुछ मे बहुत-सी घरेलू जीवन की बातें आती हैं, उदाहरण के लिए (१) रोगो को दूर करनेवाले जादू-टोने के मन्त्र (जैसे ५।२२ जिसमे तकमा या ज्वर का उल्लेख है), (२) कृषक, अजपाल और व्यापारी लोगो के लिए शुभाशीर्वाद सूचक मन्त्र, (३) सज्ञान या मेल-जोल के लिए शसन के मन्त्र (स्वामी के साथ, समिति के साथ अथवा न्यायालय मे), (४) विवाह और प्रेम के गीत, (५) राजा आदि से सम्बन्धित मन्त्र एव इसी प्रकार के अन्य विषय।

संहिताओ के बाद ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदो का विकास हुआ। ब्राह्मण भारत-यूरोपीय गद्य-साहित्य के सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। उनके वैदिक यज्ञीय कर्मकाण्ड की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म बातो का विवेचन है और तत्सम्बन्धी अनेक कथाओ द्वारा कर्मकाण्ड का महत्त्व समझाया गया है एव कर्मकाण्ड की उत्पत्ति

पर भी विचार किया गया है। उनका सम्बन्ध वेदो से है, जैसे ऐतरेय ब्राह्मण ऋग्वेद से सम्बन्धित है और उसमे सोमयज्ञ और राज्याभिषेक विधि का वर्णन किया गया है। पचविंश ब्राह्मण का सम्बन्ध सामवेद से है जिसमे व्रात्यस्तोम यज्ञो का वर्णन है, जिनके द्वारा अनार्य लोग आर्य-समुदाय मे सम्मिलित किए जाते थे। शतपथ ब्राह्मण का सम्बन्ध शुक्ल यजुर्वेद से है। इसमे अनेक विषय है और यह वैदिक युग का सबसे मूल्यवान ग्रन्थ है। गोपथ ब्राह्मण का सम्बन्ध अथर्ववेद से है।

ब्राह्मणो के अन्तिम भाग आरण्यक है। उनका यह नाम इसलिए पडा क्योकि उनमे वर्णित दार्शनिक और रहस्य-सम्बन्धी विषयो के अध्ययन के लिए अरण्य का एकान्तवास आवश्यक था। उपलब्ध आरण्यक ग्रन्थो मे ऐतरेय, कौषीतकी और तैत्तिरीय है, जो उस नाम के ब्राह्मण के ही भाग है। पहले दो का सम्बन्ध ऋग्वेद से और तीसरे का कृष्ण यजुर्वेद से है।

आरण्यक उपनिषदो से पहले की कडी थे। उपनिषद् ब्राह्मण साहित्य के अन्तिम विकास को सूचित करते है और आरण्यको का अन्तिम रूप उनमे पाया जाता है। उनकी भाषा से, जो लौकिक सस्कृत के अत्यन्त निकट है और लगभग पाँच सौ ईस्वी पूर्व मे विकसित हुई, ज्ञात होता है कि वे वैदिक साहित्य के समाप्ति-काल की रचनाएँ है। ऋग्वेद मे मोटे तौर पर दो प्रकार के विषय हैं, ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड। इनमे से कर्मकाण्ड का विकास ब्राह्मणो मे और ज्ञानकाण्ड का उपनिषदो के रूप मे हुआ। उपनिषदो का सम्बन्ध यज्ञीय विधि से नही किन्तु आत्मविद्या से है, जिसके द्वारा जीवात्मा ससार से मुक्त होकर विश्वात्मा या ब्रह्म मे लीन हो जाती है। सामवेद का छान्दोग्य और शुक्ल यजुर्वेद का बृहदारण्यक सबसे प्राचीन और महत्त्वपूर्ण है। दूसरे प्रसिद्ध उपनिषद् ये हैं कठ, ईश, श्वेताश्वतर, मैत्रायणीय, तैत्तिरीय, मुण्डक, प्रश्न, माण्डूक्य और केन। कठ के अतिरिक्त अन्य उपनिषद् बुद्ध से अधिक प्राचीन नही माने जाते। उत्तर-वैदिककालीन इतिहास और सभ्यता के अध्ययन के लिए उपरिलिखित विशाल विविधविषयक साहित्य का आश्रय लेना आवश्यक है।

भौगोलिक सीमा का विस्तार—ऋग्वेद के युग मे सभ्यता का केन्द्र पश्चिम से, जहाँ पजाब मे पचजन लोगो का निवास था, पूर्व की ओर, जहाँ सरस्वती और दृषद्वती के बीच मे भारत जन की स्थिति थी, विस्तारोन्मुख रहा था। किन्तु इस उत्तर-युग मे सभ्यता के पूर्व की ओर प्रसार की यह प्रक्रिया निश्चित रूप से पूरी हो चुकती है। उसका केन्द्र कुरुक्षेत्र था जिसके दक्षिण मे खाण्डव, उत्तर मे तूर्घ्न और पश्चिम मे परीणह् था। इस केन्द्र के चारो ओर, जो पीछे मध्यदेश कहलाया और जिसमे कुरु-पचाल सम्मिलित थे, शवस् और उशीनर एव उत्तरकुरु

और उत्तरमद्र और सात्वन् दक्षिण की ओर बसे हुए थे, जैसाकि ऐतरेय ब्राह्मण के एक प्रसिद्ध भौगोलिक अवतरण से ज्ञात होता है। पश्चिम के देश पीछे पड़ते गए और कुरु-पंचाल की अपेक्षा पूर्व के जनपदों, जैसे कोसल (अवध), विदेह (उत्तरी बिहार), मगध (दक्षिणी बिहार) और अंग (पूर्वी बिहार) का महत्त्व बढ़ता गया। दक्षिण की ओर विन्ध्य प्रदेश में, जिसका नाम किसी भी वैदिक ग्रन्थ में नहीं मिलता, कुछ ऐसी जातियां बनी थीं जो पूरी तरह से ब्राह्मण-वर्ण-व्यवस्था का अंग नहीं बनी थीं, जैसे आन्ध्र, पुलिन्द (अशोक के अभिलेखों में उल्लिखित), मूतिब, पुण्ड्र और शबर (जो अब भी मद्रास और उड़ीसा की सीमा में रहते हैं और मुण्डा भाषा बोलते हैं), एवं निषध, तथा विदर्भ का प्रदेश जो ऐतरेय ब्राह्मण (७।३४।६) और जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (२।४४०) में उल्लिखित है। प्रकट है कि उस समय तक आर्य सभ्यता विन्ध्य के उस पार नहीं फैली थी।

नये राज्य और जन . कुरु-पंचाल—देश-विस्तार के परिणामस्वरूप नये जनपद और जन अस्तित्व में आये जहां जीवन के नये केन्द्र स्थापित हुए। इस काल में ऋग्वेद के अनु और द्रुह्यु, तुर्वश, क्रिवि और कुरु, पुरु और भरतों का नाम नहीं सुन पड़ता, किन्तु नये जन और एकीकृत राज्यों का नाम आने लगता है जिनमें कुरु-पंचाल मुख्य थे। ग्रन्थों के अनुसार वे वैदिक संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि, शिष्टाचार के आदर्श, उत्तम संस्कृत भाषा के वक्ता (शतपथ ३।२।३।१५), यज्ञों में विधिपूर्वक यजन करनेवाले थे। उन्हीं में सर्वोत्तम राजा थे और सर्वश्रेष्ठ परिषद् भी कुरु-पंचाल में ही थी। और भी कितनी ही बातों में वे अग्रणी थे। पंचाल के राजा प्रवाहण जैवलि के विषय में कहा गया है कि वे सदा पांचाल-परिषद् में उपस्थित होते थे (छान्दोग्य उप० ५।३, बृहद् उप० ६।२।१-७)। कुरु-पंचालों के जिस विरोध का उल्लेख महाभारत में आता है, वैदिक ग्रंथों में उसका कहीं पता नहीं। वहां तो कुरु-पंचालों के एकीभूत राज्य का वर्णन है जो संस्कृति और समृद्धि का केन्द्र था, यद्यपि उससे पूर्वकालीन कुरुओं का पृथक् इतिहास उतार-चढ़ाववाला था। कुरु-पंचाल-उन्नति की पराकाष्ठा परीक्षित और जनमेजय के समय में हुई। उनकी राजधानी आसन्दीवत् थी (शतपथ ब्रा० १३।५।४।२) एवं सण्णार (ऐत० ब्रा० ८।२३।३) और कारोती (शत० ब्रा० ६।५।२।१५) नामक दो अन्य प्रधान नगर भी थे। अथर्ववेद में इस समृद्धि का चित्र खींचते हुए कहा गया है कि परीक्षित के राष्ट्र में लोग ऐसे सुखी और सम्पन्न थे कि पत्नी अपने पति से पूछती थी—'दही, दूध में चलाये हुए सत्तू, या मधुपान, इनमें से आपके लिए क्या लाऊँ?' छान्दोग्य उपनिषद् में एक उल्लेख है कि कुरु-जनपद में कभी ओले या टिड्डियों के उपद्रव से अकाल पड़ गया था। बृहदारण्यक में भी कुरुओं का नाश करनेवाली किसी विपत्ति का उल्लेख है। किन्तु कुरु-

पचाल का सयुक्त राज्य दीर्घकाल तक समृद्धि के साथ बढता रहा। उसकी राजधानी काम्पिल्य एव कौशाम्बी और परिचक्रा नामक मुख्य नगर से उसका भौगोलिक विस्तार सूचित होता है (शतपथ ब्रा० १३।५।४।७)।

कोसल, काशी और विदेह—आर्यों का पूर्व की ओर प्रसार शतपथ ब्राह्मण के एक उपाख्यान से सूचित होता है (१।४।१।१०,१७), जिसमे कहा गया है कि विदेघ माथव (विदेह के राजा) सरस्वती मे चलकर, जहाँ वैदिक सस्कृति की मूल भूमि थी, सदानीरा नदी पार करते है, जो उस समय कोसल की पूर्वी सीमा थी (आधुनिक गण्टक), और विदेह-भूमि मे पहुँचते है[1]। साहित्यिक साक्षी से वस्तुत ऐसा ज्ञात होता है कि इस समय वैदिक सस्कृति के मुख्य केन्द्र तीन राज्य थे—कोसल, काशी और विदेह, जो कभी-कभी एकसाथ मिल भी जाते थे। अट्णार के पुत्र, 'पर' कोसल और विदेह दोनो के राजा कहे गए है (शाखायन श्रौतसूत्र, १६।६।११) एव जल जातूकर्ण्य कोसल, काशी और विदेहो के पुरोहित कहे गए हैं (वही, १६।२६।६)। इस युग के सबसे प्रसिद्ध राजा दो दार्शनिक सम्राट् थे, काशी के अजातशत्रु और विदेह के जनक, जिनके साथ ही श्वेतकेतु और याज्ञवल्क्य विचार-जगत् का नेतृत्व कर रहे थे।

मगध और अग—आर्य सभ्यता के क्षेत्र से बाहर मगध का प्रदेश था। अथर्ववेद मे (५।२२।१४) मगध और अग दोनो को दूरस्थ प्रदेश कहा गया है। इसमे वङ्ग देश के व्याघ्र का भी उल्लेख है और कहा गया है कि राजा अभिषेक के समय व्याघ्र-चर्म के आसन पर बैठता था (व्याघ्रो अधि वैयाघ्रे)। इस प्रकार इन जनपदो का एकसाथ उल्लेख गोपथ ब्राह्मण मे भी आया है। यजुर्वेद (वाजसनेयी सहिता, ३०।५।२२) मे मागध के लिए कहा गया है कि उसे अतिक्रुष्ट को सौंप दो, जिससे ज्ञात होता है कि उसका सम्बन्ध चारण-कार्य से था। कुछ लोग कीकट का अर्थ मगध करते है, यदि यह ठीक हो तो मगध को निकृष्ट देश मानने का भाव ऋग्वेद के समय मे आ गया था। अथर्ववेद मे इस विद्वेष का उल्लेख और भी स्पष्टता से हुआ है, जहाँ कहा गया है कि तक्मा या विषम ज्वर उत्तर मे गन्धारि, वल्हिक और मूजवन्त देश मे और पूर्व मे अग और मगध मे

---

१ यह ज्ञातव्य है कि विदेघ माथव के इस प्रयाण मे उनके पुरोहित और पथ-प्रदर्शक गोतम राहूगण नामक ऋग्वेदकालीन ऋषि थे जो यह सिद्ध करता है कि आर्य सभ्यता का पूर्व की ओर प्रसार ऋग्वेद के समय मे ही हो चुका था। इसीलिए पूर्व की अन्तिम सीमा पर और केन्द्र से अधिक दूर होते हुए भी राजा जनक एव ऋषि याज्ञवल्क्य की अध्यक्षता मे विदेह राज्य वैदिक सस्कृति का नेतृत्व कर रहा था।

चला जाए (५।२२।७,१४)[1]। इस अरुचि का कारण यह था कि इन प्रदेशो मे ब्राह्मण-धर्म का प्रभाव अधूरा था। यहाँ आदिम निवासियो की बस्ती थी और पीछे यहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ, जो वर्ण-धर्म को स्वीकार न करता था। अथर्ववेद मे मगध के निवासियो को व्रात्य कहा गया है (१५।२।१), जो अन्त्यज और फिरन्दर समझे जाते थे एव एक प्रकार की प्राकृत बोली बोलते थे। उनके बारे मे कहा गया है कि वे उच्चारण मे मुख-सुख वाली भाषा (अर्थात् सस्कृत) को भी कठिन कहते थे (पञ्चविश ब्राह्मण १७।१।९)। सस्कृत मे जिन क्लिष्ट सयुक्त व्यजनो का प्रयोग होता है, प्राकृत मे उनका निभाव कठिन है। लेकिन व्रात्यो को सस्कृत से एकदम अनजान भी नही कहा जा सकता, क्योकि एक स्थान पर उन्हे दीक्षितो की वाणी बोलनेवाला (दीक्षित वाच्) कहा गया है। उनके लिए यह सम्भव था कि वे कुछ यागादि करके ब्राह्मण धर्म मे प्रविष्ट हो सके। उन्हे अनार्य न कहकर ब्राह्मण-सस्कृति मे अस्नात कहना ही ठीक होगा। ऐतरेय आरण्यक (२।१।१) मे वङ्ग, वगध और चेरो को पक्षी अर्थात् अनार्य कहा गया है, जो ऐसी भाषा बोलते थे जो आर्यो के लिए दुर्बोध थी। हो सकता है, वगध मगध का अपपाठ हो। चेर विन्ध्य की एक जगली जाति थी। कौषीतकी उपनिषद् (६।१) मे इसका सार यह दिया हुआ है कि आर्य-क्षेत्र के अन्तर्गत आनेवाले देशो मे उशीनर, वश, मत्स्य, कुरु, पचाल, काशी और विदेह ये मुख्य थे।

सामाजिक दशा—जबकि ऋग्वेद मे पिता-पुत्र वशानुक्रम से चलनेवाले ब्राह्मण और क्षत्रिय, एव तीन वर्ण (८।३५।१६-१८) अथवा चार वर्णो के विभाग (१।११३।६, १०।९०।१२, पुरुषसूक्त) का उल्लेख है, इस मे जाति-पाँति के भेदो का पूरा-पूरा विकास पाया जाता है, जिसकी तह मे विभिन्न पेशो की सख्या-वृद्धि और अनेकरूपता पाई जाती है, जो व्यवस्थित जीवन के साथ प्राय देखी जाती है। आदिवासियो के साथ सम्पर्क का यह आवश्यक परिणाम था और इसके साथ रक्त की शुद्धि और वर्ण-विभेद के अनेक जटिल प्रश्न भी उत्पन्न हो गए थे।

अभी तक जाति-प्रथा इतनी कठोर न बनी थी जैसी आगे चलकर सूत्रो के युग मे हो गई। यह ऋग्वेदकालीन ढिलाई और सूत्रकालीन कडाई के बीच की कुछ मिली-जुली जाति व्यवस्था थी। ऋग्वेद मे अन्तर्जातीय विवाह का निषेध केवल भाई-बहन या पिता-पुत्री के व्यभिचार के विरोध मे ही था। शतपथ ब्राह्मण

---

१ गन्धारि = गान्धार, जलालाबाद से तक्षशिला तक का प्रदेश।
बल्हिक = बलख, उत्तर-पश्चिमी अफगानिस्तान।
मूजवन्त = वड्क्षु या ऑक्सस नदी के दक्षिण का मुञ्जान प्रदेश।

(१।८।३।६) मे विवाह-सम्बन्धी यह प्रतिषेध रक्त-सम्बन्ध की तीसरी या चौथी पीढी तक पाया जाता है, और ब्राह्मण और क्षत्रिय अपने से छोटी जातियो अर्थात् शूद्र के साथ भी विवाह कर सकते थे। क्षत्रिय राजा शर्यात की पुत्री सुकन्या, ब्राह्मण च्यवन ऋषि के साथ व्याही गई थी (वही, ४।१।५।७)।

उस काल मे जाति-परिवर्तन कम देखा जाता है, किन्तु असम्भव नही था। ऋग्वेद के विश्वामित्र को ऋषि कहा गया है, किन्तु ऐतरेय ब्राह्मण मे क्षत्रिय। ऋग्वेद के कुछ मन्त्र क्षत्रिय ऋषियो के बनाये हुए है। उपनिषदो मे कुछ मार्के के उदाहरण हैं जिनमे ज्ञानी राजा ब्राह्मण शिष्यो को उपदेश देते है, जैसे विदेह के राजा जनक, केकय के राजा अश्वपति, काशी के राजा अजातशत्रु और पचाल के राजा प्रवाहण जैवलि। परन्तु इन उदाहरणो से यह नही सिद्ध होता कि इन राजाओ की जाति मे कोई परिवर्तन हो गया था, केवल वे ब्राह्मण का कार्य करते देखे जाते है। इनसे इतना ही प्रकट होता है कि उस युग के कुछ राजा विद्या के बडे भक्त और सरक्षक थे। दूसरी ओर समस्त वैदिक साहित्य मे एक भी उदाहरण ऐसा नही है कि कोई वैश्य कभी पुरोहित या राजा, ब्राह्मण या क्षत्रिय के पद पर पहुँचा हो। केवल पहले दो वर्ण ही आपस मे घनिष्ठ सम्बन्ध रखते थे।

इस युग मे जाति-पाँति का विकास जिस दिशा मे हो रहा था उसका अच्छा परिचय युग के प्रतिनिधि-ग्रन्थ ऐतरेय ब्राह्मण (७।२९) से मिलता है। इस उद्धरण मे ब्राह्मण को दान लेनेवाला (आदायी), सोमपायी, सदाश्रम या कार्यशील (अवसायी), और इच्छानुसार विचरण करनेवाला (यथाकाम प्रयाप्य) कहा गया है, जिससे ज्ञात होता है कि वे राजाओ के साथ स्वेच्छा से सम्बन्ध जोडने मे स्वतन्त्र थे। वैश्य के सम्बन्ध मे कहा गया है कि वह दूसरे को कर देता है (अन्यस्य बलिकृत्) और दूसरे यथेष्ट उसका उपभोग करते है (अन्यस्याद्य) और मनमाना बल-प्रयोग भी करते है (यथाकामज्येय), अर्थात् राजा जब चाहे उसे अपनी भूमि से छुडा सकता था। शूद्र को दूसरे का सेवक कहा गया है (अन्यस्त प्रेष्य) जिसे मनमाने ढग से लोग उखाड फेकते थे (कामोत्थाप्य) और उसके प्राण तक ले लेने मे नही हिचकते थे (यथाकामवध्य)। इससे प्रकट होता है कि क्षत्रिय या राजा के मुकाबले शूद्र का कुछ भी अधिकार अपने धन, सम्पत्ति या प्राण के विषय मे न था। इस उद्धरण मे यह माना गया है कि ब्राह्मण धार्मिक क्षेत्र मे स्वतन्त्र था किन्तु व्यावहारिक जीवन की बातो मे वह क्षत्रिय राजा के अधिकार और न्याय का अनुवर्ती था। इससे यह भी सूचित होता है कि वैश्य को भूमि या सम्पत्ति रखने का अधिकार इसी शर्त्त पर था कि अपनी रक्षा करने के बदले मे क्षत्रिय को कर दे। क्षत्रिय या राजा भूमि के स्वामी और

वैश्य कृषक थे। राजा आदिवासियो की विजय के उपलक्ष्य मे भूमि और दासो का जो वितरण करता था, वे क्षत्रियो को ही प्राप्त होते थे।

आर्थिक जीवन—अथर्ववेद मे कृपक, अजपाल या वणिक् की समृद्धि के लिए जो अनेक प्रार्थनाएँ (पौष्टिकानि) हैं, उनसे आर्थिक जीवन की प्रगति सूचित होती है। उसमे हल चलाने, बीज बोने, अन्न उगाने, वृष्टि, पशु-समृद्धि एव खेती की बाधक ईति, वन्य पशु, या लुटेरे आदि से रक्षा के लिए मन्त्र आये है। कृषि और पशु-पालन मे बराबर उन्नति हो रही थी। इतने बडे और भारी हल (सीर) बनने लगे थे जो चौबीस बैलो से खीचे जा सके (काठक-सहिता १५।२)। हल की खूड सीता कहलाती थी (काठक २०।३)। शतपथ ब्राह्मण मे खेती की चारो प्रक्रियाओ का क्रमश उल्लेख किया है—जुताई, बुवाई, लवनी और मडनी (कृषन्त वपन्त लुनन्त मृणन्त १।६।१।३)। उसमे गोबर (करीष) की खाद का भी उल्लेख है (२।१।१।७।), और अथर्ववेद मे (३।१४।३।४, १९।३१।३) पशुओ की प्राकृतिक खाद को मूल्यवान माना गया है। कई प्रकार के धान्य होते थे, जैसे चावल (व्रीहि), जौ (यव), मूँग, उडद, तिल और गेहू (गोधूम), मसूर आदि, जिनकी सूची वाजसनेयी सहिता मे (१८,१२) दी हुई है। उनके बोने की ऋतुओ का भी उल्लेख है, जैसे जौ जाडे मे बोया जाता और गरमी मे पकता था, चावल की फसल वर्षा-काल मे बोई जाती और शरद ऋतु मे पकती थी, किन्तु मूँग, उडद और तिल कुछ देर से शरद् मे पकते थे (तैत्तिरीय सहिता ७।२।१०।२)। वर्षा मे दो फसले भी तैयार होती थी (तैत्तिरिय स० ५।१।७।३)।

धन्धो और पेशो मे भी बहुत उन्नति हुई, जिनकी सूची यजुर्वेद मे दी हुई है (वाजसनेयी सहिता ३०।७)। इस रोचक सूची मे कई नये पेशेवरो के नाम हैं जैसे—कई तरह के मछुवे (धीवर, दाश और कैवर्त), किसान (कीनाश) और खेत बोनेवाले (वप्), धोबी (वास पल्पूली), मनिआर (मणिकार), बेत का काम करनेवाले (विदलकारी), रस्सी बटनेवाले (रज्जु सर्ज्ज, रथकार, धनुष्कार, इषुकार, लोहा गलानेवाले लुहार (अयस्ताप), सुनार (हिरण्यकार), कुम्हार (कुलाल), वन-जगल की देख-रेख करनेवाले (वनप), जगली आग बुझानेवाले, (दावप), गोपाल, भिषज, वस्त्रो पर सुईकारी या किमखाब का काम करनेवाले, इत्यादि। १०,८०० इष्टकाओ से बनाई जानेवाली श्येनचित वेदी से उस समय के वास्तुशिल्प की निपुणता सूचित होती है। यह वेदी पख फैलाये हुए गरुड की आकृति की बनती थी (वाजसनेयी सहिता, ११-१८, अग्निचयन)। पेशेवर नट (यश नर्तिन्, यजु० ३०।२१), नाविक (नावाज, शतपथ २।३।३।१५), कर्णधार (शम्बी, अथ० ९।२।६) नाव मे आगे और पीछे की ओर बने हुए दो मच (नौमण्ड, शतपथ २।३।३।१५), डाँड (अरित्र), खेवनहार (अरिता), एव समुद्री यात्राओ

के लिए उपयोगी सौ डाँडोवाले बडे जलपोत (शतारित्र नौ, वाजसनेयी सहिता ३१।७)—इन सबका भी उल्लेख है। अथर्ववेद (५।१६।८) मे नष्ट होते हुए राष्ट्र की उपमा पानी भरती हुई टूटी नाव से दी गई है (तद्वैराष्ट्र-मास्रवति नाव भिन्ना मित्रोद्कम)। वणिक् व्यापार (वणिज्या, शतपथ १।६।४।११) और ब्याज पर रुपये देनेवाले बोहरे का भी वर्णन है (कुसीदी, शतपथ १३।४।३।११)। कई स्थानो पर (ऐतरेय ब्राह्मण ३।३०।३, ४।२५।८-६, ७।१८।८, बृहदारण्यक उपनिषद् १।४।१२ इत्यादि) श्रेष्ठी या प्रधान व्यापारी का उल्लेख है। सम्भवत वह श्रेणि का मुखिया होता था और श्रैष्ठ्य शब्द श्रेणि के प्रधान पद के विशेष अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।

उद्योग-धन्धो मे लगी हुई स्त्रियो का भी उल्लेख है, जैसे रगनेवाली (रजयित्री), सुईकारी का काम करनेवाली या कसीदा काढनेवाली (पेशस्कारी), बाँस का काम करनेवाली (कण्टकीकारी) और बेंत की टोकरी आदि बनानेवाली (विदलकारी)।

धातुओ के बढे हुए प्रयोग से सभ्यता की उन्नति सूचित होती है। यजुर्वेद के एक मन्त्र मे (१८।१३) धातुओ का इस प्रकार उल्लेख है—हिरण्य (सोना), अयस् (काँसा), श्याम (लोहा), लोह (ताँबा), सीस (सीसा) और त्रपु (राँगा)। ऋग्वेद मे अयस् का अर्थ स्पष्ट नही है, किन्तु अब लोहे के लिए श्याम अयस् (अथर्व० ११।३।१।७, ६।५।४) और तावे के लिए लोहित अयस (अथर्व० ११।३।१।७) अथवा लोहायस् (शतपथ ५।४।१।२) शब्दो का उल्लेख है।

ताँबा भिन्न-भिन्न पात्र वनाने के काम आता था (अयस् पात्र अथर्व० ८।१०।२२)।

सीसे की गोलियाँ जुलाहे ताने मे लटकाते थे (वाजसनेयी सहिता यजु० १६।८०)।

चाँदी आभूषण (रुक्म, शतपथ १२।८।३।११), वरतन (पात्र) (तैत्तिरीय २।२।६।७, ३।६।६।५) और निष्क नाम गोल आभूपण या सिक्के बनाने के काम मे आती थी (पचविश ब्रा० १७।१।१४)।

सोना (हिरण्य) सिन्धु आदि नदियो से प्राप्त होता था (ऋग्वेद १०।७५।८) या खान से निकलता था (अथ० १२।१।६, २६।४४), या गलाकर बनाया जाता था (शतपथ ६।१।३।५, तस्मादश्मनोऽयो घमन्ति अयसो हिरण्यम्) या जल मे से धोकर निकाला जाता था (शतपथ २।१।१।५)। सोना गले के निष्क नामक आभूपण, कर्णशोभन नामक कान के आभूषण और पात्र बनाने के काम आता था (शतपथ ५।१।२।१६)। सोने की निश्चित तोल के सूचक भी कुछ शब्द हैं, जिनसे सोने के सिक्को का प्रमाण मिलता है जैसे (१) अष्ठाप्रूड (सम्भवत मूल शब्द

अष्टाप्रुष् था जिसका अर्थ ८ बुंदकियो मे चिह्नित था, काठक संहिता ११।१) और (२) शतमान=सौ रत्तियो की तोल (शतपथ ५।५।५।१६)।

इस नये युग मे हाथी (हस्ती या वारण), जो अपने शरीर-बल (वर्चस् अथर्व० ३।२२।६) और वृष-शक्ति (अथर्व० ६।७०।२) के लिए प्रसिद्ध था, पालतू बना लिया गया था। हाथीवान की संज्ञा हस्तिप थी। (वाजसनेयी ३०।११)।

राजनीतिक अवस्था—राजा—राजतन्त्र सशक्त होता हुआ शासन का सामान्य रूप ग्रहण कर चुका था। राजाधीन जनपदो की संख्या और विस्तार बढ रहा था।

राजत्व के उद्‌गम के विषय मे ऐतरेय ब्राह्मण (१।१।१४) मे यह विचित्र उल्लेख आया है

"देव और असुर परस्पर युद्ध करते थे। असुरो ने देवो को परास्त कर दिया। देवो ने कहा, 'हमारे यहाँ राजा न होने के कारण (अराजतया) असुर विजयी होते है, हम भी राजा का चुनाव करें।' सब सहमत हुए (राजानं करवामहा इति तथेति)।"

साम्राज्य—कई ग्रन्थो मे पाए जानेवाले जो राजनीति-शास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं जैसे नधिराज, राजाधिराज, सम्राट् और एकराट्—उनसे सूचित होता है कि सर्वोपरि सत्ता और साम्राज्य-शक्ति के भाव का विकास भी हो रहा था, जिसमे एक व्यक्ति राजाधिराज बनता था। ऐतरेय ब्राह्मण (८।१५) के अनुसार समुद्र-पर्यन्त पृथ्वी का शासक एकराट् कहलाता था। अथर्ववेद के अनुसार (३।१।४।१) एकराट् सर्वोपरि शासक को कहते थे, जैसे प्राच्य देश की प्रजाओ के अधिपति थे (प्राङ् विशाम्पति)।

सम्राटो के राज्याभिषेक के लिए विशेष संस्कारो का भी निर्माण हुआ, जैसे वाजपेय, राजसूय और अश्वमेध, जिनका ग्रथो मे वर्णन है। आपस्तम्ब श्रौत सूत्र (२०।१।१) के अनुसार अश्वमेध करने का अधिकार केवल सार्वभौम सम्राट् को था अर्थात् जो समस्त भूमि या पृथ्वी का शासक होता था। गोपथ ब्राह्मण के अनुसार राजसूय के द्वारा राजा बनता था, इसी प्रकार सम्राट् के लिए वाजपेय, स्वराट् के लिए अश्वमेध, विराट् के लिए पुरुषमेध और सर्वराट् के लिए सर्वमेध यज्ञो का विधान था।

इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ग्रन्थो मे उन राजाओ के नाम दिये है जो अपनी विजयो से इन राजनीतिक यज्ञो के अधिकारी बने। ऐतरेय ब्राह्मण (८।२।३) और शतपथ ब्राह्मण (१३।५।४) मे दो भरतवंशी राजाओ की पृथिवी-विजय का यशोगान है, जैसे दो पन्ति, जिसने सत्वन्त-जन को हराया और कुरु राष्ट्र मे, मष्णार स्थान मे, साचीगुण नामक स्थान मे और गंगा-यमुना के किनारे अश्वमेध यज्ञो द्वारा विजय प्राप्त की। इसी प्रकार दूसरा राजा सात्राजित शतानीक था जिसने काशी जनपद के राजा को हराया। "भरत के महत्त्व को न

पूर्व के न बाद के जनों मे कोई प्राप्त कर सका, जैसे पृथिवी पर खडे हुए किसी भी व्यक्ति के लिए हाथो मे आकाश का छूना कठिन है।[1] ऐसे बारह सम्राटो के नाम ऊपर के दो ग्रन्थो मे आये है। ऐतरेय ब्राह्मण (८।१५) के अनुसार इन राजाओ के समक्ष यह आदर्श था—"मैं सब प्रकार के विजयी की जय करूँ, सब लोको को प्राप्त करूँ और सब राजाओ के ऊपर श्रेष्टता, प्रतिष्ठा और परमता प्राप्त करूँ, एव साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठ्य, राज्य, महाराज्य आधिपत्य तथा सबके ऊपर सार्वभौम बनकर समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का एकराट् शासक बनूं।"

जनतन्त्रीय विशेषताएँ—यद्यपि एकाधीन राज्यतन्त्र इस प्रकार सुदृढ स्थिति प्राप्त कर चुका था किन्तु वह निरकुश या सर्वहारा न होकर कई प्रकार से मर्यादित ही था। राजतन्त्र के भीतर कई प्रजातन्त्रीय सस्थाएँ भी थी जिनका महत्त्व भूलना न चाहिए। ये इस प्रकार थी—(१) राजा के वरण मे जनता की सम्मति (जैसाकि, विशस्त्वा वृणता राज्याय, इस राज्याभिषेक मन्त्र से ज्ञात होता है), (२) अभिषेक के समय राजा के स्वायत्त अधिकारो पर लगाई गई मर्यादाएँ, (३) राजा का राज्य-कार्य के लिए मन्त्रि-परिषद् पर निर्भर रहना, और (४) सभा और समिति नामक जनता की सस्थाएँ जो राजा के निरकुश अधिकारो पर रोक लगाती थी।

राजा का चुनाव—अथर्ववेद के कई मन्त्रो मे राजा के चुनाव की सूचना पाई जाती है। छठे काण्ड के सूक्त-सत्तासी और अट्ठासी राजा के चुनाव से सम्बन्धित हैं। अथर्ववेद ६।७३ और ८।७४ सूक्तो से विदित होता है कि राजा जनता की भक्ति और समर्थन प्राप्त करने के लिए कितने उत्सुक रहते थे। जनता की भक्ति और पुष्टि राजा के सपत्न-शत्रु और ईर्ष्यालु बन्धु-बान्धवो से रक्षा के लिए आवश्यक थी (७।३४, १।२९, १।३०)। अथर्व० ३।३ मे स्वराज्य मे राजा के पुन स्थापन-सम्बन्धी मन्त्र हैं। अथर्व के एक मन्त्र मे राजा के राज्य से बहिष्कृत होकर दूसरे क्षेत्र मे विचरने का (अन्य क्षेत्रे अपरुद्ध चरन्त, ३।३।४) और अपनी प्रजा (प्रतिजना) एव विरोधियो से (प्रतिमित्रा) पुन आहूत होकर स्वागत पाने का उल्लेख है। अथर्व० ३।८।२ मे एक बार सिंहासन से उतारे हुए राजा के पुन वरण किये जाने का उल्लेख है। अथर्व ८।१० मे राजा के अपने राज्य से च्युत होकर पुन पदारूढ होने के लिए प्रयत्न करने का उल्लेख है। अन्य स्थानो मे भी राजाओ के अपने राज्य से बहिष्कृत किये जाने और खोये हुए ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए पुन. यत्न करने का वर्णन है। (तैत्तिरीय सहिता २।३।१, शतपथ ब्राह्मण १२।६।

१. महदद्य भरतस्य न पूर्वे नापरे जनाः। दिव मर्त्यमिव बाहुभ्याम नोदापुः पञ्चमानवाः। (शतपथ ब्राह्मण १३।५।३।१४)

३।३ इत्यादि)। पचविंश ब्राह्मण (१९।७।१-४) मे राडयज्ञ नामक एक विशेष सस्कार का उल्लेख है, जिसके द्वारा पदच्युत राजा पुन राज्य कर सकता था अथवा राज्यारूढ अवस्था मे अपने प्रति प्रजा की खोई हुई भक्ति पुन प्राप्त करता था। वाजसनेयी सहिता (अध्याय १९-२१) मे पदच्युत राजा के पुन सिंहासन प्राप्त करने से सम्बन्ध रखनेवाले कर्मकाण्ड का वर्णन है।

प्रजाओ की सहमति पर निर्भर राजा की यह नई स्थिति कुछ समुचित शब्दो से भी प्रकट होती है। अथर्ववेद (४।२२) मे उसे राजाओ मे राजा (क्षत्राणा राजेन्द्र), प्रजाओ का अधिपति (विशा विश्पति), कोष का एकमात्र स्वामी (धन-चपतिर्धनानाम्), जन का एकमात्र अधिपति और नेता (एकवृष जनाना), समस्त प्राणियो का प्रभु (वृष विश्वस्य भूतस्य), मनुष्यो मे सर्वोच्च (ककुद् मनष्याणा), और देवताओ के समकक्ष (देवानाम् अर्धभाक्) कहा गया है।

अभिषेक के समय की प्रतिज्ञाएँ—इनका अच्छा ज्ञान राजसूय-सम्बन्धी कर्मकाण्ड मे प्राप्त होता है, जिसका सर्वोत्तम वर्णन शतपथ ब्राह्मण मे आया है। इनके अनुसार एक विधि यह है कि मनोनीत राजा पृथिवी या मातृ-भूमि की अनुमति इन शब्दो मे प्राप्त करे—'माता पृथिवी! तुम मेरी हिंसा न करो और मैं तुम्हारी हिंसा न करूँ।" टीकाकार के अनुसार ऐसा करना इसलिए आवश्यक था कि भूमि उसका परित्याग न कर दे (मेय नावधुन्वीत)। व्याख्याकार की सम्मति मे यह रूपक सूचित करता है कि राजा और देश इस प्रकार एक-दूसरे के हितैषी हो जैसे माता और पुत्र (५।४।३।२०)। इसके अनन्तर प्रसवितृ देवताओ के लिए आहुतियाँ दी जाती हैं। धर्ममय शक्ति (सत्यप्रसव) के लिए सविता को, गार्हपत्य के लिए अग्नि को, वनस्पति और कृषि की रक्षा के लिए सोम को, वाक्शक्ति के लिए बृहस्पति को, ज्येष्ठ क्षत्र या उत्तम शासन के लिए इन्द्र को, पशु-रक्षा के लिए पशुपति रुद्र को, सत्य के लिए मित्र को, और सबके अन्त मे धर्मपति वरुण को जिससे धर्म के सस्थापक के रूप मे राजा की वास्तविक विशिष्टता प्रकट होती है (शतपथ ब्रा० ५।३।३।१२-९)। हिन्दू राजतन्त्र के अनुसार धर्म ही सच्चा अधिपति है, और राजा दण्ड या शासन का वह रूप है, जो धर्म की रक्षा और सस्थापना करता है। ऊपर लिखी आहुतियाँ राजा की विविध विशेषताओ और कर्तव्यो की प्रतीक है। वैदिक अनुश्रुति मे राजा के दैवी अधिकार की कल्पना नही है, किन्तु मन्त्रो द्वारा राजा मे दैवी गुणो का अध्यारोप किया जाता है। इसके अनन्तर सत्रह स्थानो से एकत्र सभृत जलो से राजा का अभिषेक किया जाता है। इनमे सर्वप्रथम वह बहती हुई धाराओ का जल लेता है जिनकी प्रतिनिधि पवित्र सरस्वती मानी गई थी। फिर क्रमश नदीपति समुद्र का जल, स्यन्दमान-जल, कूप्य-जल, परिवाही जल और यहाँ तक कि स्थावर ह्रद का जल भी लिया जाता था।

सरस्वती वाक् का प्रतीक थी, स्यन्दन-जल वीर्य का, परिवाही जल भूमा या समृद्धि का, समुद्र विश् या प्रजाओ का और स्थावर ह्रद राजा के प्रति प्रजाओ की दृढ भक्ति का सूचक था जो कि पुष्करिणी के ठहरे हुए जल की तरह स्थिर (स्थावरा) और अचचल (अनपक्रमणी, शतपथ ५।३।४।१४) होती थी। अभिषिञ्चन ब्राह्मण (अध्वर्यु), क्षत्रिय और वैश्य मिलकर करते थे जो कि राष्ट्र की तीन इकाइयाँ थी। राजसूय के कर्म काण्ड का दूसरा महत्त्वपूर्ण अग आसन्दी पर बैठने से पूर्व राजा का अभिषेचन या स्नान था। राजा को सर्वप्रथम धृतव्रत अर्थात् व्रतो मे प्रतिष्ठित होना चाहिए (ऐतरेय ब्रा० ८।१८)। उसे धर्म एव यज्ञो के प्रति सत्यात्मक होना चाहिए (सत्यसव,सत्यधर्म, तैत्तिरीय ब्रा० १।७।१०।१-६) और तब निम्नलिखित शपथ लेनी चाहिए "जिस रात्रि को मेरा जन्म हुआ और जिस रात्रि को मेरी मृत्यु होगी, इन दोनो के बीच मे जो मेरा यज्ञफल और दानादि पुण्य है, जो मेरा लोक मे धर्म, आयु और प्रजाएँ हैं वे सब नष्ट हो जायँ यदि मैं तुझसे द्रोह करूँ।"[1]

आसन्दी पर राजा के आरोहण करने समय राष्ट्र के चार अङ्गो—ब्राह्मण, क्षत्रिय,वैश्य और शूद्र—को आमन्त्रित किया जाता है कि वे महार्घनिधि की भाँति मनोनीत राजा की रक्षा करें। तब राजा की घोषणा इन शब्दो मे की जाती है "हे जनता ! अमुक व्यक्ति तुम्हारा राजा है, किन्तु हम ब्राह्मणो का राजा सोम है" (शतपथ ब्रा० ५।३।३।१२, ५।४।२।३)। इससे इस सिद्धान्त का समर्थन होता है, जैसा पहले कहा जा चुका है, कि धर्म, जिसका प्रतिनिधि ब्राह्मण है, उस राजा या छत्र से ऊपर है, जिसका शासन जीवन के उन व्यवहारो और क्षेत्रो पर है जो धर्म के अन्तर्गत नही आते। शतपथ ब्रा० (५।४।४।५) के अनुसार राजा और श्रोत्रिय दोनो ही मनुष्यो मे धर्म के धारण करने वाले हैं, क्योकि दोनो ही जो असाधु है उसके कहने या करने मे असमर्थ होते हैं। अन्यत्र (शतपथ २।२।२।६) कहा गया है कि जो ब्राह्मण वेद का स्वय अध्ययन करने वाले और अध्यापन कराने वाले है, वे मनुष्यो मे देव तुल्य है (अथ ये ब्राह्मण. शुश्रुवासोऽनूचानस्ते मनुष्यदेवा)। पुन घोषणा की जाती है "तुम्हे यह राष्ट्र दिया जाता है, कृषि के लिए, जनता के क्षेम के लिए और सर्वविध पोषण और उन्नति के लिए (इय ते राट्। कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा, यजु० ६।२२)। इससे स्पष्ट है कि राज्य निक्षेप की तरह राजा को सौपा जाता है और राजा के उस पर अधिकृत रहने की कसौटी जनता की कुशल-क्षेम और उन्नति है। अभिषेक के बाद एक

१. एतेनैन्द्रेण महाभिषेकेण क्षत्रिय शापयित्वा अभिषिञ्चेत स ब्रूयात सह श्रद्धया याञ्च रात्रीमजायेह याञ्च प्रेतास्मि तदुभयमन्तरेणेष्टापूर्त्त मे लोक सुकृतमायु प्रजा वृञ्जीथा यदि ते द्रुह्येयमिति।—ऐतरेय ब्रा० ८।१५

दूसरी महत्त्वपूर्ण क्रिया की जाती है जिसका स्वरूप यह था कि अध्वर्यु और उसके सहकारी राजा की पीठ पर प्रतीक-रूप मे दण्ड स्पर्श करते थे (दण्डैर्घ्नन्ति)। इसके फलस्वरूप राजा का पद अदण्ड्य कर दिया जाता है एव यह दण्डवध से अतीत मान लिया जाता है (एन दण्डवधमति नयन्ति, शतपथ ५।४।४।७)। इससे इस मत की पुष्टि होती है कि राजा स्वय दण्ड से अतीत रहते हुए उस दण्ड को धारण करता है जो धर्म का रक्षक है। राजा धर्म का विधाता या स्रोत नही, वह उसको धारण करानेवाला है।

मन्त्री—राजा मन्त्रियो पर आश्रित था, यह तथ्य राज्याभिषेक मे उनको मिले हुए कार्य मे सूचित होता है। इस कर्मकाण्ड की प्रक्रिया मे उन्हे रत्निन् कहा गया है अर्थात् रत्नो के प्राप्त करनेवाले, जिन रत्नो को मनोनीत राजा उनमे से प्रत्येक के घर जाकर रत्न-हवि नामक इष्टि के द्वारा प्रदान करता था। इस क्रिया का महत्त्व राजा के द्वारा उच्चारित इस वाक्य से ज्ञात होता है एतद् वा अस्यैक रत्नयत् सेनानीस्तस्मा एवैतेन सूयते त स्वमनपक्रमिण कुरुते यह उसका एक रत्न है जो सेनानी है, उसके लिए ही राजसूय मे राजा का अभिषेक होता है। इस इष्टि के द्वारा राजा उस रत्निन् को अपने अनुकूल करता है (शतपथ ५।३।१।६)। इसी प्रकार प्रत्येक रत्निन् मे राजा कहता था और उसे अभीष्ट था कि अपने अभिषेक के लिए उनकी सम्मति और उनकी भक्ति प्राप्त करे। प्रत्येक रत्निन् को राज्य के मुकुट मे एक-एक रत्न (अस्यैक रत्नम्) कहा गया है।

रत्न-हवि इष्टि का वैधानिक महत्त्व उन दो शब्दो से प्रकट होता है—एक राजकर्तृ और दूसरा राजकृन्—जो अथर्ववेद (३।५।७) और ब्राह्मण ग्रथो मे (ऐतरेय ८।१७।५, शतपथ ३।४।१।७, १३।२।२।१८) उन व्यक्तियो के लिए आते हैं, जो 'स्वय राजा न होते हुए' राजा के अभिषेक मे सहायता देते थे। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार ये 'राजकर्ता' ही राजा के आसन्दी पर बैठने की नियमानुसार जन से घोषणा करते थे।[1]

अथर्ववेद मे राजकर्ताओ के नाम ये हैं—(१) सूत, (२) रथकार, (३) कर्म्मार, (४) ग्रामणी और (५) राजान। अन्तिम श्रेणी मे राजा के सगे-सम्बन्धी श्रीमन्त लोग होते थे जिनका राजा के अभिषेक के लिए समर्थन कई जगह आवश्यक कहा गया है। उदाहरण के लिए अथर्व (१।६।३-४) मे राजा के लिए

---

१ इम जना अभ्युत्क्रोशत सम्राज साम्राज्य भोज भोजपितर स्वराज स्वाराज्य विराज वैराज्य परमेष्ठिन पारमेष्ठ्य राजन राजपितर क्षत्रमजनि क्षत्रियोऽजनि विश्वस्या भूतस्याधिपतिरजनि विशामत्ताऽजनि, अमित्राणा हन्ताऽजनि ब्राह्मणाना गोप्ताऽजनि धर्मस्य गोप्ताऽजनि इति ऐतरेय ८।१७।

अपने सजात सम्बन्धियो पर श्रेष्ठता प्राप्त करने की प्रार्थना है (सजातानां श्रैष्ठ्याधेहि एनम्), ३।४।३ मे सजातो के द्वारा राजा के स्वागत का उल्लेख है (अच्छा त्वा यन्तु हुविन सजाता) एवं १।१९ और १।२० सूक्तो मे सजातो को राजा का अमित्र और सपत्न कहा गया है। वस्तुत ये सजात लोग, जो स्वय भी राजा कहलाते थे, राजा को घेरे रहते थे और उनकी गणना करना और उनसे मित्रता रखना राजा का आवश्यक कर्त्तव्य था।

कालान्तर के ग्रन्थो मे राजकर्त्ताओ की सख्या बढ गई। तैत्तिरीय मे रत्नियो की सख्या बारह है—(१) ब्राह्मण अर्थात् पुरोहित, (२) राजन्य (सजात राजा), (३) महिषी (पटरानी), (४) वावाता (प्रिय रानी), (५) परिवृक्ति (निराकृत पत्नी), (६) सूत, (७) सेनानी, (८) ग्रामणी, (९) क्षत्ता (दौवारिक), (१०) सगृहीता (कोषाध्यक्ष), (११) भागदुघ् (राजग्राह्य कर सञ्चित करनेवाला) और (१२) अक्षावाप (अक्ष अर्थात् आय-व्यय का गणनाध्यक्ष, यहाँ कुछ लोग अक्ष का अर्थ द्यूत भी करते हैं)। शतपथ ब्रा० (५।५।१।१) मे दो नाम और हैं—(१) गोनिकर्तन (गवाध्यक्ष, जो बैलो को निर्लक्ष्य बधिया कराने के कारण इस नाम से आधीत होता था, कुछ लोग इसका अर्थ मृगयाध्यक्ष भी करते हैं) और (२) पालागल (दूत) एव मैत्रायिणी सहिता (२।६।५) के अनुसार तक्षा, रथकार, जिसे राजन्य राजा कहा गया है, और ग्रामणी, जिसे वैश्य-ग्रामणी कहा गया है, ये नाम अधिक हैं। पञ्चविंश ब्राह्मण (१९।१।४) मे एक अधिक प्राचीन और छोटी सूची उन वीरो की है, जो राजा के सहायक थे, जिनमे उनका भ्राता, पुत्र, पुरोहित, महिषी, सूत, ग्रामणी, क्षत्ता और सगृहीता सम्मिलित थे।

इन रत्नियो मे भी श्रेष्ठता का पूर्वापर क्रम नियत था। रत्न-हवि इष्टि के समय जिस क्रम से राजा उनके घर पर जाता था, वह उनके पद का सूचक है। सर्वप्रथम सेनानी के यहाँ और तदनन्तर पुरोहित एव दूसरो के यहाँ। केवल क्षत्ता, गोनिकर्तन और अक्षावाप को रत्न-हवि राजा के प्रासाद मे ही दी जाती थी। राजसूय यज्ञ के समय भी इनके पद का पौर्वापर्य्य का कुछ सकेत मिलता है। जब राजा स्फ्य नामक यज्ञीय खड्ग पहले राजभ्राता को, और तब क्रमश राजभ्राता सूत या स्थपति को, सूत या स्थपति ग्रामणी को, और ग्रामणी सजात को प्रदान करता था (शतपथ ५।४।४।१५-१९)।

परन्तु यह निश्चित नही कि ये नाम राजा के सभासद और निजी परिचारको के हैं अथवा सार्वजनिक पदाधिकारियो के। सूत, जिसका अर्थ प्राय सारथि या अश्वाध्यक्ष समझा जाता है, राजकवि या गायक भी हो सकता था, क्योकि उसके विशेषण अहन्ति (अ-योद्धा, वाजसनेयी १६।१८), अहन्त्य (तैत्तिरीय ४।५।२।१)

या अहन्त्व (=अहन्य, अवध्य, काठक १७।२) आये हैं। रामायण व महाभारत मे सूत का निश्चयपूर्वक यही रूप है। ऐसे ही ग्रामणी भी ऋग्वेद मे सैनिक पदाधिकारी है। वह वैश्य के लिए सर्वोच्च समृद्धि का पद कहा गया है (तैत्तिरीय २।५।४।४) और इस रूप मे वह ग्राम-सस्था की व्यावहारिक और सैनिक प्रमुखता का सूचक था। ग्रामणी पद पर आरूढ सर्वोच्च व्यक्ति, जिसकी गिनती राजा के निकटवर्ती मण्डल मे थी, सम्भवत मन्त्रि-परिषद् मे जनपदीय हितो का प्रतिनिधि था, जैसे कर्म्मार उद्योग-धन्धो का, सेनानी, रथकार और सूत सेना का एव सग्रहीता और भागदुघ् आर्थिक विषयो का। इसी प्रकार अक्षावाप भी 'सार्व-जनिक पदाधिकारी समझा जा सकता है, जो राज्य की अक्षशालाओ की अध्यक्षता करता था और उनसे प्राप्तव्य आय वसूल करता था, जैसाकि कालान्तर मे भी होता रहा" (वैदिक इडेक्स २।२००, टिप्पणी)। उदाहरण के लिए कौटिल्य ने द्यूताध्यक्ष को राज्य का एक विशिष्ट अधिकारी माना है। बात कुछ ऐसी है कि राजा के भवन के निकटवर्ती कार्याध्यक्ष ही राज-मन्त्रियो के रूप मे विकसित हो रहे थे, जैसा इग्लैड के आरम्भ-कालीन इतिहास मे भी मिलता है।

स्थपति एक ऐसा पदाधिकारी था जो रत्नियो मे नही गिना गया। चाक्र नामक स्थपति का वर्णन मिलता है कि उसने दुष्टरीतु नामक अपने स्वामी को अपनी शक्ति से राज्यासन तक पहुचाया, जहा से वह अपनी विद्रोही प्रजा सृ जयो द्वारा पदच्युत कर दिया गया था (शतपथ ब्रा० १२।८।१।१७)। यो स्थपति का अर्थ स्थानीय प्रशासक ज्ञात होता है, जैसे निषाद-स्थपति पद मे जो सूत्रग्रन्थो मे मिलता है (आपस्तम्ब श्रौत सूत्र ९।१४।१२)। पर क्योकि उसका पद सूत के नीचे था, उसे प्राय मुख्य न्यायाधिकारी समझा जाता है, जो व्यवहार और शासन-सम्बन्धी दोनो काम करता था।

जन-ससदें—सभा—सभा और समिति नामक जन-ससदो का वर्णन अथर्व-वेद (७।१२।१) मे आया है, जहाँ उन्हे प्रजापति की 'दुहितरौ' (दो पुत्रियो) के रूप मे भारतीय राजतत्र की मूलोत्थानीय और प्राचीनतम संस्था सूचित किया गया है। सभा का सदस्य सभेय, सभासद या सभासीन कहा गया है। सभा का प्रमुख सभापति था (वाजसनेयी १६।१४)। सभा का रक्षा-पुरुष सभापाल कहा जाता था (तैत्तिरीय ३।७।४।६)।

राजा के लिए सभा का इतना महत्त्व था कि प्रजापति भी सभा के बिना अपना कार्य नही कर सकते थे (छा० उप० ८।१४।१)। ऋषि गौतम का उल्लेख है कि वे राजा से मिलने के लिए सभा मे जाते है (वही ५।३।६)। शतपथ ब्रा० (३।३।५।१४) मे एक राजा के सभा करने का उल्लेख है जिसमे उसके अधीन राजा एकत्र होते हैं।

सभा वादविवाद और विचार-विनिमय द्वारा सार्वजनिक कार्य भुगताने के लिए एक ससद थी, अतएव वाग्मिता और वाद-शक्ति का बडा महत्त्व था और उनकी प्राप्ति के लिए प्रार्थना की जाती है (अथर्व ७।१२, एव १२।१।५६ या सभा अधिभूम्याम् ''समितय तेपु चारु वदेम ते)। एक मन्त्र मे प्रार्थना है कि उपस्थित सदस्यो के बीच मे मैं सुन्दर भाषण करूँ (चारु वदामि सगतेपु), कि सभासद लोग वक्ता की वात का समर्थन करें (ये ते के च सभासदस्ते ते मे सन्तु सवाचस), कि वक्ता सभा मे समासीन सदस्यो के तेज (वर्चस्) और बुद्धि (विज्ञान) को अपने वश मे करके उन्हे मन्त्रमुग्ध कर दे, समस्त सभासदो का मन मेरे ही भाषण मे आबद्ध हो जाए और रम जाए (मयि वो रमता मन, अथर्व० ७।१२।४)।

भाषण के नियम थे, जिनकी त्रुटि से जनित पाप का यजुर्वेद मे उल्लेख है (सभाया यदेनश्चकृमा वय ३।४५, पुन २०।२।१७)। भाष्यकार ने इस प्रकार की त्रुटि या सभा-सम्बन्धी अतिक्रमण का उदाहरण देते हुए महाजन तिरस्कार अर्थात् सभा के प्रतिष्ठित अधिकारियो के अपमान का उल्लेख किया है।

बहुमत से निश्चय करने की प्रथा का परिज्ञान था, जैसा कि अथर्ववेद मे सभा के सम्बन्ध मे प्रयुक्त नरिष्टा पद (७।१२।३) से ज्ञात होता है, जिसका अर्थ सायण ने "अहिसिता परैरभिभाव्या" किया है, क्योकि सभा मे अनेक व्यक्ति एकत्र होकर जो एक वात कहे, वह दूसरो पर भी वाधक हो (बहव सम्भूय यदि एक वाक्य वदेयु तत् हि न परै अतिलघ्यम्)।

अन्त मे, सभा न्यायालय का कार्य भी करती थी। यजुर्वेद (३०।६) मे समाचार को धर्म या न्याय के लिए दीक्षित कहा गया है, अतएव समाचार का अर्थ ऐसा किया जा सकता है—"धर्म का निरूपण करने के लिए न्यायालय के रूप मे एकत्र सभा मे उपस्थित होनेवाला," जो ग्रन्थो मे प्रयुक्त सभासद इस शब्द के समान है (अथर्व० ३।२९।१, ७।१२।२, १९।५५।५, ऐतरेय ब्रा० ८।२१।१४, इत्यादि) जिसका तात्पर्य सभा मे उपस्थित अन्य किसी सदस्य से नही, वरिक केवल निर्णायक से ही हो सकता है जो सभा मे व्यवहार-सम्बन्धी प्रश्नो का निर्णय करता था। सम्भवत इस शब्द के अर्थ से कुलवृद्ध भी अभिप्रेत थे, जिनसे वह सभा बनती थी जो सामान्य काम-काज की अपेक्षा न्याय-सम्बन्धी निर्णय के लिए अधिक वार वैठती थी। इस सम्बन्ध मे ऋग्वेद का एक मन्त्र उल्लेख योग्य है (१०।७१।१०), जहाँ एक व्यक्ति को किल्विष या अपराध से मुक्त किये जाने पर सभा से प्रसन्नतापूर्वक लौटते हुए कहा गया है (किल्विष-स्पृत् अपराध सस्पृष्ट, पितुपणि —अपराध-मुक्त)। पारस्कर गृह्यसूत्र मे सभा को नादि और त्विषि अर्थात् शब्दवती और प्रकाशवती कहा गया है। शब्द का कारण सभा मे होनेवाला धर्म-निरूपण था

और प्रकाश का कारण वह अग्नि थी जो दिव्य परीक्षाओ के लिए सभा-भवन मे रखी जाती थी।

तैत्तिरीय सहिता (२।३।१।३) मे गाव के न्यायाधिकारी ग्राम्यवादिन का उल्लेख है और मैत्रायणी (२।२।१) मे उसकी सभा का।

समिति—ऊपर कहा जा चुका है कि अथर्ववेद (७।१२) मे सभा और समिति को प्रजापति की दो पुत्रियाँ कहा गया है, जिसका अर्थ है आद्य सस्थाएँ, जो भारतीय सस्कृति के उपाकाल मे स्थापित हुईं। सम्भवत साहित्य और इतिहास मे जनतन्त्रीय सस्थाओ का यह प्राचीनतम उल्लेख है और इसी के साथ ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त मे उल्लिखित जनतन्त्र-विषयक वे तथ्य है जो पहले कहे जा चुके हैं। उपलब्ध प्रमाणो से यह स्पष्ट ज्ञात नही होता कि समिति और सभा मे सगठन और कर्तव्यो की दृष्टि से क्या अन्तर था। सम्भवत सभा वृद्ध जनो की छोटी और चुनी हुई सस्था थी और न्यायालय का कार्य करती थी, जबकि समिति बडी जनता की ससद् थी। अतएव समिति के लिए अथर्ववेद के कई मन्त्रो मे कहा गया है कि राजा के चुनाव मे वह विश् या जन की वाणी की प्रतिनिधि थी। एक मत्र मे समिति राजा का समर्थन करती है (ध्रुवाय ते समिति कल्पतामिह) और अन्यत्र वह राजा के दुष्कर्मो और अत्याचार के कारण उसका अनुमोदन नही करती (नास्मै समिति कल्पते, ५।१९।१५)। यह भी कहा गया है कि शत्रुओ को परास्त करने के लिए और राज्यासन पर अपनी स्थिति दृढ करने के लिए समिति के समर्थन की राजा को आवश्यकता थी। (ध्रुवोच्युत ६।८८।३)।

विद्या और शिक्षा—इस युग मे, जैसा हम देख चुके है, विस्तृत और विभिन्न प्रकार के साहित्य का उदय हुआ। उपनिषद् सदृश कुछ ग्रथो मे बुद्धि और ज्ञान की उन्नति की पराकाष्ठा देखी जाती है। यह साहित्य का स्वर्णयुग था जिसका जन्म उन चरण-सज्ञक वैदिक सस्थाओ मे हुआ जो अपनी शिक्षा-विधि की क्षमता और सफलता के लिए विख्यात थी। इन शिक्षा-सस्थाओ पर उचित ध्यान नही दिया गया है, और न उस युग के बहुत-से ग्रन्थो मे से किसी मे उनका सीधा वर्णन ही पाया जाता है। उस युग के साहित्य मे इधर-उधर बिखरे हुए वाक्यो से, इतर विषयक अवतरणो से, अथवा प्रसगोपात्त उदाहरणो से इनका परिचय जाना जाता है।

अथर्ववेद और यजुर्वेद में ब्रह्मचर्य के आश्रम के नियम—ब्रह्मचर्य-प्रणाली का सर्वप्रथम उपदेश अथर्ववेद मे आया है (११।३, और भी ६।१०८।२, १३३।३)। सबसे पहले उपनयन सस्कार का उल्लेख है, जिसके द्वारा आचार्य ब्रह्मचारी को एक नये जीवन मे दीक्षित करता था, जिसे द्वितीय जन्म कहा गया है और जिससे वह ब्रह्मचारी द्विज बनता था। उपनयन के द्वारा ब्रह्मचारी को नया,

सायण की व्याख्या के अनुसार विद्यामय शरीर प्राप्त होता था, जो माता पिता से प्राप्त स्थूल शरीर से भिन्न था। शिष्य के लिए इस नये मिले हुए जीवन के विशेष चिह्न और नियम थे। वह कृष्ण मृगचर्म पहनता है (कार्ष्णं वसान), मौञ्जी-मेखला बाँधता और लम्बे बाल रखता (दीर्घश्मश्रु) है। वह साय-प्रात अग्निहोम के लिए समिधा लाता है, जिस अग्नि की उपासना के द्वारा वह स्वय तेजस्वी बनता है (समिधा समिद्ध —सन्दीपित —सायण)। भिक्षा भी उसके कर्तव्यो मे से है। उसके लिए इन्द्रिय-निग्रह (श्रम) और तप आवश्यक हैं। तप से वह आचार्य को तृप्त करता है (आचार्य तपसा पिपर्ति)। शिष्य का पाप आचार्य को भी लगता है (शिष्यपाप गुरोरपि)। उसका जीवन एकदम नियमो से कसा हुआ (दीक्षित) होता है। एक मत्र मे ब्रह्मचारी के द्वारा आचार्य को दक्षिणा आदि से सन्तुष्ट करने का उल्लेख है (११।३।१५)। विद्या के उद्देश्य और फल श्रद्धा, मेधा, प्रज्ञा, धन, आयु और अमृतत्व बताये गए है (१६।६४।१४)। इस प्रकार सासारिक और आध्यात्मिक दोनो क्षेत्रो मे सफलता-प्राप्ति उसका अभिप्राय था। विशेष अवस्थाओ और स्थानो मे अनध्याय रखने के भी उल्लेख है, जैसे अन्तरिक्ष मे मेघो के आने पर, आँधी चलने पर, वृक्ष-वनस्पतियो के घने झुरमुट मे या घास-फूस से भरे हुए जगल मे (अन्तरिक्षे, वाते, वृक्षेषु, उलपेषु, ७।६६।१)।

यजुर्वेद (तैत्तिरीय स० ६।३।१०।५) मे ब्रह्मचर्य द्वारा ऋषिऋण या सस्कृति के प्रति अपने कर्तव्य से उऋण होने का उल्लेख है, जैसे यज्ञ द्वारा देव-ऋण से और सन्तान (प्रजनन) द्वारा पितृऋण से।

ब्राह्मण-ग्रन्थो मे ब्रह्मचर्य के नियम—शिक्षा पद्धति की ये विशेषताएँ उत्तर-कालीन ग्रथो मे भी वर्णित है। इस पद्धति का मूलतत्त्व छात्र का शिक्षक के कुल मे निवास करना था, जिससे उसकी सज्ञा अन्तेवासी (बृहदारण्यक ६।३।१५) या आचार्यकुल-वासी (छादोग्य २।२३।१) होती थी। आचार्यकुल मे रहते हुए उसके ये कर्तव्य थे आचार्य के लिए भिक्षान्न लाना (छादोग्य ४।३।५), अग्नि परि-चर्या करना (वही ४।१०।२), घर का कार्य करना (शतपथ ३।६।२ १५) और आचार्य के लिए गोसेवा करना (छादोग्य ४।४।५)। शतपथ ब्राह्मण (११।३।३।५) के अनुसार दारिद्रचव्रत लेकर आचार्य के लिए भिक्षावृत्ति स्वीकार करने मे शिष्य आत्मसस्कृति या विनय का भाव प्राप्त करता है, एव अग्नि मे समिधाधान करने से वह अपने आत्मा या मन को तेज और ब्रह्मवर्चस् से (वही ११।५।४।५) प्रदीप्त करता है। गोचारण से विद्यार्थी को कई लाभ होते थे, जैसे वातातपिक जीवन या खुली वायु मे व्यायाम, गोपालन की शिक्षा और ऐसे ही अन्य लाभ। छात्र के लिए दिन मे सोना वर्जित था (वही)।

गुरुकुलवास—छात्रावस्था के आरम्भ और उसकी अवधि के समय एक-से न थे। श्वेतकेतु ने १२ वर्ष की आयु मे अध्ययन आरम्भ किया और १२ वर्ष तक जारी रखा (छादोग्य ६।१।२)। उपकोसल ने भी अपने आचार्य सत्यकाम जाबाल के पास १२ वर्ष अध्ययन किया (वही ४।१०।१)। इससे भी लम्बे अध्ययन-काल का उल्लेख है, जैसे ३२ वर्ष तक या जीवन-पर्यन्त (वही ८।७। ३, १५)।

चरक—इन गुरुकुलो या घरेलू शिक्षा-सस्थाओ के अतिरिक्त जिनमे पृथक्-पृथक् अध्यापक स्वय अपने शिष्य चुनकर शिक्षा देते थे, ग्रन्थो मे अन्य प्रकार के शिक्षा-साधनो का भी उल्लेख है। नियमित छात्रावस्था की समाप्ति पर शिक्षा की समाप्ति नही होती थी। तैत्तिरीय उप० (१।११) मे विदा होते हुए स्नातक के प्रति आचार्य का एक उल्लेखनीय अनुशासन दिया हुआ है (अर्वाचीन विश्वविद्यालयो के दीक्षान्त भाषण का पूर्वरूप) जिसमे अन्तेवासी से कहा गया है कि वह स्वाध्याय और प्रवचन अर्थात् ज्ञान का स्वय उपार्जन और दूसरो को उसके वितरण मे प्रमाद न करे। अनेक शिक्षित व्यक्ति ऐसे थे जो गृहस्थ आश्रम मे प्रवेश करने के बाद भी ज्ञान-साधना बनाये रखते थे और इसके लिए परस्पर शास्त्रीय चर्चा अथवा प्रसिद्ध विशेषज्ञो से एव विभिन्न केन्द्रो तथा विद्वानो से शिक्षा-लाभ करते रहते थे। स्थान-स्थान मे विचरण करनेवाले इन विद्वानो को चरक कहा गया है (बृहदारण्यक ३।३।१), जो देश मे वास्तविक ज्ञान का प्रचार करते थे (शतपथ ४।२।४।१)। ग्रथो मे इनके कितने ही उदाहरण आते हैं। कुरुपञ्चाल देश के उद्दालक आरुणि उत्तर मे जाकर वहाँ के उदीच्य विद्वानो को शास्त्रार्थ के लिए ललकारते है, पर फिर उनके प्रमुख शौनक के आगे नतमस्तक होते है (वही ११।४।१।२४)। उन्होने मद्र देश मे जाकर वहाँ के प्रसिद्ध दार्शनिक पतञ्चलकाप्य से उपदेश ग्रहण किया (बृ० उ० ३।७।१)। पाँच महाशाल महाश्रोतियो ने एकत्र होकर परस्पर विचार किया—"आत्मा क्या है ? ब्रह्म कौन है ?" तब वे भगवान् उद्दालक आरुणि और राजा अश्वपति कैकय के पास वैश्वानर विद्या की शिक्षा लेने के लिए गये (वही १०।६।१।१२, छा० उ० ५।११)। नारद अपने समय की सब विद्याओ का अध्ययन समाप्त करने के बाद और उच्चतर उपदेश के लिए सनत्कुमार के पास जाकर जिज्ञासा करते है (छा० उ० ७।१४)।

परिषद्—इस प्रकार की उच्च शिक्षा के लिए नियमित सस्थाओ का उल्लेख आता है, जैसे पञ्चाल-परिषद्, जिसे पाञ्चाल जनपद के राजा प्रवाहण जैवलि का सरक्षण प्राप्त था जो सदा उसकी बैठको मे उपस्थित रहते थे (छा० उ०, ५।३, बृ० उ० ६।२।१-७)।

विद्वत्सम्मेलन—गुरुकुलो, उच्च शिक्षा की परिषदो और 'चरक' विद्वानो के अतिरिक्त राजाओ की ओर से आमन्त्रित विद्वत्सभाओ द्वारा भी ज्ञान को बहुत प्रोत्साहन मिलता था। इसका एक अच्छा उदाहरण वैदेह जनक द्वारा बहु-दक्षिण यज्ञ के समय आमन्त्रित वह सभा थी जिसमे कुरु और पाञ्चाल जनपद के अनेक ब्राह्मण सम्मिलित हुए थे। उस सभा मे प्रमुख विद्वान् याज्ञवल्क्य थे जिनके सामने उस समय के आठ अग्रणी दार्शनिको ने अपने तत्त्वचिन्तन-सम्बन्धी कठिन प्रश्न रखे। उसके नाम इस प्रकार थे—(१) उद्दालक आरुणि, जो एक विद्वन्मण्डल के केन्द्र थे, जहाँ से उपनिषदो के चिन्तन को बहुत अधिक लाभ हुआ, (२) जनक के होता अश्वल, (३) आर्तभाग, (४) ज्येष्ठ आरुणि के सहपाठी भुज्यु, (५) उशस्त, (६) कहोड, (७) शाकल्य, और (८) वचक्नु की विदुषी दुहिता गार्गी। सब प्रश्नो का सन्तोषप्रद उत्तर देने के कारण याज्ञवल्क्य अपने समकालीन दार्शनिको मे श्रेष्ठ माने गए और राजा का एक सहस्र गौओ का पुरस्कार उन्हे प्राप्त हुआ जिनमे से प्रत्येक के सीगो मे पाँच-पाँच सुवर्ण-पाद बँधे हुए थे (बृ० उ०, ३)।

तत्कालीन विद्या और ज्ञान का एक उदाहरण—याज्ञवल्क्य—वस्तुत याज्ञवल्क्य का जीवन उस समय ज्ञान-साधन की सस्थाओ और परिस्थितियो पर अच्छा प्रकाश डालता है। आरम्भ मे वे उद्दालक आरुणि के शिष्य थे जिनका पुत्र श्वेतकेतु उनका सहपाठी था। पुन अपने साथी श्वेतकेतु और सोमशुष्म के साथ हम उन्हे देश मे विचरण करता हुआ देखते है। तभी उनकी वैदेह जनक से भेंट हुई, जिसने उन्हे ज्ञान-चर्चा मे हरा दिया। वे दोनो तो चले गए, किंतु याज्ञवल्क्य का सत्यान्वेषण सच्चा था, अतएव वे जनक के पीछे जाकर विना हिचकिचाहट एक क्षत्रिय राजा से उपदेश प्राप्त करते है। विद्या का उपदेश पाकर ब्राह्मण-शिष्य याज्ञवल्क्य ने अपने क्षत्रिय-गुरु राजा को एक वरदान दिया। जनक ने कहा—"हे याज्ञवल्क्य! मेरा एक काम-प्रश्न (इच्छानुसार पूछा जानेवाला प्रश्न) तुम्हारे पास धरोहर रहा" (श० ब्रा० ११।६।२)। इसके वाद याज्ञवल्क्य को हम जनक द्वारा बुलाई गई उपरोक्त दार्शनिक सभा मे पाते हैं जहाँ वे अपने गुरु उद्दालक की अपेक्षा भी श्रेष्ठ सिद्ध होते है। पुन तीन वार हम उन्हे अपने अपूर्व उपदेष्टा राजा जनक को भी ज्ञान देते हुए पाते हैं। जित्वन्, उदक, बर्कु, गर्दभीविपीत, सत्यकाम और शाकल्य, इन छ विद्वानो ने ब्रह्म की छ पृथक्-पृथक् परिभाषाएँ जनक को वताई। याज्ञवल्क्य ने उन व्याख्याओ के उपनिषद् या रहस्य का उपदेश जनक को दिया। अन्य अवसरो पर जनक ने उनसे प्रश्न किया—मृत्यु के उपरान्त हम सव कहाँ जाएँगे? डॉयसन के अनुसार "इस प्रश्न का याज्ञवल्क्य के उत्तर से अधिक उपयुक्त समाधान आज भी हमारे पास नही

है।" (फिलॉसफी ऑफ दि उपनिषद्, पृ० ६०)। जनक इस उत्तर से इतने प्रभावित हुए कि उन्होने अपने-आपको सेवक कहकर उपदेष्टा गुरु के सामने अपना सारा राज्य रख दिया। एक तीसरे अवसर पर याज्ञवल्क्य ने राजा को ब्रह्म के विषय मे अपना अन्तिम उपदेश दिया, कि ब्रह्म की प्राप्ति के लिए अपने-आपको इषणाओ से रहित करना आवश्यक है। "इस प्रकार जानते हुए पूर्व समय के ज्ञानियो ने सन्तति की इच्छा न की। उन्होने सोचा जिनके पास यह आत्मिक ज्ञान और ब्रह्मलोक है उन्हे प्रजा की क्या आवश्यकता है?" पुनश्च, आत्मा वह है जो भूख-प्यास, दुःख और राग, जरा और मृत्यु से अतीत है, उस आत्मा को जानकर ब्राह्मण पुत्र की कामना, धन की कामना और लोक-सग्रह और स्वर्ग की कामना से ऊपर उठकर त्यागमय जीवन अपनाकर अगृही भिक्षु बन जाते है और आत्मज्ञान से प्राप्त होने वाली महिमा से ही जीवित रहते है। उस अवस्था मे वे ध्यान मे निरत हो जाते है और अन्तत ब्रह्म मे लीन हो जाते है (बृ० उ०)।

याज्ञवल्क्य स्वय अपनी शिक्षा अपने ऊपर लागू करने मे कम तत्पर न थे। उनकी दो स्त्रियाँ थी—मैत्रेयी और कात्यायनी। एक दिन उन्हे बुलाकर वह बोले—"मैं प्रव्रज्या लेकर इस स्थान से वन मे जाना चाहता हूँ। आओ, तुम दोनो के लिए अन्तिम व्यवस्था कर दूँ।" मैत्रेयी ने कहा, "भगवन्" वित्त से पूर्ण इस सारी पृथ्वी की भी यदि मैं स्वामिनी बनूँ तो क्या मुझे अमरत्व प्राप्त हो जाएगा?" याज्ञवल्क्य ने कहा, "नही, धन से अमरत्व की आशा नही रखनी चाहिए।" इस पर मैत्रेयी बोली, "जिससे मैं अमर न बन सकूँ उसे लेकर मैं क्या करूँ? भगवन्, आप जिस अमरत्व को जानते है, वही मुझे बताइए।" तब याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को ब्रह्म का उपदेश दिया और प्रव्रजित हुए (बृ० उ० ४।६)।

प्राचीन भारत की विद्या या सस्कृति उन आश्रमो का फल थी जो एकान्त अरण्य मे बनाए जाते थे। यह नगर की सस्कृति न थी। अरण्यो मे उपार्जित ज्ञान आरण्यक नामक विशेष ग्रन्थो मे उपनिबद्ध हुआ था। भारतीय सस्कृति अपने आरम्भिक युगो मे आरण्यो मे प्रतिपालित हुई, नगरो मे नही।

शिक्षा के क्षेत्र मे स्त्रियाँ और क्षत्रिय—इस शिक्षा-पद्धति की दो विशेषताएँ ध्यान देने योग्य है—पहली यह कि स्त्रियाँ बौद्धिक क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण भाग लेती थी, जैसे गार्गी, जिसने दार्शनिको की परिषद के समक्ष उच्च ज्ञान के विषयो पर भाषण दिया, या जैसे मैत्रेयी जिसने उच्चतम ब्रह्म-विद्या प्राप्त की। ऋग्वेद मे भी विश्ववारा, घोषा, अपाला सदृश स्त्रियो ने मन्त्रो की रचना की। दूसरी विशेषता ज्ञान के क्षेत्र मे क्षत्रियो का वह सक्रिय भाग है, जो विद्या के उपासक और सरक्षक के रूप मे राजाओ ने लिया, जिनमे विदेह के राजा जनक अति प्रसिद्ध थे। इनके विद्या-सम्बन्धी कार्यो का ऊपर उल्लेख हो चुका है। पञ्चाल के राजा प्रवाहण

जैवलि भी इनमे थे, जिन्होने शिलक, दाल्भ्य (छा० उ० १।८), श्वेतकेतु और उनके पिता उद्दालक (वहीं ५।३), इन ब्राह्मण विद्वानो को भी उपदेश दिया। कैकय देश के राजा अश्वपति भी विद्वान् थे जिनसे ब्राह्मण शिष्यो ने उपदेश लिया (वही ५।११)। राजा प्रतर्दन (कौ० ब्रा० २६।५), अथवा राजा जानश्रुति (छा० उ० ४।१-३) भी इसी प्रकार के ज्ञानी थे। ब्राह्मण विद्वानो मे अग्रणी नारद ने, स्वय अनेक विद्याओ मे पारगत होते हुए भी आत्म-विद्या के विषय मे सनत्कुमार मे उपदेश लिया (कौ० ब्रा० ७।१)। सनत्कुमार ने नारद से कहा कि उनका समस्त अध्ययन शब्द-मात्र का ज्ञान था, अर्थात् वे मन्त्रवित् तो बने आत्मवित् नही। उद्दालक आरुणि और उसके पुत्र श्वेतकेतु राजा चित्र गागायनि से उपदेश लेते है (कौ० उ० १।१)। जानश्रुति पौत्रायण भी ज्ञानी सम्राट् थे (छा० उ० ४।२।३)। राजा बृहद्रथ भी इस श्रेणी मे थे (मैत्रायणी उ०)। काशिराज अजातशत्रु ज्ञानी थे, जिनकी विद्या की श्रेष्ठता शिष्य-समूह प्रसिद्ध ब्राह्मण दार्शनिक दृप्त-बालाकि गार्ग्य ने भी स्वीकार की थी, जिनका अपना विद्याजनित यश उशीनर, सात्वत-मत्स्य, कुरु-पञ्चाल और काशी-विदेह तक फैला हुआ था (बृ० उ० २।१।१)।

वेदपाठ—मौलिक परम्परा के द्वारा धार्मिक ग्रन्थो की रक्षा भी शिक्षापद्धति का उद्देश्य था। वेदपाठ की आवश्यकता सर्वोपरि थी। प्रात काल पक्षियो के कलरव से भी पूर्व ब्रह्मचारी वेदपाठ का आरम्भ कर देते थे (पुरा वयोभ्य , पक्ष्यादीना वाग्वदनारम्भात्प्रागित्यर्थ , तै० स० ६।४।३।१ , ऐ० ब्रा० २।१५)। ऐतरेय आरण्यक (८) मे ऋग्वेद के प्रसिद्ध मण्डूक सूक्त का उल्लेख करते हुए ऋक् पारायण के तीन प्रकार कहे है—प्रतृण्ण, निर्भुज और उभयमन्तरेण, अर्थात् शब्दो को एक-एक करके, जोडे मे, या लगातार पढते हुए, जिनका सम्बन्ध क्रमश पद-पाठ, क्रमपाठ और सहिता-पाठ से था। इसी के साथ स्वर-सम्बन्धी शिक्षाशास्त्र का भी विकास हुआ। ऐतरेय और शतपथ के आरण्यको मे घोष, ऊष्मा, व्यञ्जन, दन्त्य, दन्त्य नकार और मूर्धन्य णकार एव श, ष, स और सन्धि के नियमो का भी उल्लेख पाया जाता है। इससे भी आगे बढकर उपनिषदो मे शिक्षा का ज्ञान और भी विकसित हुआ, जहाँ स्वरो की मात्रा, बल (स्वर), साम और सन्तान इनका भी उल्लेख हुआ (तै० उ० १।१।२)। मेधा के लिए भी प्रार्थनाएँ मिलती है—"ईश्वर हमे मेधा से युक्त करे, हम अपने कानो से अधिकाधिक श्रुत ज्ञान का उपार्जन करे, और जो हम पढे उसकी रक्षा करे (स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु, कर्णाभ्या भूरि विश्रुवम्। श्रुत मे गोपाय—तै० उ०, १।४)। मध्याह्न के समय वेदपाठ उच्च स्वर से किया जाता था। उच्चारण और वाक् की शुद्धि उत्तम सस्कृति का चिह्न मानी जाती थी। अपूत वाक् बोलनेवाले ब्राह्मण कुलो को ऋत्विक् बनाने

अथर्ववेद के कुछ मन्त्रो मे जहाँ ज्वर का वर्णन है (५।२२), आयुर्वेद-सम्बन्धी मूल्यवान सामग्री पाई जाती है।

विभिन्न शाखाएँ और चरण—यह ध्यान देने योग्य है कि यह समस्त साहित्य देश-भर मे फैले हुए वैदिक अध्ययन और व्याख्या के कार्य मे सलग्न चरण-नामक अनेक शिक्षा-सस्थाओ का फल था। आरम्भ मे मूल वैदिक मन्त्रो की रक्षा और प्रचार, देश के विभिन्न भागो मे फैले हुए कुलो और गोत्रो मे हुआ। कालान्तर मे अन्य सस्थाओ का विकास हुआ, जिनमे गुरु और शिष्य रक्त-सम्बन्ध के अतिरिक्त विद्या-सम्बन्ध के आधार पर एक-दूसरे के साथ सगत होते थे। ये सस्थाएँ चरण कहलाई जिनमे वेद की एक-एक शाखा के अध्ययन करने वाले और जानने वाले विद्वान् एकत्र होते थे। ऋग्वेद सहिता का अध्ययन कई शाखाओ के रूप मे होता था। प्रत्येक शाखा का अध्ययन करने वाला चरण (या विद्यालय) अपनी शाखा के प्रति आग्रह रखता था। जैसे वेद की शाखाएँ विभिन्न चरणो मे विभिन्न होती थीं उसी प्रकार, लेकिन उससे कुछ व्यापक रूप मे चरणो मे पढे जाने वाले ब्राह्मण-ग्रन्थ भी अलग-अलग थे। प्रत्येक चरण या वैदिक विद्यालय मे शाखा या मन्त्र-पाठ, कर्मकाण्ड मे मन्त्रो का विनियोग और अपने ब्रह्मचारी तथा अध्यापकवर्ग के आचार और अनुशासन-सम्बन्धी नियम निजी होते थे। मूल सहिताओ के थोडे-थोडे पाठान्तरो पर आश्रित वैदिक शाखाओ की पाठ-परम्परा को सुरक्षित रखने का चरणो मे बडा ध्यान रखा जाता था।

परा विद्या—मुण्डकोपनिषद् मे अध्ययन के ये सब विषय, जैसे चार वेद, छह वेदाग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष) अपरा विद्या के अन्तर्गत माने गए हैं। इसके अनुसार परा विद्या शब्द सर्वोच्च ज्ञान या आत्म-ज्ञान के लिए ही है, जो कि उपनिषदो का सच्चा विषय है जो सब विद्याओ की प्रतिष्ठा है

पिशाच-विद्या के अर्थ मे), दैव-विद्या (सम्मोहन वशीकरण, जिसमे तैत्तिरीय ब्राह्मण (२।४) के अनुसार नाग लोग विशेषकर निष्ठित थे), अथवा असुर-विद्या (शतपथ ब्राह्मण के अनुसार)। गोपथ ब्राह्मण (१।१०) के अनुसार सर्प-विद्या, असुर-विद्या और पिशाच-विद्या ये तीन एव इतिहास और पुराण मिलकर पाँच नये वेद थे। इससे भी आर्य और अनार्य सभ्यताओ का सम्पर्क और प्रभाव सूचित होता है। उस सम्पर्क की सूचना पुरुषमेध के प्रकरण मे तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।४।२।१३) के उस उल्लेख से भी मिलती है, जिसमे सूत, मागध, ऋतुल (राजा और जनपद-सम्बन्धी आख्यानो के करने वाले) का, जो जनता के प्रशिक्षण का कार्य करते थे, वर्णन शैलूष, नर्तक और स्थपति आदि के साथ-साथ किया गया है।

और जो वेद का अन्त (वेदाग) अर्थात् वैदिक विज्ञान का अतिम और सबसे ऊँचा पद है (मु०उ०१।१।२।३, ३।२।६)। नारद ने दु खपूर्वक यह स्वीकार किया है कि वेद और दूसरे विषयो के उनके सारे पाण्डित्य ने भी उन्हे सच्चे ज्ञान या आत्म-विद्या से, जिससे वे शोक-समुद्र के पार जा सके, रहित ही रखा (छा०उ०७।१।)। कठोपनिषद् मे स्पष्ट कहा है कि "न तो आत्मा 'वेद-ज्ञान' से मिलती है, न मेधा से, और न बहुत पोथो के पढ़ने से", और उसमे समस्त अपरा विद्या को, जिसमे वेद भी सम्मिलित हैं, अविद्या (सच्ची विद्या का अभाव) ही माना गया है। इस-लिए कुछ उपनिषदो मे वैदिक यज्ञो का मूल्य भी बहुत कम आँका गया है। मुण्डक (१।२।७) के अनुसार यज्ञीय कर्मकाण्ड को श्रेयस्कर मानने वाले लोग मूढ है। उसी स्वर मे बृहदारण्यक (१।४।१०) मे देवो को आहुति देने वाले व्यक्तियो की तुलना उन पशुओ से की गई है जो अपने स्वामी के लाभ के लिए कार्य करते हैं। ऐतरेय आरण्यक (३।२।६) मे कहा गया है—"किसलिए हम वेदो का अध्ययन करें ? किसलिए हम यज्ञ करे ? हम तो प्राण की वाक् मे और वाक् की प्राण मे आहुति देते हैं।"

इसकी प्राप्ति किस प्रकार हो—इस प्रकार शिक्षा का ध्येय सर्वोच्च ज्ञान, आत्मा का ज्ञान, ब्रह्म-ज्ञान अथवा आत्म-साक्षात्कार था। इस प्रकार का ज्ञान प्रथम आश्रम की सीमा मे रहकर शिष्य-जीवन व्यतीत करने से प्राप्त होना सम्भव न था, इसके लिए जीवन समर्पण करने की आवश्यकता थी। ब्रह्मचर्य आश्रम मे तो इसकी नीव रखी जाती थी। इसकी प्राप्ति के लिए अधिक उच्चतर और दीर्घकालीन प्रयत्न की आवश्यकता थी, जैसा कि बृहदारण्यक (४।४।२२) मे कहा है—"ब्राह्मण वेदाध्ययन से, यज्ञ से, दान से, तप से, उपवास से, उसे जानने का प्रयत्न करते है, और जो उसे जान लेता है, वह मुनि हो जाता है। ब्रह्मलोक की कामना करते हुए लोग घर छोडकर प्रव्रज्या ग्रहण करते है, यह जानकर पूर्व-कालीन विद्वानो ने सन्तान की इच्छा नही की और पुत्रैषणा, वित्तैषणा एवम् लोकैषणा से ऊपर उठकर भिक्षाचरण किया।" कठोपनिषद् (२।१५) मे वेद, तप और ब्रह्मचर्य, ये उसी एक आत्मा को जानने के साधन कहे गए है। मुण्डक (२।७) मे तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य और यज्ञ-विधि को उसी एक देव से सप्रसूत कहा है। मैत्रायणी उपनिषद् (४।३।४) के अनुसार ज्ञान विद्या, चिन्ता, और तप का फल है। तैत्तिरीय उपनिषद् (३) का वचन है—'तप से ब्रह्म को जानो।" जैसा ऊपर कहा जा चुका है, याज्ञवल्क्य ने सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक का पद प्राप्त कर लेने के बाद भी ससार को त्यागकर वन का आश्रय लिया, जिससे तप द्वारा वे ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर सके। इन सब प्रमाणो से यही सूचित होता है कि शिक्षा का उद्देश्य सर्वोपरि सत्य और अन्तिम तत्त्व के ज्ञान की प्राप्ति समझी

जाती थी, किन्तु साधारणत उसकी प्राप्ति सम्भव न थी। केवल ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यासी के जीवन-पर्यन्त किये हुए तप पूत प्रयत्नो से ही आत्म-ज्ञान की प्राप्ति सम्भव थी।

कठोपनिषद् मे यम ने नचिकेता की आत्म-विषयक जिज्ञासा की परीक्षा किये बिना उसे ज्ञान का उपदेश नही दिया। मर्त्य की जो-जो कामनाएँ होती हैं उन सबको उसे प्रदान करने का प्रलोभन देकर उसने नचिकेता को विरत करना चाहा, "शतायु पुत्र और पौत्र, बहुसख्यक पशु, हाथी, घोडे, सुवर्ण, पृथिवी का राज्य, सुन्दर स्त्रियाँ और इच्छानुसार चिर-जीवन, जो-जो चाहो माँग लो।" किन्तु नचिकेता ने उत्तर दिया, "ये वाहन, नृत्य और गीत तुम अपने पास ही रखो, धन से कोई मनुष्य सुखी नही हुआ।" तब यम ने स्वीकार किया, "हे नचिकेता, मैं तुझे विद्या का अनुरागी मानता हू, ये बहुत-से भोग भी तुझे लुभा न सके।" राजा जानश्रुति सयुग्वा रैक्व ऋषि के पास छह सौ गाएँ, निष्क और अश्वतरी रथ उपहार मे लाये किन्तु रैक्व ने उनको अस्वीकार करते हुए कहा, "अरे शूद्र, ये गौएँ, या निष्को का हार और यह रथ, तेरे ही पास रहे (छा०उ० ४।२)।"

ये आख्यान इस बात की भली-भाँति सूचना देते हैं कि सर्वोपरि सत्य के ज्ञान के लिए किस आन्तरिक विकास की आवश्यकता थी।

धर्म—कर्मकाण्ड और ऋत्विज पद्धति की वृद्धि—*ब्राह्मण ग्रन्थो* से विदित होता है कि यज्ञीय कर्मकाण्ड और ऋत्विज् सम्बन्धी प्रणाली की उस समय बहुत बढ़ती हुई। एकाह सोमयज्ञो से लेकर द्वादसरात्र, एक सवत्सर, या कई वर्षों तक चलने वाले अनेक प्रकार के यज्ञो का विकास हुआ। ऋग्वेद मे (२।१।२) होता, पोता, नेष्टा, अग्नीध, प्रशास्ता, अध्वर्यु और ब्रह्मा इन सात ऋत्विजो का और उद्गाता एवम् उसके सहायक प्रस्तोता इन दो सामवेदीय ऋत्विजो का नाम आता है। यज्ञों मे निम्नलिखित सत्रह ऋत्विजो की आवश्यकता होती थी—

(१) होता और उसके सहायक मत्रावरण, अच्छावाक, ग्रावस्तुत्।

(२) उद्गाता, और उसके सहायक प्रस्तोता, प्रतिहोता और सुब्रह्मण्य।

(३) अध्वर्यु, और उसके सहायक प्रतिष्ठाता, नेष्ठा और उन्नेता।

(४) ब्रह्मा, और उसके सहायक ब्राह्मणाच्छसी, अग्नीध्र, और पोता।

सत्रहवाँ ऋत्विज सदस्य था जो प्रधान ऋत्विज के पद से समस्त यज्ञ की देखभाल करता था। अध्वर्यु के तीन छोटे सहायक और होते थे—शमिता, वैकर्त और चमसाध्वर्यु।

कर्मकाण्ड का अध्यात्म अर्थ—कुछ यज्ञो के पीछे एक नये अध्यात्म अर्थ और परोक्ष प्रतीको की उद्भावना हो रही थी। यज्ञीय वेदी और त्रेताग्नि के

लिए बनने वाली चितियो के सम्बन्ध मे यह बात स्पष्ट सूचित होती है। ग्रन्थो मे चितियो का आवश्यकता और उपयोगिता से कही अधिक विस्तृत वर्णन पाया जाता है, क्योकि उससे विश्व की मूलभूत एकता के प्रतीक की व्याख्या होती है। इस परोक्ष अर्थ की व्यञ्जना सर्वप्रथम ऋग्वेद के पुरुषसूक्त मे पाई जाती है, जिसमे विराट् पुरुष से सृष्टि की कल्पना की गई है। ब्राह्मणो मे पुरुष के स्थान मे प्रजापति है और "यज्ञ के विषय मे कल्पना की गई है कि विश्व की स्थिति के लिए वह निरन्तर आवश्यक है। इस यज्ञ की पूर्ति वेदी-निर्माण का उद्देश्य है, जिसके रूप मे विराट् प्रजापति के ही स्वरूप का निर्माण किया जाता है। वेदी मे स्थापित अग्नि ही प्रजापति है एव प्रजापति और अग्नि दोनो ही यजमान के दैवी प्रतिरूप हैं। स्वय प्रजापति का स्वरूप सम्वत्सर है और सम्वत्सर ही मृत्यु है। इस प्रकार यज्ञ के द्वारा यजमान मृत्युरूप हो जाता है और इस प्रक्रिया से मृत्यु के ऊपर उठ जाता है, एव सदा के लिए अनित्य दु खमय जगत् से ऊपर अमृत आनन्द का आलोक प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार प्रजापति और यजमान दोनो का प्रज्ञान या चैतन्यरूप स्वरूप विदित होता है। 'शतपथ ब्राह्मण' मे सत्य के जिज्ञासु के लिए निर्देश है कि वह उस आत्मा का ध्यान करे जो प्रज्ञायुक्त है, चैतन्यमय है, ज्योतिर्मय है। और दिव्य स्वभाव वाला है।" (कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, १।१४२)।

उपनिषदो मे माया, कर्म, पुनर्जन्म, मुक्ति और आत्मा-सम्बन्धी विचार— इसी मत को लेकर उपनिषदो मे और अधिक विस्तार पाया जाता है। तदनुसार ब्रह्म या आत्मा ही एकमात्र मूलभूत आयतन और अन्तिम तत्त्व है, जैसा ऊपर कहा गया है। अवश्य ही उपनिषदो मे एक नये दर्शन का प्रतिपादन है, जो यज्ञरूप कर्मों का प्रतिपक्षी है, और जो लगभग २५०० वर्षों तक हिन्दू-धर्म का दार्शनिक दृष्टिकोण रहा है। सत्य-ज्ञान के फलस्वरूप प्रत्यगात्मा के विश्वात्मा या ब्रह्म मे अन्तर्लीन हो जाने से प्राप्त होने वाला ससार-मोक्ष ही उनका उद्देश्य है। इस ध्येय के लिए यज्ञीय कर्म व्यर्थ है और ज्ञान ही महत्त्वपूर्ण है। इस जीवन-क्रम मे पार्थिव भोग और स्वर्गीय सुख के लिए बिलकुल स्थान नही है। आत्मा और ब्रह्म की एकता तत्त्वमसि इत्यादि वाक्यो मे (छा० उ०) घोषित की गई है। मानवीय दर्शन के इतिहास मे सर्वप्रथम बृहदारण्यक उपनिषद् मे ही ब्रह्म या परात्मा का ज्ञान और निश्चित वर्णन पाया जाता है (मैक्डानल्ड, इण्डियाज पास्ट, पृष्ठ ४६)। भौतिक जगत् का माया रूप मे उल्लेख बाद के श्वेताश्वतर उपनिषद् मे मिलता है, यद्यपि प्राचीन उपनिषदो मे भी यह विचार अन्तर्निहित है। अन्तत, पुनर्जन्म का विचार भी शतपथ ब्राह्मण मे पहले-पहल आता है, जहाँ यह कहा गया है कि बार-बार जन्म और मृत्यु के रूप मे कर्म-फल प्राप्त

होता है। उपनिषदो मे इसी का विस्तार करते हुए कहा गया है कि सत्य-ज्ञान से युक्त परिव्राजक देवयान द्वारा ब्रह्म मे लीन हो जाता है, और पराविद्या से रहित सद्गृहस्थ पितृयान गति प्राप्त करके कर्मफल के अनुसार पृथ्वी पर पुन-पुन जन्म लेता है। यो हम देखते है कि इस युग मे हिन्दू-धर्म मे प्रमुख दार्शनिक मतो का प्रतिपादन हुआ।

रुद्र और विष्णु देवताओ का प्रादुर्भाव—उक्त दार्शनिक मत के साथ-साथ एक दूसरा आन्दोलन और चल रहा था, जिससे अर्वाचीन भारतीय धर्मों के महान् देवता रुद्र और विष्णु का प्रादुर्भाव हुआ। प्रजापति का स्थान अब रुद्र को मिल रहा था जो पहले भी यजुर्वेद मे लोकसम्मत देवता के रूप मे आते हैं, और ऐतरेय ब्राह्मण मे भूतपति का उल्लेख है, जो देवो के उग्र रूप का प्रतीक था, और प्रजापति का हनन करने वाले रुद्र का भी रूप था। विष्णु यज्ञ-रूप है, इस मत से उनके बढते हुए पद की सूचना मिलती है, जो इस बात का भी प्रमाण है कि वैदिक जीवन मे उनका महत्त्वपूर्ण स्थान था।

महाभारतकालीन भारत
35
30
25
20
15
10
तुषार
दरद
गान्धार
तक्षशिला
काम्बोज
कैकेय
हिमवन्त
बाह्लिक
सिन्धु
सौवीर
सरस्वती
इन्द्रप्रस्थ
मत्स्य
शूद्र और आभीर
हस्तिनापुर
अहिच्छत्र
कोसल
विदेह
काशी
मगध
गिरिव्रज
किरात
चीन
प्राग्ज्योतिष
कुन्तल
द्वारका
मही
माहिष्मती
नर्मदा
विन्ध्य
निषाद
ताप्ती
विदर्भ
कोसल
महानदी
कलिंग
कुन्तिराष्ट्र
गोदावरी
भीमरथी
कृष्णा
कावेरी

: ६ :
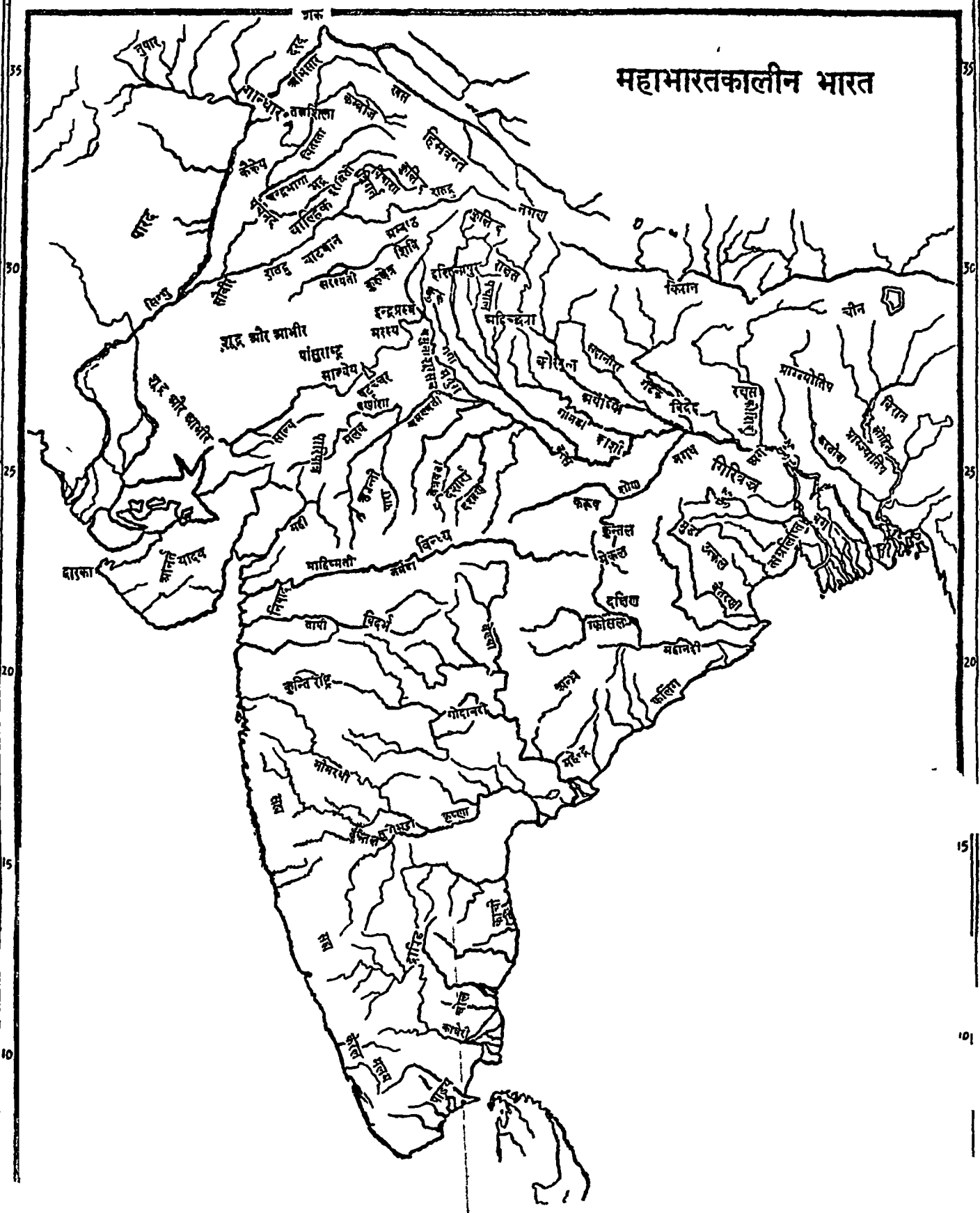
वेदोत्तरकालीन साहित्य अर्थात् सूत्र, महाभारत, रामायण और धर्मशास्त्रों मे वर्णित सभ्यता

काल—ऊपर कहे हुए तीन प्रकार के ग्रन्थ, जिनसे कि उत्तरकालीन ब्राह्मण-साहित्य बना, लगभग ८०० ई० पू० से आरम्भ होते हैं। उनमे से कुछ प्रमुख ग्रन्थ अपने वर्तमान रूप मे बहुत अधिक बाद के भी है। किन्तु वह सामग्री उन ग्रन्थो की अपेक्षा, जिनमे वह उपनिबद्ध है, अत्यधिक प्राचीन है। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि वेदोत्तरकालीन इस साहित्य मे भारतीय सस्कृति का वह चित्र प्रस्तुत है जैसा कि जैन-धर्म और बौद्ध-धर्म के उदय से पूर्व स्थिर हो चुका था।

सूत्र—सक्षिप्त नियमो के रूप मे एकत्र पिरोये हुए शास्त्रीय अनुशासन के ग्रन्थ 'सूत्र' कहलाए (सूत्र, अर्थात् धागा)। अधिक-से-अधिक सामग्री कम-से-कम शब्दो मे सूत्रो के द्वारा दी जाती है। उन्होने विशाल धार्मिक साहित्य-सम्बन्धी सामग्री के सार को कण्ठाग्र करने के लिए सरल रूप मे प्रस्तुत करके सुरक्षित करने मे सहायता दी। पहले सूत्र-ग्रन्थ वेदाग-सम्बन्धी थे, जिनमे कल्प, शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष, ये छह विषय थे। इन सबका उद्देश्य धार्मिक ग्रन्थो की व्याख्या, रक्षा और उन्हें व्यावहारिक विनियोग के उपयुक्त बनाना था। इनमे सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भाषा-सम्बन्धी है, जिनका विषय शिक्षा, शब्द-निरुक्ति और व्याकरण है। इनमे सबसे मूल्यवान और अब तक प्रचलित यास्क का 'निरुक्त', जो वेदेतर लौकिक सस्कृत-गद्य का सर्वप्रथम उदाहरण है, और पाणिनि की अष्टाध्यायी है। यह पिछला ग्रन्थ वेदोत्तर सस्कृत-साहित्य का आरम्भ-बिन्दु और उसके समग्र विकास का नियामक था, यद्यपि उसका आधार ब्राह्मण, उपनिषद् और सूत्रो के शब्द-प्रयोग की भाषा थी, न कि लौकिक सस्कृत। वैदिक व्याकरण के रूपो की चर्चा इसमे लौकिक सस्कृत के अपवाद-रूप मे आई है।

अन्य सूत्र-ग्रन्थ कल्प नामक वेदाग से उद्गत हुए और तीन प्रकार के है—(अ) श्रौत सूत्र, जिनमे महायज्ञो का वर्णन है। इनमे अनुष्ठान के लिए बहुत-से

ऋत्विजो की आवश्यकता होती थी, (आ) गृह्यसूत्र, जिनमे गृह-यज्ञो और कर्मकाण्ड का वर्णन है। इनका अनुष्ठान गृहस्थ लोग करते थे, और (इ) धर्म-सूत्र, जिनमे परम्परा-प्राप्त आचार और व्यवहार का प्रतिपादन है।

पाणिनीय व्याकरण मे सभ्यता का चित्र[1]—उसका काल—पाणिनीय व्याकरण अपने युग के इतिहास पर कुछ प्रकाश डालती है। गोल्डस्टूकर ने इस आधार पर कि पाणिनि केवल तीन वैदिक सहिताओ और निघण्टु (यास्क का निरुक्त) से परिचित थे, उनका काल ७वी सदी ई० पू० से पहले माना था। श्रीरामकृष्ण गोपाल भण्डारकर का भी यही मत था, कारण कि पाणिनि के ग्रन्थ मे दक्षिण भारत का अधिक परिचय नही पाया जाता। मैकडानल्ड के मतानुसार (इण्डियाज़ पास्ट, पृष्ठ १३६), "पाणिनि का काल ३५० ई० पू० के लगभग मान लिया जाता है, किन्तु इसके लिए प्रमाण अति सन्दिग्ध है, शायद यह कहना अधिक निरापद है कि वे ५०० ई० पू० के बाद, सम्भवत तुरन्त बाद, हुए थे।"

भौगोलिक विस्तार—पाणिनि के भौगोलिक क्षेत्र की सीमाएँ पूर्व में कलिंग (४।१।७०), पश्चिम मे सिंध (४।३।३२), और कच्छ (४।२।१३३), उत्तर मे तक्षशिला (४।३।९३) और स्वात नदी का प्रदेश (४।२।७७), और दक्षिण मे अश्मक (४।१।१७३, =गोदावरी-तट पर प्रतिष्ठान) तक विस्तृत थी। विभिन्न प्रदेश या राज्य जनपद कहलाते थे, जिनमे से उन्होने बाईस का नामोल्लेख किया है, जैसे कैकय (७।३।२), गधार (४।१।१६९), कबोज (४।१।१७५), मद्र (४।२।१३१), अवन्ति (४।१।१७६), कुरु (४।१।१७२, २।१३०), साल्व (४।१।१७३), कोसल (४।१।१७१), भरत (४।२।११८, ८।३।७४), उशीनर (४।२।११८), यौधेय (४।१।१७८), वृजि (४।२।१३१), और मगध (४।१।१७०)। इनके अतिरिक्त पाणिनि ने प्राच्य जनपदो (४।१।१७८) का उल्लेख किया है, जिनमे 'काशिका' के अनुसार पचाल, विदेह, अग और वग सम्मिलित थे।

शासन-सम्बन्धी विभाग—इन राज्यो के नाम उनमे रहने वाले क्षत्रियो के नाम से पडे थे (४।१।१६८)। उनके क्षत्रिय शासक जनपदिन् (४।३।१००) कहलाते थे। एक ही जनपद के नागरिक सजनपदा कहलाते थे (६।३।८५)। जनपद का प्रतिनिधि उसका शासक राजा था, अतएव जनपद की भक्ति और क्षत्रिय राजा की भक्ति समानार्थक थी (४।३।१००)। इस प्रकार उस युग मे भी देश-प्रेम का जीता-जागता भाव लोगो मे था।

---

१ प्रमाण-ग्रन्थ—वासुदेवशरण अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारतवर्ष (इण्डिया इन पाणिनि), मेरे निरीक्षण मे सम्पादित पी-एच० डी० और डी० लिट्० निबन्ध, लखनऊ विश्वविद्यालय।

भिन्न-भिन्न जनपदो को सुनिश्चित सीमाएँ एक-दूसरे से पृथक् करती थी (४।२।१२४)।

जनपद से नीचे उतरकर विषय (४।२।५२), नगर और ग्राम शासन के विभाग थे। कबीले का नाम अपने ग्रामीण के अनुसार रखा जाता था (४।२।७८)।

उस काल मे परिज्ञात साहित्य—पाणिनि ने ऋग्वेद (६।३।५५), सामवेद (१।२।३४), यजुर्वेद (२।४।४) एव ऋग्वेद की शाकल शाखा (४।३।१२८), उसके पदपाठ (४।२।६१) और सूक्त, अध्याय और अनुवाक विभाग (५।२।६०) तथा कृष्ण यजुर्वेद की काठक शाखा (७।४।३८) का उल्लेख किया है।

उन्हे ब्राह्मण-ग्रन्थो का भी परिचय था और उन्होने तीस और चालीस अध्यायो वाले (५।१।६२) दो ब्राह्मणो का उल्लेख किया है, जो कीथ के अनुसार ऐतरेय और कौषीतकी ब्राह्मण थे।

उन्होने तित्तिर, वरतन्तु (जिनके शिष्य कौत्स यास्क के समय मे थे), काश्यप और कौशिक, शौनक, कठ, चरक, कलापिन्, छगलिन् एव कलापी और वैशम्पायन के शिष्य ऋषियो द्वारा प्रणीत छन्दस् ग्रन्थो का उल्लेख किया है (४।२।१०१-१०६)। सूत्रो मे से उन्हे प्राचीन ऋषियो के पुराण प्रोक्त कल्पसूत्रो (४।३।१०५) का परिचय था, और साथ-ही-साथ उन्होने अपने समकालीन सूत्र-ग्रन्थो का जैसे पराशर और कर्मन्द के भिक्षु-सूत्र, एव शिलाली और कृशाश्व के नटसूत्र (४।३। ११०-१११) का भी उल्लेख किया है।

उन्हे विभिन्न प्रकार के लौकिक साहित्य का भी परिचय था, जिसमे नाटक (शिशुकन्दीय, ४।३।८८), श्लोक (३।१।२५), गाथा, कथा (४।४।१०२) या महाभारत (६।२।३८) की भी गणना थी। उन्हे व्याख्यान साहित्य का भी परिचय था, जैसे पुरोडाश (४।३।७०) की व्याख्या करने वाले ग्रथ, व्याकरण-सम्बन्धी ग्रन्थ, जिनका विषय सज्ञा (नाम) और धातु (आख्यात, ४।३।७२) थे, छन्द-सम्बन्धी ग्रन्थ एव ऋचाओ से सम्बन्धित आर्थिक और यज्ञो के व्याख्या-परक आध्वरिक ग्रन्थ।

पाणिनि ने इन सब विविध ग्रन्थो का वर्गीकरण इस प्रकार किया है—(१) दृष्ट ('प्रतिभासित', अर्थात् श्रुति), (२) प्रोक्त जिनका प्रवचन किया गया हो, अर्थात् अपेक्षाकृत गौणस्थानीय ग्रन्थ, (३) उपज्ञात, (लेखक द्वारा प्रथम बार मौलिक रूप मे उपदिष्ट) और कृत (विरचित), और (४) व्याख्यान (अर्थात्, अन्य ग्रन्थो की व्याख्याएँ)।

शिक्षा—उपनयन की विधि आचार्य-करण (१।३।३६) कहलाती थी। शिष्य को छात्र कहते थे, क्योकि गुरु सब दोषो से उसे ढककर रखते (आच्छादित) या बचाते थे (४।४।६२)। एक ही गुरु के शिष्य सतीर्थ्य और सब्रह्मचारी (६। ३।८५) कहलाते थे। छात्रो का नाम आचार्य के नाम के अनुसार, जैसे पाणिनि

के छात्र पाणिनीय (६।२।३६), अथवा उनके अध्ययन के विषयो के अनुसार पडता था, जैसे छन्द का अध्ययन करने वाला छान्दस, व्याकरण का वैयाकरण और उसी प्रकार निरुक्त का नैरुक्त, उक्थ का औक्थिन , वैदिक अग्निष्टोम, वाजपेय आदिक ऋतुओ का अध्येता आग्निष्टोमिक या वाजपेयिक, और उसी प्रकार सूत्रो का अध्येता वार्तिक सूत्रिक, साग्रह सूत्रिक आदि (४।२।५९-६०)।

पढाने वाले को साधारणतया अध्यापक कहा जाता था। वेदपाठ या छन्दो का पारायण करने वाले विशेषज्ञ श्रोत्रिय (५।२।८४) कहलाते थे। वैदिक मन्त्रो के अर्थों का प्रवचन करने वाले गुरु को प्रवक्ता कहते थे। कभी-कभी ऐसा होता था कि एक चरण दूसरे वैदिक चरण की पारायण-विधि को अपना लेता था, जिसे अनुवाद कहा जाता था (२।४।३)। गुरु वेदपाठ कण्ठ कराते समय प्राय पाँच बार मन्त्र को दोहराते थे, लेकिन जो शिष्य केवल एक बार सुनकर ही धारण कर लेता था उसे एकसन्धग्राही (५।१।५८) कहते थे। वेदपाठ करते हुए जितनी अशुद्धियाँ कोई छात्र करता था, उन्हीकी सख्या के अनुसार उसका नाम पड जाता था, जैसे ऐकान्यिक, द्वैयन्यिक इत्यादि, त्रयोदशान्यिक, चतुर्दशान्यिक तक।

वैदिक विद्यालय या चरणो मे स्त्रियाँ भी प्रविष्ट होती थीं। कठचरण की छात्रा कठी कहलाती थी। स्त्रियो के लिए छात्रावास छात्रिशालाएँ कहलाते थे (६।२।८६)।

प्रत्येक चरण के अन्तर्गत अध्यापक और उच्च छात्रो की चुनी हुई मण्डली परिषद् कहलाती थी। वैदिक शाखाओ के सदिग्ध पाठ और अर्थों के विषय मे परिषद् के निर्णय चरण के लिए मान्य होते थे। प्रातिशाख्य ग्रन्थ इन्ही परिषदो की उपज थे।

आर्थिक जीवन—विभिन्न वृत्तियाँ या जीविका के साधन—पाणिनि से उन्नत आर्थिक जीवन-सम्बन्धी सामग्री मिलती है। जनपदो मे पनपने वाले भिन्न-भिन्न शिल्प या देशो के लिए उन्होने जानपदी वृत्ति (४।१।४२) शब्द का उल्लेख किया है। कुछ लोग वेतन से भी जीविकोपार्जन करते थे (वेतनादिभ्यो जीवति, ४।४।१२)। सरकारी कर्मचारी इसी श्रेणी मे थे। वे अध्यक्ष और युक्त कहलाते थे (६।२।६६-६७)। आयुधजीविका अर्थात् शस्त्रोपजीवी लोगो का भी उल्लेख हुआ है (४।४।१४)। भृत्ति या मजदूरी लेकर काम करने वाले कर्मकार मजदूरो का भी उल्लेख आता है। (१।३।३६), जो ठहराई शर्तो मे बँधकर (परिक्रयण, १।४।४४) काम करते थे। कर्मकारो की मजदूरी नगद और सामग्री के रूप मे दी जाती थी (२।२।२२)।

व्यापार और सूद—क्रय, विक्रय (४।४।१३) से सूचित व्यापार और दुकान-

शराब चुआने की भट्ठी (आसुति, ५।२।११२), और भभके (शुण्डिका, ४।३।७६) का भी उल्लेख है।

नापतोल—कई प्रकार की नापतोल विदित थी, जैसे खारी (५।१।३३), पात्र (५।१।४०), विस्त (वित्त, ५।१।३१), शतमान (५।१।२७), आढक (५।१।५३), आचित (४।१।२२), पुरुष (पुरसा जो पानी या खाई की माप थी, ५।२।३८), दिष्टि और वितस्ति (बालिश्त, ६।२।३१)।

सिक्के—पाणिनि के समय मे निम्नलिखित सिक्के विदित थे—कार्षापण (५।१।२६), निष्क (५।१।२०,३०), पण (५।१।३४), पाद, माषा (५।४।१), और शाण[1] (एक छोटा तांबे का सिक्का, ५।१।३५)।

सम्भूय संस्थाएँ (Corporations)—एकीकृत या सघीभूत जीवन, जन-शासन और गण-सस्थाओ की उत्पत्ति उन कई शब्दो से विदित होती है जिनका पाणिनि ने सम्बन्धित सस्थाओ के लिए उल्लेख किया है। इन शब्दो का परिचय इस प्रकार है—

१. कुल और वश (६।१।१६)—कुल परिवार की सज्ञा थी। वही कई पीढियो तक चलने पर वश कहलाता था। किन्तु वश रक्त-सम्बन्ध और विद्या-सम्बन्ध दोनो प्रकार से बनता था।

२. गोत्र—(४।१।१६२-१६५)—यह रक्त-सम्बन्ध पर आश्रित इकाई थी, जिसका निकास एक वश-स्थापक या गोत्रकृत् से माना जाता था, जिसके नाम पर गोत्र का नाम पडता था, जैसे वत्स द्वारा सस्थापित वत्स-गोत्र मे उसका पुत्र वात्स, पौत्र वात्स्य, और प्रपौत्र वात्स्यायन कहलाता था। इसी प्रकार सपिण्ड से तात्पर्य पितृकुल के छह पूर्वजो से और उनके छह पीढी तक के वशजो से था। पाणिनि ने अनेक प्राचीन और प्रसिद्ध गोत्रो का नामोल्लेख किया है, जैसे अत्रि, भृगु, अगिरा इत्यादि, जिनमे से कई उस समय नामशेष हो चुके थे। कभी-कभी ऐसा होता कि गोत्र के वशज भी बहुत प्रसिद्ध हो जाते और उनके नाम से नये गोत्र चल पडते, जैसे आगिरस गोत्र मे उत्पन्न कपि और बोध से नये गोत्र चले (४।१।१०७)। पिता के अज्ञात होने पर माता के नाम से भी गोत्र की ख्याति होती थी (४।१।१४)। कभी-कभी किसी प्रसिद्ध व्यक्ति से भी वश चल पडता था, जैसे मुखर से मौखरि। ऐसे लौकिक गोत्र गोत्रावयव (४।१।७६) कहलाते थे।

---

१. वस्तुतः शाण चाँदी का छोटा सिक्का था, जिसकी तोल १०० रत्ती के शतमान का आठवाँ भाग या १२½ रत्ती के बराबर थी (अष्टौ शाणाः शतमान वहन्ति, वनपर्व १३४।१४)।—अनुवादक

३. चरण—(४।३।१०४)—वेद की विशेष-विशेष शाखाओ के अध्ययन के लिए विद्यालयो की सज्ञा चरण थी। चरण के सस्थापक आचार्य उस शाखा का अध्ययन कराते थे, और उन्ही के नाम से चरण का नामकरण होता था। उनके शिष्यो द्वारा नये चरणो की स्थापना भी सम्भव थी, जैसे वेदव्यास के शिष्य वैशम्पायन थे, जिन्होने यजुर्वेद को क्रमबद्ध किया। इन्ही वैशम्पायन के शिष्य आरुणि और कलापी थे, जिन्होने नये चरणो की स्थापना की।

४. सघ—(३।३।८६)—इनके दो भेद थे—गण (३।३।८६), और निकाय (३।३।४२)।

निकाय—धार्मिक सघ था जिसमे जन्म के कारण छोटे-बडे का भेद नही था (अनौत्तराधर्य सघ)।

गण—राजनीतिक सघ की सज्ञा थी, जिसमे सभी जाति के लोग सम्मिलित होते थे, और शासक-क्षत्रियो का विशेष वर्ग होता था, जो मूर्धाभिषिक्त राजन्य कहलाते थे (६।२।३४, तथा उस पर काशिका टीका)। राजन्य श्रेणी के क्षत्रिय ही सघ की शासन-समिति के सदस्य हो सकते थे। सघ-शासन मे राजनीतिक दल भी होते थे, जो वर्ग कहलाते थे, और नेता के नाम पर जिनका नाम पडता था, जैसे अन्धकवृष्णि-सघ मे वासुदेववर्ग्य, अक्रूरवर्ग्य अर्थात् वासुदेव और अक्रूर दल के अनुयायी। सघ मे अधिकार के लिए स्पर्धा भी रहती थी, जैसे अन्धक-वृष्णि-सघ मे थी। इसके कारण सघ दो दलो मे बँट जाता था, जिसे व्युत्क्रमण कहते थे (द्विवर्ग-सम्बन्धी पृथगवस्थिता द्वन्द्व व्युत्क्रान्ता इत्युच्यन्ते, ८।१।१५), और प्रत्येक दल द्वन्द्व कहलाता था (६।२।३४)। पाणिनी ने कुछ सघो का नामोल्लेख किया है, जैसे यौधेय (५।३।११७), और क्षुद्रकमालव (खडिकादि गण मे, ४।२।४५)। उन्होने सघो के समुदाय का भी उल्लेख किया है, जैसे त्रिगर्त देश के छह सघो का समुदाय त्रिगर्तषष्ठ कहलाता था (५।३।११६), अथवा अन्धक और वृष्णियो का भी सयुक्त सघ था (५।३।११४), जिसमे शासन की सभा प्रत्येक सघ के राजन्य नेता से बनी थी, जिसके पीछे अपना-अपना वर्ग था, जैसे शिनि और वासुदेव, श्वाफल्क और चैत्रक, या अक्रूर और वासुदेव, जो भिन्न-भिन्न वर्गो के थे। क्षुद्रक और मालव-सघो की सयुक्त सेना क्षौद्रक मालवी सेना कहलाती थी। (४।२।४५)।

गण के रूप मे सघ के अन्तर्गत सब जातियो मे विभक्त समग्र जनता सम्मिलित थी, जिन्हे सघ के लाभ एक समान प्राप्त थे। ब्राह्मण और क्षत्रिय के वाचक शब्द शूद्र के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्दो से पृथक् थे, जैसे क्षुद्रक सघ के अन्तर्गत ब्राह्मण और क्षत्रिय की सज्ञा क्षौद्रक और शूद्र की क्षौद्रक्य होती थी।

छन्दसो निर्मिते (४।४।९३) सूत्र के अनुसार व्युत्पादित् 'छन्दस्य' शब्द का

अर्थ था, जो छन्द या सदस्यो के मत के अनुसार निश्चित हो। इससे सूचित होता है कि सघ मे कार्य का सचालन सदस्यो के मतानुसार होता था। पालि मे भी मत (वोट) के लिए छन्द शब्द है।

पूग (५।३।११२) भी एक प्रकार का सघ था, जिसमे नाना जाति के ऐसे लोग सम्मिलित होते थे, जिनकी जीविका अनिश्चित थी, किन्तु एकसाथ अर्थ या काम साधने की इच्छा से वे लोग उस सघ मे आ जाते थे। इस तरह के पूग का नेता ग्रामणी कहलाता था। गण और सघ की तरह पूग भी सहकारी सगठन था (५।२।५२)। पाणिनि ने नवयुवको के पूगसज्ञक गणो का भी उल्लेख किया है (६।२।२८), जो कुमार-पूग कहलाते थे, जैसे लोहध्वज नाम के पूग के अन्तर्गत जवानो का सगठन कुमार-लोहध्वज कहलाता था।

राजा—राजा की एक परिषद् होती थी, जिसके सदस्य पारिषद्य कहलाते थे (४।४।४४)। परिषद् का तात्पर्य मन्त्रि-परिषद् से था, जिसके द्वारा अधिकार-सम्पन्न राजा परिषद्वल कहलाता था (५।२।११२)। सरकारी कर्मचारियो के लिए सामान्य सज्ञा युक्त थी (६।२।६६)। विभाग का अधिपति अध्यक्ष कहलाता था (६।२।६७)। नियम और अनुशासन का अधिकारी वैनयिक कहलाता था, आचार और धर्म (कानून) का व्यावहारिक, राजकीय अर्थसाधन का औपयिक (५।४।३४)।

धर्म-सूत्रो मे सभ्यता की अवस्था[1]—काल—अब हम इतिहास-साधन के लिए सूत्र-साहित्य पर विचार करेंगे। सूत्र तीन प्रकार के थे—श्रौत, गृह्य, और धर्म, जो सब कल्प के अग थे, पर पीछे से अलग ग्रन्थो के रूप मे विकसित हुए। धर्मसूत्रो मे से ही व्यवहार और दण्ड (दीवानी और फौजदारी) के नियमाश को लेकर पीछे श्लोकात्मक धर्मशास्त्रो की रचना हुई, जिनमे वैदिक पृष्ठभूमि कम हो गई और न्यायपरक भाग बढ गया। श्रौतसूत्र, जिनमे हविर्याग और सोमयागो का वर्णन है, इतिहास की दृष्टि से हमारे लिए वैसे महत्त्वपूर्ण नही, जैसे गृह्य और धर्मसूत्र। मुख्य सूत्र-ग्रन्थ तिथिक्रम के अनुसार ही है—गौतम, बोधायन, वसिष्ठ और आपस्तम्ब, यद्यपि आपस्तम्ब की अपेक्षा वसिष्ठ की प्राचीनता कुछ सन्दिग्ध है। इन सूत्रो का काल सातवी से दूसरी शती ई० पू० तक है। इनमे विभिन्न वैदिक चरणो और विभिन्न प्रदेशो से सम्बन्धित आचारो का उल्लेख हुआ, जैसे आन्ध्रप्रदेश मे आपस्तम्ब के सूत्र से लेकर उत्तर-पश्चिम मे वसिष्ठ के सूत्र की मान्यता थी।

---

१. प्रमाण-ग्रन्थ—पी० वी० कणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र लिटरेचर, भाग १, कैम्ब्रिज हिस्ट्री, भाग १, अध्याय १२।

भौगोलिक पृष्ठभूमि—उनमे आये हुए भौगोलिक उल्लेखो से ज्ञात होता है कि सूत्र-ग्रन्थ परिमित क्षेत्र और चुने हुए प्रदेशो मे ही प्रचलित थे। बौधायन (१।१।२।१३-१५) के अनुसार कलिंग, आरट्ट देश (पजाब), सौवीर (वर्तमान सिन्घ), पुण्ड्र (उत्तरी बगाल) और बग (पश्चिमी बगाल) मे जाकर प्रायश्चित्त करना चाहिए। उसमे अवन्ति, मगध, अग (भागलपुर, मुगेर) और सुराष्ट्र (काठियावाड) के लोगो को मिश्रित वर्ण का अतएव सन्दिग्ध आचार-विचार का कहकर उनकी कुत्सा की है। आर्यों का भौगोलिक क्षेत्र सकुचित होकर पटियाला[1] और बिहार[2] के बीच मे, और हिमालय और मालवा[3] की पहाडियो के बीच मे सीमित रह गया था। एक ऐसे भी मत का उल्लेख किया गया है, जिसमे केवल गगा-यमुना के बीच की सीमित भूमि आर्यावर्त मानी गई है, किन्तु वसिष्ठ ने एक और ही मत का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार हिमाचल और विन्ध्याचल, एव पूर्वी और पश्चिमी समुद्रो के बीच का देश आर्यावर्त था।

पारिवारिक जीवन : उसके सस्कार और यज्ञीय कर्म—गृह्य-सूत्रो मे व्यक्ति के परिवार, कौटुम्बिक जीवन और गृह्य कर्मकाण्ड का वर्णन आता है। उनमे धर्म या सामाजिक विषयो एव व्यक्ति और राज्य के बीच के व्यापक सम्बन्धो को गौण स्थान दिया गया, जो सब धर्मसूत्रो का मुख्य विषय था। केवल परिवार की सीमा के भीतर जहाँ वे आ जाते है, उन अवस्थाओ को छोडकर, राजनीतिक और सामाजिक जीवन की सूचनाएँ उनमे कम ही मिलती है। गृहस्थ-जीवन मे जन्म से मृत्युपर्यन्त मनुष्य के समस्त कर्त्तव्य-कर्मो का निर्देश उनमे मिलता है और जीवन की प्रत्येक महत्त्वपूर्ण अवस्था को चित करने वाले सस्कारो का भी वर्णन आता है। जन्म से पूर्व, जन्म के समय, नवजात शिशु के नामकरण, अन्नप्राशन चूडाकर्म, उपनयन और समावर्तन, जबकि स्नातक आचार्य कुल से लौटकर विवाह द्वारा गृहाश्रम मे प्रविष्ट होना चाहता था, इन सब अवस्थाओ से सम्बन्धित विशेष-विशेष सस्कार थे। आठ प्रकार के विवाह कहे गए है—(१) ब्राह्म, (२) प्राजापत्य, (३) आर्ष, (४) दैव, (५) गान्धर्व या कामज विवाह, (६) आसुर, जो यौतुक पर निर्भर हो, (७) राक्षस, बलपूर्वक विवाह

---

१ सरस्वती के अदृश्य होने से पूर्व का भाग (वसिष्ठ १।८, बौधायन १।१।२।९)।

२ कालकवन, जो बिहार मे कहा जाता है।

३ पारिपात्र पर्वत, विन्ध्याचल का पश्चिमी भाग, जो उत्तर-दक्खिन अरावली की ओर बढ़ा हुआ है।

और (८) पैशाच। इसमे से पहले चार प्रशस्त और बाद के चार विवाह निन्दित कहे गए हैं।[1] प्रत्येक गृहस्थ के लिए नित्य पच-महायज्ञो का करना आवश्यक कहा गया है, जो इस प्रकार थे—(१) ब्रह्मयज्ञ, स्वाध्याय और अध्यापन के रूप मे, (२) पितृयज्ञ, अन्नोदक द्वारा पितरो के तर्पण के रूप मे, (३) देवयज्ञ, अग्नि मे सिद्धान्न की हवि के रूप मे, (४) भूतयज्ञ, बलि या भोजन देकर, (५) नृयज्ञ या अतिथि-यज्ञ, अतिथियो की सेवा-शुश्रूषा और अन्नदान आदि के रूप मे। इसके बाद सात पाक-यज्ञो का भी गृहस्थ के लिए विधान था, जो नियत समय पर छोटी इष्टियो के रूप मे किए जाते थे, जैसे अष्टका (कार्तिक से माघ तक के चार महीनो मे कृष्णपक्ष की अष्टमी के दिन होने वाली इष्टि), श्रावणी (श्रावण मास की पूर्णिमा के दिन,) आग्रहायनी (आग्रहायन मास की चतुर्दशी या पूर्णिमा के दिन), चैत्री (चैत्र मास की पूर्णिमा के दिन), आश्वयुजी (आश्वन मास की पूर्णिमा के दिन), पार्वण (अमावस्या और पूर्णिमा को होने वाली दर्श पौर्णमास इष्टियाँ) और श्राद्ध (प्रतिमास अमावस्या को पितरो का मासिक श्राद्ध)

वर्ण और आश्रम—सामाजिक सगठन वर्णाश्रम धर्म के अनुसार बना हुआ था, जिसे अस्पष्ट, विस्तृत तथा जटिल स्वरूप वाले हिन्दू-धर्म की सर्वोत्तम परिभाषा कहा जा सकता है। यह पद्धति दो बातो पर आश्रित है—पहली बात वर्ण या जाति। वर्ण की शुद्धि विवाह पर एव भोजन और अस्पृश्य वस्तु के स्पर्श-वर्जन पर निर्भर है। उसके नियम भिन्न जाति के साथ विवाह का और अन्तर्जातीय भोजन का निषेध करते हैं। पूर्वकालीन सूत्रो मे ये नियम इतने कडे न थे। गौतम के अनुसार ब्राह्मण या द्विज तीन उच्च वर्णों का दिया हुआ भोजन खा सकता है

१. ब्राह्म विवाह मे कन्या का दान पिता स्वेच्छा से वर को देता है। प्राजापत्य मे वर कन्या की याचना करता है। आर्ष मे कन्या का पिता गोयुग्म लेकर कन्या-दान करता था। दैव मे यज्ञ कराने के लिए आने वाला ऋत्विज ही वर-रूप मे चुन लिया जाता था। गान्धर्व या कामज विवाह वैध सस्कार हो जाने के बाद सर्वोत्तम विवाह कहा जा सकता है, जिसका उत्कृष्ट उदाहरण शकुन्तला और दुष्यन्त का विवाह है। आसुर विवाह मे कन्या वर द्वारा मोल ली जाती थी; यह वैश्यो और शूद्रो के लिए ही विहित माना गया है (मनु ३।२४)। आश्वलायन के अनुसार पैशाच विवाह मे चोरी से कन्या का अपहरण कर लिया जाता था। राक्षस विवाह मे बलपूर्वक लड-भिडकर अपहरण किया जाता था। दोनो मे कन्या का अपहरण करके ही विवाह किया जाता था, अतएव उसे क्षात्र विवाह कहते थे; जैसा कि महाभारत मे अर्जुन और सुभद्रा का विवाह हुआ। इससे मिलते-जुलते स्वयवर विवाह मे कन्या अपनी इच्छा के अनुसार पति का वरण करती थी।

और आपत्ति के समय शूद्र का दिया हुआ भी (१७।१ आदि), किन्तु दण्डिक (पुलिस अधिकारी), कजूस, कारागृह के अधिकारी या शत्रु का अन्न कुत्सित कहा गया है। आपस्तम्ब (१।६।१८।१ आदि) के अनुसार ब्राह्मण अपने से नीचे के तीन वर्णों के घर मे भोजन न करे। विवाह के लिए जाति का इतना महत्त्व नही, जितना कुल का। विवाह-सम्बन्धी नियम अनुमति देते है कि शूद्र-कन्या केवल चौथी पत्नी के रूप मे ब्राह्मण के साथ विवाह कर सकती है। उनकी सन्तान मिश्रित सन्तान, द्विज का पद न पाने पर भी धर्मसम्मत (वैध) मानी जाती थी।

आश्रम-सम्बन्धी नियम भी हिन्दू-समाज-व्यवस्था के जीवन के लिए उतने ही आवश्यक थे जितने कि जात-पाँत के नियम, जिनमे खानपान और विवाह का अधिक बन्धेज था, और जिन पर अब अत्यधिक ज़ोर दिया जाता है। इन नियमो के अनुसार व्यक्ति को क्रमश चार आश्रमो का जीवन मे पालन करना चाहिए, अर्थात् ब्रह्मचारी या दीक्षित विद्यार्थी का जीवन, गृहस्थ या वैवाहिक अवस्था, वानप्रस्थ और सन्यासी। ब्रह्मचर्य आश्रम की आवश्यकता इतनी अधिक मानी गई थी कि जो द्विज होकर इसका पालन नही करते थे, वे पतित समझे जाते थे। "ऐसे व्यक्ति के साथ न किसी को व्यवहार करना चाहिए, न शिक्षा देनी चाहिए, न यज्ञ कराना चाहिए और न किसी प्रकार उसका अनुकरण करना चाहिए (पारस्कर गृ० सू० २।५।४० आदि)।" उनकी सन्तान व्रात्य मानी जाती थी। इससे विदित होता है कि हिन्दू-धर्म मे तीन द्विज वर्णों के लिए अनिवार्य शिक्षा का आग्रह है, और यह शिक्षा, केवल आरम्भिक ही नही होती थी, साधारणत आरम्भिक कक्षा तक ही होकर नही रह जाती थी, यह तो अनिवार्य उच्च शिक्षा की व्यवस्था थी।

भिन्न-भिन्न वर्ण और उनका कर्तव्य—विभिन्न वर्णों और आश्रमो के कर्तव्य इस प्रकार कहे गए हैं—

प्रथम तीन वर्णो के समान कर्म ये है—

(१) अध्ययन (शिक्षा), (२) इज्या (यज्ञ), (३) दान।

ब्राह्मण के लिए विशेष कर्म ये हैं—(१) प्रवचन (अध्यापन), (२) याजन (यज्ञ करना), और (३) प्रतिग्रह (दान स्वीकार करना)।

क्षत्रिय के विशेष कर्म ये हैं—(१) सब प्राणियो की रक्षा (सर्वभूतरक्षणम्), (२) न्याय के अनुसार दण्ड-व्यवस्था (न्यायदण्डत्वम्), (३) श्रोत्रिय या विद्वान् ब्राह्मणो का पालन और, (४) आपद्ग्रस्त ब्राह्मणेतरो का भी पालन, (५) ब्राह्मणेतर भिक्षुको का पालन और पोषण (अकर) और जो लोग सार्वजनिक सेवा करते है, (उपकुर्वाण) जैसे चिकित्सक, उनकी भी वृत्ति का प्रबन्ध करना (कुछ लोग इसमे छात्रो को भी रखते हैं), (६) युद्ध के लिए तैयार रहना

(योगश्च विजये), (७) सेना के साथ राष्ट्र मे सर्वत्र विचरण करना (रथधनुर्भ्यां चर्या = राष्ट्रस्य सर्वतोऽटनम्), (८) युद्ध मे पश्चात्पद हुए विना मृत्युपर्यन्त डटे रहना (सग्रामे सस्थानमनिवृत्तिश्च), (९) राज्य की रक्षा के लिए आवश्यक कर-सग्रह करना (तद्रक्षणधर्मित्वात्)।

वैश्य के विशेष कर्म ये हैं—(१) कृषि, (२) वाणिज्य, (३) पाशुपाल्य, (४) कुसीद (महाजनी काम)।

शूद्र (जिसे एक जाति कहा गया है, क्योकि उपनयन द्वारा होने वाले दूसरे जन्म से वह रहित रहता है) के विशेष कर्म ये हैं—(१) सत्य, नम्रता और शौच का पालन, (२) आचमन मन्त्र के विना स्नान, (३) श्राद्धकर्म, (४) अपने आश्रित कुटुम्बियो का भरण-पोषण (भृत्यचरणम्[1], दासो को इसकी आज्ञा न थी), (५) स्वदारवृत्ति (अपनी ही जाति मे विवाह करना, अथवा जीवनपर्यन्त गृहस्थ अवस्था मे रहना), (६) परिचर्या (वृत्ति लेकर उच्च वर्णों की सेवा करना), (७) शिल्पवृत्ति, या शिल्प द्वारा स्वतन्त्र जीविकोपार्जन, जैसे नाई, धोबी रगरेज, वढई या लुहार का काम।

कुछ नियम ऐसे हैं जिनसे ज्ञात होता है कि शूद्र का पद बहुत पतित नही था। उदाहरण के लिए, जब वह काम मे अशक्त हो जाता था, तो मालिक को उसका भरण करना आवश्यक था, एव उसके लिए भी ऐसी ही स्थिति होने पर अपने स्वामी का भरण-पोषण करना उचित था। इस पिछली अवस्था मे शूद्र को धन का स्वामित्व भी दिया गया है। धर्मपरायण शूद्र वर्ण के लोग नमस्कार मन्त्र का उच्चारण एव पाकयज्ञ भी कर सकते थे।

चार आश्रम—चार आश्रम ये है—(१) ब्रह्मचारी, (२) गृहस्थ, (३) भिक्षु और (४) वैखानस।

ब्रह्मचारी की विशेषता उसका अपने आचार्य के यहाँ रहना था (आचार्य कुलवसनम्)। वे दो प्रकार के थे—(१) उपकुर्वाण (गुरु-दक्षिणा देकर घर लौटने वाले), और (२) नैष्ठिक (आयुपर्यन्त ब्रह्मचर्य-व्रत लेकर विद्याध्ययन करने वाले)।

---

१ भृत्यचरण का वास्तविक अर्थ है भृति या मजदूरी लेकर काम करना। यहाँ शूद्र के लिए तीन प्रकार की जीविका कही गई है—(१) भृति, जैसे खेती या मकान बनवाने के लिए रोजाना मजदूरी या भृति पर कमेरो का काम करना, (२) जीविका परिचर्या, जिसमे नाई, बारी, मेहतर, धोबी आदि जातियाँ सम्मिलित हैं जो पीढी-दर-पीढी के बन्धेज से सेवा करते हैं, और उसका पारिश्रमिक पाते हैं। इसमे चिर-प्राचीन शब्द वृत्ति था, जिससे हिन्दी बिरत निकला है। भृति और वृत्ति के अतिरिक्त तीसरा उपाय शिल्प के द्वारा जीविकोपार्जन था।—अनुवादक।

गृहस्थ के अनेक कर्मों मे मोटे तौर पर यज्ञ, अध्ययन और दान, ये तीन कर्म थे। अपने-आपको तीन ऋणो से मुक्त करना भी उसके लिए आवश्यक था—यज्ञ द्वारा देव-ऋण से, सन्तानोत्पत्ति द्वारा पितृ-ऋण से, और पर्व के दिनो मे ब्रह्मचर्य-व्रत द्वारा ऋषि-ऋण से।

जीवन के अन्तिम दोनो आश्रमो का विशेप लक्षण तप था।

भिक्षु के लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक थी—(१) अनिचय[1] (वस्तुओ का सग्रह न रखना), (२) ऊर्ध्वरेता (ब्रह्मचारी), (३) वर्ष मे एक स्थान पर रहना (ध्रुवशीलो वर्षासु), (४) केवल भिक्षा के लिए गाँव मे प्रवेश करना, और वह भी गाँववालो के भोजन समाप्त कर लेने पर, अथवा उस समय जब उनके द्वारा प्रत्याख्यान की सम्भावना न हो, और अपनी वाणी, चक्षु और इन्द्रियो को रोककर बिना आशीर्वाद दिए लौट आना, (५) शरीर को ढकने के लिए (आच्छादनार्थ) कौपीन धारण करना या पुराने चीथडो (प्रहीण) को खूब धोकर (निर्णिज्य) पहनना, (६) वृक्षो से तोडकर फल या पत्ती न खाना और वनस्पतियो की भी हिंसा न करना, (७) वर्षा-ऋतु के बाद किसी गांव मे दो रात न ठहरना, और (८) अपने प्राण-धारण के लिए बीज हिंसा न करना (जैसे मूसली से कच्चे चावल इत्यादि न दलना), बल्कि केवल पक्व भोजन की भिक्षा ग्रहण करना, और सब भूतो के प्रति सद्भाव रखना एव हानि-लाभ मे उदासीन वृत्ति रखना।

वैखानस भिक्षु वे कहलाते थे जो ऋषि विखनस के बनाये हुए नियमो का पालन करते थे (बौधायन २।६।१४)। उसे मूल-फल खाकर (पकाया अन्न नही), तप करते हुए (तप शील) वन मे रहना चाहिए, और प्रात -साय अग्नि की परिचर्या और हवन करना चाहिए, जैसा कि श्रामणक सज्ञक वैखानस शास्त्र मे कहा गया है। मूल-फल भी जो वह खाए वे जगली होने चाहिएँ, ग्राम्य के नही, (अग्राम्य भोजी)। आपद्धर्म के रूप मे वह दूसरो (जैसे व्याघ्रादि) द्वारा मारे हुए पशुओ का मास खा सकता था। उसके लिए महायज्ञो (देव, पितृ, मनुष्य, भूत और ऋषियो की पूजा) का अनुष्ठान अब भी आवश्यक था, जिनमे जगली मूल-फल-पत्ती आदि से अग्निहोत्र किया जाता था। यदि वह वन मे सपत्नीक रहता तो औदुम्बर (तापसभेद), वरिंच, या वालखिल्य की भाँति तप करता था, अथवा जब अपत्नीक होता तो उद्दण्डक, उछवृत्तिका, या पचाग्नि-मध्यशायी (पचाग्नि

---

१ क्योकि भिक्षु के लिए धन-सग्रह निषिद्ध है, विष्णु (९६।१) ने एक प्राजापत्य इष्टि का विधान किया है, जिसमे वह अपनी समस्त सम्पत्ति दक्षिणा-रूप मे दान दे देता है।

तापन) रूप से तप करता था। उसे उचित है कि कृष्ट भूमि पर न रहे, गाँव मे न जाए, वर्ष-भर के लिए अन्न का सचय न करे, जटा रखे, और केवल वल्कल और अजिन (चीराजिन) धारण करे (गौतम ३ और १०, जाति और आश्रम-विषयक अध्याय)।

यह ध्यान देने योग्य है कि गौतम ने भिक्षु शब्द का तृतीय आश्रम के लिए प्रयोग किया है, किन्तु बौधायन और आपस्तम्ब ने इसके स्थान पर परिव्राजक शब्द का और वह भी चौथे आश्रम के अर्थ मे प्रयोग किया है।

भिक्षु और श्रामणक शब्दो का प्रयोग और यह आदेश कि भिक्षु वर्षा-ऋतु मे बाहर विचरण न करे, बौद्ध-धर्म के साथ सम्बन्धित कहे जाते हैं। बौधायन (२।६।११) ने श्रामणक और भिक्षु के वर्षावास (पालि, वस्सो) का उल्लेख किया है। उसमे भिक्षु या वैखानस के जल छानने के वस्त्र का भी उल्लेख है, जो बौद्ध भिक्षु की विशेषता थी।

बौधायन के अनुसार सन्यासी या परिव्राजक (जिन्हे भिक्षु, यति और प्रव्रजित भी कहा गया है) नैष्ठिक, विधुर, अनपत्य गृहस्थ और सप्तति वर्ष से अधिक आयु वाले ऐसे गृहस्थो मे से, जिनके पुत्र गृहस्थाश्रम मे सुप्रतिष्ठित हो गए हो, सन्यास लेकर चतुर्थ आश्रम मे प्रवेश करते थे। अनपत्य गृहस्थो को शालीन (शाला या गृह के स्वामी), यायावर (जो पहले से ही इच्छानुसार विहार करने वाले होते थे), और चक्रचर (जो जीविका के लिए बारी-बारी से धनाढ्यो का आश्रय लेते है) कहा गया है (देखिए, २।१०।१७)।

आपस्तम्ब ने ऐसे व्यक्तियो का उल्लेख किया है, जो अवैध ढग से भिक्षु बन जाते हैं, टीकाकार के अनुसार इसका तात्पर्य शाक्य भिक्षु या बौद्धो से है, (१।१८।३१)।

उसने सन्यासी या परिव्राजक की सुन्दर परिभाषा इस प्रकार दी है—"सत्य और अनृत्य, सुख और दुख, वेद, इस लोक और परलोक को त्यागकर जो केवल आत्मा की जिज्ञासा करता है।" (२।९।२१।१३)।

पर उसने ऐसे भिक्षुओ का भी उल्लेख किया है जो स्त्री के साथ या बिना स्त्री के भी होते थे, यद्यपि दोनो ही गाँव के बाहर रहते थे (२।९।२२।७)।

काल, प्रामाण्य और विषय की दृष्टि से चार धर्मसूत्रो की तुलना—जैसा ऊपर सूचित किया गया है, गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब और वसिष्ठ इन चारो के धर्मसूत्रो का काल ६०० से ३०० ई० पू० के बीच मे था। जैसा तन्त्र-वार्तिक मे कुमारिल ने कहा है, सामवेदी गौतम धर्मसूत्र को मानते थे, तैत्तिरीय शाखा वाले बौधायन और आपस्तम्ब का, और ऋग्वेदी वसिष्ठ को। इनमे गौतम सबसे प्राचीन थे। बौधायन ने स्वय स्थानीय आचारो के विषय मे गौतम का प्रमाण

दिया है (गौतम ध० सू० ११।२०)। दोनो की सम्मति है कि वैदिक परम्परा और स्मृति के विरोध मे स्थानीय सदाचार प्रमाण नही माना जा सकता। मनुस्मृति ने गौतम को उतथ्य का पुत्र कहा है (३।१६)। गौतम ने यवन का भी उल्लेख किया है (४।१७), किन्तु भारतवर्ष यवनो (आयोनियन) से छठी शती ई० पू० और उससे भी पहले के ईरानी सम्राट् दारा और क्षयार्ष (ज़र्कसीज़) के समय से परिचित था।

इन सूत्रकारो को जिस साहित्य का परिचय था उसके विषय मे गौतम ने वैदिक संहिता और ब्राह्मण, उपनिषद् (१९।१३), वेदाग (८।५।११।१९), इतिहास (८।६), पुराण (वही), उपवेद और धर्मसूत्र (११।१९) का उल्लेख किया है। सामविधान ब्राह्मण (अ० २६) और तैत्तिरीय आरण्यक (अ० २५) मे से कुछ अवतरण भी उसमे लिये गए हैं। गौतम और बौधायन दोनो के द्वारा वैखानस शास्त्र और श्रामणक शास्त्र का उल्लेख पाणिनि के भिक्षु-सूत्रो (४।३।११०-११) का स्मरण दिलाता है। बौधायन ने तैत्तिरीय शाखा की संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक से एव शतपथ ब्राह्मण से भी अवतरण लिये हैं, तथा उसने धर्म विषय पर लिखने वाले कुछ आचार्यों का प्रमाण दिया है, जैसे औपजघनि (२।२।३३), कात्य (१।२।४७), काश्यप (१।११।२०), गौतम (१।१।२३), प्रजापति (२।४।१५), मनु (४।१।१४), मौदगल्य (२।२।६१), और हारीत (२।१।५०)। आर्यावर्त की भौगोलिक सीमाओ के विषय मे उसमे भाल्लविनो की एक गाथा भी उद्धृत की गई है (१।१।२९), जिसका स्रोत 'निरुक्त' मे वर्णित कोई निदान ग्रन्थ है, एव आसुर कपिल के किसी ग्रन्थ से एक पद्य अवतरण दिया गया है, जिसके अनुसार आश्रम प्रणाली का आविष्कर्ता कुछ विचित्र ढग से आसुर कपिल को बताया गया है (२।६।६०)। उसमे नाट्याचार्य या नट-कर्म का भी उल्लेख किया गया है, किन्तु उपपातक के रूप मे। पाणिनि ने भी नटसूत्रो का उल्लेख किया है (४।३।११०-१११)। आपस्तम्ब ने प्राय ब्राह्मण ग्रन्थो का प्रमाण दिया है, और छन्द, कल्प, व्याकरण, ज्योतिष, निरुक्त, शिक्षा इन वेदागो का और 'छन्दोविचिति' नामक छन्द-ग्रन्थ का उल्लेख किया है। उसने धर्म पर लिखने वाले कुछ आचार्यों का नाम लिया है, जैसे कण्व, काण्व, कुणिक, कत्स, कौत्स, पुष्करसादि, वार्ष्यायणि, श्वेतकेतु और हारीत (१।६।१९)। उसमे अकेले ही जैमिनिकृत 'पूर्वमीमासा' का परिचय भी पाया जाता है, उदाहरण के लिए १।१।४।८, जहाँ श्रुति और स्मृति के सापेक्षिक मूल्य पर विचार किया गया है (जो कि जैमिनी १।३।३ के तुल्य है), और १।४।१२।११ जिसमे कहा है कि जो कर्म आनन्द-प्राप्ति के लिए किया जाता है उसे शास्त्र पर आश्रित नही समझना चाहिए (=जैमिनी ४।१।२), २।४।८।१३, जिसमे न्यायविदो अर्थात् मीमासको

के इस समाय का उल्लेख है कि अगो को वेद नही कहा जा सकता (=जैमिनी १।३।११-१४), १।४।१२।६ जिसमे यह कहा गया है कि यज्ञ मे मन्त्र पाठ के विषय मे वैदिक अनध्याय के नियम लागू नही होते (=जैमिनि १२।३।१४)। वसिष्ठ मे कुछ नई सामग्री भी है, जैसे दत्तक-सम्बन्धी नियम (अ०१५), अथवा लेखो का व्यवहार-सिद्धि मे प्रामाण्य (अ० १६।१०-१५), या म्लेच्छो की भाषा सीखने का निषेध (६।४१)।

धर्म के इन आचार्यों मे एकमत्य और मतभेद की भी कितनी ही बातें हैं। इसमे से कुछ इस प्रकार है—

गौतम, बौधायन और वसिष्ठ ने कई प्रकार के गौण पुत्रो का उल्लेख किया है, पर आपस्तम्ब उसके बारे मे चुप है। गौतम, बौधायन (२।२।१७।६२) और वसिष्ठ नियोग को प्रशस्त मानते हैं, पर आपस्तम्व उसे हेय ठहराते है (२।६। १३।१-६)। गौतम और बौधायन (१।११।१) मे आठ प्रकार के विवाहो का वर्णन है, पर आपस्तम्ब ने प्राजापत्य और पैशाच छोडकर छह ही प्रकार कहे हैं (२।५।११।१७-२०)। बौधायन (२।२।४-६) ने ज्येष्ठ पुत्र को दाय मे अधिक भाग दिलाया है, पर आपस्तम्व इसका विरोध करते है (२।६।१४।१०-१४)। बौधायन ने रथकार को उपनयन की आज्ञा दी है (२।४।६), पर आपस्तम्ब ने नही (१।१।१।१६)। आपस्तम्ब मिश्र वर्णों के बारे मे भी चुप हैं, जिनकी लम्बी सूचियाँ गौतम और बौधायन मे पाई जाती है। कुसीद या तगडा सूद वसूल करने के बारे मे भी दोनो मे चोखा मतभेद है। गौतम ने ब्राह्मण के लिए इस पेशे की आज्ञा दी है, यदि कारिन्दे की मार्फत (१०।६), कृषि और वाणिज्य की भाँति, इसे भी किया जाए।" ये नियम, जिनमे ब्राह्मणो को भद्र कृषक, और वैश्य-सचालित व्यापार या लेन देन के कामो मे अकर्मकृत् साझीदार होने की अनुमति है, अन्य स्मृतियो मे नही पाए जाते।" (बुहलर, सेक्रिड बुक्स ऑफ दी ईस्ट, भाग २, पृष्ठ २८८, टिप्पणी। आपस्तम्ब मे वार्धुपिक वृत्ति (बढती ब्याज लेना) के विरुद्ध प्रायश्चित्त की विधि है, और वृद्धयाजीवी के घर भोजन का निषेध है (१।६।२७।१०, ६।१८।२२)। बौधायन ने इसकी तुलना ब्रह्महत्या से की है, और ब्राह्मण कुसीदी को शूद्र कहा है, पर उसमे पहले दो वर्णों के लिए अनुमति है कि नास्तिक, शूद्र और वैसे ही लोगो से सूद का व्यवहार करे (१।५।७६-८१)।

बौधायन को दाक्षिणात्य माना जाता है। उसने समुद्र-यात्रा-सम्बन्धी उत्तर के देशाचार को पातक कहा है, जो मनुष्य-हत्या से कुछ ही कम है (२।१।४१)। साथ-ही-साथ उसमे दक्षिणापथ को भी मिश्र जातियो के प्रदेश के रूप मे निन्दा के योग्य कहा है। यदि वे दाक्षिणात्य थे, तो हमे दक्षिणापथ के अर्थ को सीमित करके उन्हे कही रखना पडेगा। आपस्तम्ब को भी इस कारण दाक्षिणात्य माना

जाता है कि उसने श्राद्ध को उदीच्यों की विशेषता कहा है (२।७।१७।१७)। हरदत्त द्वारा उद्धृत एक श्लोक के अनुसार शरावती के उत्तर का प्रदेश उदीच्य था। चरण-व्यूह की टीका में महार्णव का उद्धरण देते हुए आपस्तम्बियों को नर्मदा के दक्षिण-पूर्व की ओर अर्थात् आन्ध्रदेश और गोदावरी के मुख के आस-पास के प्रदेश में रखा गया है।

आपस्तम्ब और बौधायन में विद्या-प्रचार और शिक्षा के विषय में भी दो रोचक कथन हैं। आपस्तम्ब के अनुसार वह ज्ञान जो लोक-परम्परा से स्त्री और शूद्रों में है विद्या की अन्तिम सीमा है, और वह अथर्ववेद का पूरक माना है।[1] सम्भवत यह अर्थशास्त्र की ओर इशारा है, जो चरण-व्यूह के अनुसार, अथर्ववेद का उपवेद था। दूसरा कथन बौधायन गृह्य-सूत्र (१।७।२-८) का है जिसमें विद्वानों या ब्राह्मणों की कोटियाँ इस प्रकार बताई गई हैं—

(१) ब्राह्मण, जो उपनयन के और ब्रह्मचर्य-व्रत लेने के बाद वेद का थोड़ा-बहुत अध्ययन करता है,

(२) श्रोत्रिय, जिसने एक वैदिक शाखा का अध्ययन किया है,

(३) अनूचान, जिसने अंगों का अध्ययन किया है,

(४) ऋषिकल्प, जिसने कल्प-ग्रन्थों का अध्ययन किया है,

(५) भ्रूण, जिसने सूत्र और प्रवचन-ग्रन्थों का अध्ययन किया है,

(६) ऋषि, जिसने चारों वेदों का अध्ययन किया है,

(७) देव, जिसने इनसे अधिक प्रगति की है।

यह भी उल्लेखनीय है कि सूत्र-ग्रन्थों में ब्राह्मणेतर अध्यापकों की भी कल्पना है (गौतम ७।१-३, बौधायन १।३।४१-४२, आपस्तम्ब २।४।२५-२७)।

धर्मसूत्रों में सामाजिक आचार और नियम एवं व्यवहार और दण्ड-सम्बन्धी नियमों का उल्लेख पाया जाता है। आचार और नियम सारे भारतवर्ष में एक-से न थे। भारत के उत्तरी और दक्षिणी भागों में, जिनकी विभाजक-रेखा बीच की नर्मदा नदी है, इस विषय में पर्याप्त भेद था। उदाहरण के लिए दक्षिण का विशेष आचार, जिसका बौधायन ने उल्लेख किया है (१।१७ आदि) और जो आज तक प्रचलित है मातुलकन्या या फुफेरी बहन से ब्याह करना है,

---

१ वस्तुत आपस्तम्ब का अभिप्राय यह है कि वही लोक-साहित्य और लोक-वार्ता-सम्बन्धी वेदज्ञान, जो अथर्ववेद में सकलित हुआ है, परम्परा से आता हुआ स्त्रियों और छोटी जातियों में फैला हुआ है। विद्या की ऊपरी सीमा वेद में है और नीचे की सीमा इस लोक-साहित्य में है। आपस्तम्ब का यह दृष्टिकोण नितान्त यथार्थमूलक है— अनुवादक

और उत्तर के विशेष आचार, जिन्हे दक्षिण मे निन्दित समझा गया, शस्त्रास्त्र वाणिज्य, ऊन का व्यापार और समुद्र-यात्रा थे। बौधायन के अनुसार (२।१।२।२) समुद्र-यात्रा करने मे मनुष्य जाति से पतित हो जाता है।

कानून—कानून के विषय मे यह ज्ञातव्य है कि उसका निर्माता राजा नही था, जो केवल दण्डकर्ता के रूप मे धर्म-सम्बन्धी नियमो का पालन और व्यवस्था कराता था। गौतम के अनुसार (११।१९) "नियमो का व्यवहार या न्यायकर्म वेद, धर्मशास्त्र, वेदाग, पुराण और उपवेदो के अनुसार नियमित होगा।" भिन्न-भिन्न श्रेणियो और जातियो के लोग स्वय अपने लिए नियम बनाते थे। "राजा का कर्तव्य है कि वह जनपद, जाति और कुल के धर्मों या विशेष नियमो पर ध्यान दे और चार वर्णो को अपने-अपने विहित कर्मों को करने के लिए बाधित करे" (वसिष्ठ १९।१-२४)। और भी, "राजा के लिए वर्णों और आश्रमो की रक्षा करना आवश्यक है ··जाति और कुल तथा जनपदो के सब नियम, जो वेद-विरुद्ध नही है, देश मे प्रमाण-स्वरूप माने जाएँगे, और कृषय, वणिक्, गोपाल, वृद्धयाजीवी और शिल्पी स्वय अपने अपने लिए नियम बना सकते है" (गौतम ११।२१) इस अवतरण से उस स्वशासन का परिचय मिलता है, जिसका उपभोग कृषि, उद्योग-धन्धे, वाणिज्य और व्यवहार के क्षेत्र मे सगठित श्रेणियाँ (guilds) या आर्थिक इकाइयाँ करती थी। वसिष्ठ ने एक रोचक प्रकरण मे बताया है कि लेखो की प्रमाण-सामग्री का परस्पर विरोध होने पर स्थानीय श्रेणियो की बात का विश्वास मानना चाहिए (१६।१५)।

व्यवहार-सम्बन्धी कानून—सूत्रो मे व्यवहार-सम्बन्धी कानून का विवेचन राजा के कर्तव्यो के अन्तर्गत किया गया है। राजकर्म के सीमित क्षेत्र मे इस कानून के मुख्य विषय कर-ग्रहण और दायभाग ये दो ही थे। गौतम के अनुसार राजा उपज का दशमाश, अष्टमाश या षष्ठाश, शिल्पियो से एक मास मे एक दिन का कार्य, वाणिज्य पर बीसवाँ भाग, पशु और स्वर्ण पर पचासवाँ भाग, और मूल, फल, पुष्प, औषधि, शहद, मास, तृण और काष्ठ का साठवाँ भाग ले सकता था (१।१ आदि; १०।२५ आदि)।

अश या दाय का नियमन अभी तक किसी एक सर्वसामान्य राजनियम के रूप मे नही पाया जाता, विवाह के प्रकरण मे ही उसकी चर्चा आती है, जिसके लिए समान गोत्र या मातृकुल की छह पीढियो मे निषेध था। उत्तराधिकार के नियमो मे सपिण्डो का निरूपण है, जो कि पुत्र के अभाव मे अपनी छह पीढियो तक अशहारी या उत्तराधिकारी होते थे। सपिण्ड केवल पुरुष ही हो सकते है। विधवा को दाय मे अधिकार नही दिया गया, और कन्या को भी आपस्तम्ब के अनुसार उत्तराधिकार तभी मिलता है जब पुत्र, गुरु या शिष्य न हो। उल्लिखित व्यक्तियो

के अभाव मे राजा सम्पत्ति का स्वामी होता था। एक मत ऐसा भी है कि केवल ज्येष्ठ पुत्र ही अग्रहारी बनता है। बौधायन के कथनानुसार सगे-सम्बन्धियो के अभाव मे सपिण्ड और सपिण्डो के अभाव मे सकुल्य (दूर के सम्बन्धी) उत्तराधिकार पाते है, एव ज्येष्ठ पुत्र सम्पत्ति मे से कोई एक सर्वोत्तम वस्तु चुन सकता है, अथवा पिता चाहे तो पुत्रो मे उसे बराबर भी बाँट सकता है।

स्त्रियो की स्थिति का भी उल्लेख है। स्त्रियां स्वय अपनी ओर से वैदिक श्रौत यज्ञ या गृह्य पाक-यज्ञ नही कर सकती थी। यज्ञ या उत्तराधिकार के विषय मे वे स्वतन्त्र न थी (बौधायन २।२।३।४४, गौतम १८।१)। सती-प्रथा अज्ञात थी। वसिष्ठ के अनुसार स्त्रियां भी स्व (सम्पत्ति) के अन्तर्गत थी (१६।१८)।

फौजदारी कानून—दण्ड या फौजदारी कानून के क्षेत्र मे अभिघात, व्यभिचार और चोरी मुख्य अपराध थे। शूद्र यदि हत्या, चोरी या भूमि का अपहरण करे तो उसकी सम्पत्ति छीनकर उसे वध-दण्ड दिया जाए (आपस्तम्ब २।२७।१६), ब्राह्मण पुरोहित वैसा करे तो उसे अन्धा कर दिया जाए (वही, १७)। ब्राह्मण को गाली देने वाले क्षत्रिय पर १००, और वैश्य पर १५० कार्षापण दण्ड हो, किन्तु ब्राह्मण यदि क्षत्रिय को गाली दे तो ५०, और वैश्य को दे तो २५ कार्षापण दण्ड भरे, पर शूद्र के साथ वैसा व्यवहार करे तो वह साफ छूट जाए (गौतम १२।८ आदि)।

दण्ड के क्षेत्र से बाहर की बातो पर भी जाति-भेद का असर पडा, जैसे ब्याज की दर पर। गौतम (१२।२६) और बौधायन (१।५।१०।२२) मे ब्याज की दर २० कार्षापण पर प्रतिमास ५ माष कही गई है, जो १५ प्रतिशत वार्षिक हुई। वसिष्ठ (२।४८) के अनुसार 'दो, तीन, चार, पाँच प्रतिशत मासिक वृद्धि वर्णो के क्रम मे स्मृति मे आदिष्ट है,' उच्च जाति के लिए दर कम होगी। दूसरी ओर कुसीद वृत्ति (अधिक सूद) की वैश्य के लिए अनुमति है, ब्राह्मण या क्षत्रिय के लिए नही (वही २।४, बौधायन १।५।१०।२१)। जाति-सम्बन्धी ये नियम घोर आपत्तिकाल मे शिथिल कर दिए जाते थे, जबकि नीच वृत्ति-कर्म की भी उच्च वर्णो को जीविकोपार्जन के लिए अनुमति थी। उदाहरण के लिए, वाणिज्य और कृषि की आज्ञा ब्राह्मण और क्षत्रिय के लिए आपद्धर्म रूप मे थी (वसिष्ठ २।२४ आदि), पर यदि वे आवश्यकता के बाद भी ऐसा करते रहे तो जातिच्युत हो सकते थे। (वही ३।३)।

सूत्रो मे जिस जीवन का चित्रण है, वह ग्रामो का है, नगरो का नही, जिसके विषय मे कुछ हेठा भाव था। आपस्तम्ब (धर्मसूत्र १।३२।२१) मे लिखा है, "उसे चाहिए कि नगरो मे न जाए।" बौधायन (ध० सू० २।३।६।३३) इससे भी आगे है—"जो धूल-धक्कड से भरे हुए शहर मे रहता है उसके लिए मोक्ष

पाना असम्भव है।" इसी प्रकार उन बलिहोमो से भी देहात के किसान-जीवन का ही सकेत मिलता है खेती के सम्बन्ध मे जिनका विधान किया गया है, जैसे अशनि सीता और अरडा-अनघा आदि गोष्ठ देवताओ के लिए इष्टियाँ अथवा पर्जन्य, इन्द्र और भग-सम्बन्धी इष्टियाँ , एव सीताहोम और खलधान होम आदि (गोभिल गृह्य सूत्र, ४।४।२८ आदि , ३० आदि) । इसके अतिरिक्त गाँव के बाहर जाकर चतुष्पथ या पर्वत के पास बलि देने के आदेश भी बराबर मिलते हैं, जिनसे गृहस्थो के सम्बन्ध मे भी नगर की अपेक्षा ग्राम-जीवन का सकेत अधिक पाया जाता है (वही ३।५।३२-५) । इसी कारण सूत्रो मे जिस वास्तु का उल्लेख है वह केवल सभा या सार्वजनिक द्यूतशाला है जो राजा की ओर से बनवाई जाती थी, पर इसका भी पटाव छप्पर का होता था, जैसा कि उसमे बन सकने वाले छिद्र से सूचित होता है।

दूसरे धर्म-सूत्रो मे भी निर्दिष्ट अवस्था बहुत भिन्न नही है । गौतम ने दिन-रात के किसी भी समय शहर मे वेदपाठ का कडा निषेध किया है । उसमे राजा का डण्डे से चोर को मारने का उल्लेख है (१२।४३), जिसका समर्थन आपस्तम्ब का यह वचन (ध० सू० १।२५।४) करता है—"चोर अपने बाल खोलकर कन्धे पर डण्डा रखकर राजा के सामने उपस्थित हो, उस डण्डे से राजा उसका वध करे।" इसमे छोटे क्षेत्र मे राज्य के छोटे राजा और कर्मचारियो की सहायता के विना उसके स्वय शासन करने का सकेत प्राप्त होता है।

पर आपस्तम्ब का एक दूसरा स्थान (२।१०।२५) इससे उन्नत राजनीतिक जीवन की साक्षी देता है। उसमे कहा है कि राजा को चाहिए कि पुर का निर्माण करे, और अतिथिशाला से युक्त प्रासाद बनाए, एव सभा का निर्माण करे, जिसमे पासा खेलने के पट्ट का भी प्रबन्ध हो। राजकीय कर्मचारी ऐसे स्थानो का भी प्रबन्ध करते थे, जिनमे प्रहरण क्रीडा (शस्त्रो के खेल), नृत्य, गीत और वृन्द-सगीत आदि होते थे। राजा को चाहिए कि गाँवो और नगरो मे जनता की रक्षा करने के लिए कर्मचारियो सहित आर्यपुरुषो को नियत करे। नगरो के चारो ओर एक-एक योजन तक और गाँवो मे एक कोस तक चोरो से रक्षा करना उनका कर्तव्य था। अपने सीमा-क्षेत्र में चोरी हुई वस्तु उन्हे लौटानी या भरनी पडती थी, और राजा के लिए करों का सग्रह भी करना पडता था। इससे नागरिक और ग्राम-जीवन एव बडे राज्य-सगठन की सूचना मिलती है।

जीवन का व्यापक दृष्टिकोण इस बात से कुछ सीमित हो गया था कि समुद्र-यात्रा, विदेश-यात्रा या म्लेच्छो की भाषा सीखने का निषेध कर दिया गया था (वसिष्ठ ६।४१ , आपस्तम्ब १।३।२।१८) ।

रामायण-महाभारतकालीन सभ्यता—रामायण और महाभारत सज्ञक दो

इतिहास-ग्रन्थ अपने वर्तमान रूप मे सूत्र युग के है, यद्यपि उनकी सामग्री अत्यधिक प्राचीन है।

काल—रामायण की भौगोलिक पृष्ठभूमि उसे महाभारत से पहले का सिद्ध करती है। उसमे विन्ध्याचल के बहुत आगे तक का विस्तार नही है और दक्षिण की जगह दण्डकारण्य का उल्लेख है, पर महाभारत मे भारत के सभी प्रदेशो का और उसके अनेक जनपदो का, जिनमे आर्य-सस्कृति के फलते-फूलते केन्द्र थे, परिचय मिलता है।

साहित्य-रचना की दृष्टि से इन काव्यो के तीन अश हैं—आख्यान, वशावली और नीति, जिनमे से हरेक का मूल अति प्राचीन ग्रन्थो मे खोजा जा सकता है—ऋग्वेद मे, जिसमे उर्वशी, यम-यमी, और सूर्या, और कितव या अक्षधूर्त[1] के छन्दोवद्ध आख्यान हैं, (१०।६१, १०, ८५, ३४ आदि), ऐतरेय आदि ब्राह्मण-ग्रन्थो मे, जिनमे हरिश्चन्द्र का आख्यान इतिहास की विस्तृत शैली मे कहा गया है, कालान्तर की गाथाओ मे, जो वडे आदमियो की प्रशसा या स्तुति मे गाई जाती थी, और नाराशसी नामक वीराख्यान या पँवाडो मे, जवकि वशावली का उद्गम उपनिषदो की देवजन विद्या से ज्ञात होता है। अथर्ववेद ब्राह्मण और उपनिषदो मे जिस इतिहास-रूप पुराण का उल्लेख है उसका साहित्यिक उत्तराधिकार रामायण-महाभारत मे ही मिलता है। महाभारत के प्रवक्ता पाराशर्य व्यास के द्वारा उमका सम्बन्ध शुक्ल यजुर्वेद से स्थापित होता है, जिसमे पराशर का नाम मुख्य रूप से आता है। पुनश्च, जनमेजय का उल्लेख महाभारत और शतपथ-ब्राह्मण दोनो मे हुआ है, और महाभारत ने शतपथ को समस्त ब्राह्मण-ग्रन्थो मे सर्वश्रेष्ठ माना है।

और भी पहले के ग्रन्थो मे महाभारत के पात्रो का उल्लेख है, जिससे केवल इतना सूचित होता है कि महाभारत का वर्तमान रूप उनके वाद का है। उदाहरण के लिए, तैत्तिरीय आरण्यक मे व्यास और वैशम्पायन दोनो का नामोल्लेख है, किन्तु महाभारत के रचयिता या सस्कर्ता के रूप मे नही। पाणिनि ने महाभारत शब्द का उल्लेख किया है, पर ग्रन्थ के अर्थ मे नही, विशेषण के रूप मे, जिससे भरतो के किसी महत् की सूचना हो[2] (६।२।३८), किन्तु उन्होने वासुदेव, अर्जुन

---

१ वास्तविक अर्थ मे ऋग्वेद १०।३४ मे कितव की दुर्दशा का वर्णन आख्यान नहीं कहा जा सकता, हाँ, नीतिपरक अवश्य है।—अनुवादक।

२. वस्तुत पाणिनि ने भारत और महाभारत इन दोनो शब्दो का ग्रन्थ के लिए ही उल्लेख किया है। आश्वलायन गृह्य-सूत्र मे भी दोनो का साथ-साथ नाम है, और दोनो ही उस काल मे पृथक्-पृथक् विद्यमान थे।—अनुवादक।

और युधिष्ठिर का नामोल्लेख किया है, और पहले दो का देवता के रूप मे।

यह भी उल्लेखनीय है कि पाण्डव, जिनके कौरवो के साथ युद्ध का वर्णन महाभारत का मुख्य विषय है, ब्राह्मण सदृश अपेक्षाकृत नवीन ग्रन्थो तक मे अविदित हैं।

महाभारत के बडे आचार्य सुमन्त, जैमिनि, वैशम्पायन और पैल का उल्लेख शाखायन के गृह्य-सूत्र मे आया है।

(अपने वर्तमान रूप मे महाभारत पातञ्जल महाभाष्य के समय अर्थात् द्वितीय शती ई० पू० मे भली प्रकार अस्तित्व मे आ चुका था।) वही समय भारत मे विदेशी यवन, शक, पह्लव आक्रान्ताओ के आने का है, जिनका महाभारत मे उल्लेख पाया जाता है। सच यह है कि महाभारत का रूप परिवर्धन और क्षेपको द्वारा विकसित हो रहा था। आश्वलायन गृह्य-सूत्र मे महाभारत और (उसके सक्षिप्त रूप) भारत का उल्लेख है।

इतिहास—मूलत रामायण का विषय राम-रावण का युद्ध है, जिन्हे आर्य और अनार्य सस्कृतियो के प्रतिनिधि और मूर्तरूप माना जा सकता है। युद्ध का अन्त लम्बे और कठिन सग्राम के बाद आर्य की अनार्य पर विजय के रूप मे होता है, जिसका जीतना उसके सगठन-बल और सुदूर लका मे राक्षसराज रावण की अत्युन्नत भौतिक सभ्यता के कारण दुष्कर था। रावण को शिव का भी अनन्य भक्त कहा गया है, जिसके कारण उसने बहुत-सी अतिमानुषी और आत्मिक शक्तियाँ प्राप्त कर ली थी। दूसरी ओर राम विष्णु के अवतार एव अध्यात्म-बल के प्रतीक थे। उनके पृष्ठपोषक वसिष्ठ और विश्वामित्र नामक दो ब्राह्मण-ऋषि सच्चे पथ-प्रदर्शक थे, जिन्होने इस युद्ध का बन्धेज बाँधा और आर्य-पक्ष के अभ्युदय के लिए राम को उसमे अधिकृत कार्यसाधक के रूप मे ले आए। वानर-राजाओ और उनकी सेनाओ ने युद्ध मे राम की सहायता की, और यदि ये अनार्य जाति के लोग हो, तो इससे आर्यो का अनार्यो के ऊपर बढता हुआ अधिकार प्रकट होता है। अनन्त रामायमण आर्य-सस्कृति के दक्षिण की ओर लका तक प्रसार की सूचना देती है। किन्तु उसकी लोकप्रियता तथाकथित इतिहास के लिए नही है, बल्कि पूर्ण चरित्रवान् व्यक्तियो के चित्रण के लिए है—आदर्श पिता, पुत्र, भ्राता, पत्नी, पति, मित्र और सेवक जो कोटि-कोटि हिन्दुओ के मन मे घर किये हुए हैं।

महाभारत का विषय भी युद्ध ही है—आर्य और अनार्य के बीच मे नही, किन्तु स्वय आर्यजनो के बीच मे, और कोई एक विशेष भाग नही, सारा भारत इसमे सम्मिलित था। दोनो वीरकाव्यो मे युद्ध का मूल बीज एक-सा है, अर्थात् रामायण मे कथा की नेत्री सीता और महाभारत मे कृष्णा (द्रौपदी), इन कथा-नेत्रियो के प्रति अधिक्षेप और अपहरण का दुर्व्यवहार। महाभारत के कुरुक्षेत्र युद्ध

के प्रभाव मे भारत के सभी आर्य राजा आ गए, जो कौरवो या पाण्डवो इन दो पक्षो मे किसी एक की ओर से लडे। पाण्डव और उनके मित्र मध्यदेश के थे, जैसे पचाल, काशी, कोशल, मगध, मत्स्य, चेदि और मथुरा के यदु, जबकि कौरवो के पक्ष मे ये लोग थे—उत्तर-पूर्व मे प्राग्ज्योतिष का राजा, चीन और किरात, उत्तर-पश्चिम मे कम्बोज, यवन, शक, मद्र, कैकय, सिन्धु, और सौवीर, पश्चिम मे भोज, दक्षिण मे दक्षिणापथ के राजा, दक्षिण-पूर्व मे आन्ध्र और मध्य-देश मे माहिष्मती और अवन्ति के राजा।

सन्निवेश—सभ्यता का आधार भूमि पर बसे हुए जन-सन्निवेश होते हैं, जो कि क्रमश वर्धमान रूप मे इस प्रकार हैं—(१) घोष, पशुओ का स्थान, जिसे व्रज भी कहते हैं, (२) पल्ली, छोटी अनार्य बस्ती (पल्लीघोषा, महाभारत १२।३२६।२०), (३) दुर्ग, रक्षा के लिए सुरक्षित स्थान, (४) ग्राम, दुर्ग को केन्द्र मानकर उसके चारो ओर बढने वाला सन्निवेश, (५) खर्वट और पत्तन, कस्बे, और (६) नगर या शहर। नगर के लिए कगूरे (कपि शीर्षक) युक्त अट्टालक और सात परिखाओ के रूप मे रक्षा का विशेष प्रबन्ध किया जाता था, और शृगाटक या चतुष्पथो के रूप मे नगर का सूत्र-मापन भी किया जाता था। उसके मार्ग जल से सुसिक्त और दीपिकाओ से प्रकाशित होते थे (३।२८४।३, १५।५। १६ आदि)। रामायण मे चार (२।४८।१६), और महाभारत मे छह चतुष्पथो का उल्लेख है। नगर मे राजप्रसाद, सभा या न्यायाधिकरण, द्यूतशाला, सगीत-शाला, और मल्लो की क्रीडाशालाएँ होती थी। नगर के हृदय या आभ्यन्तर भाग के चारो ओर वणिजो की पण्यवीथियाँ या इसी प्रकार के भाग, छोटे लोगो के घर और उद्यान होते थे (महाभारत ४।२२, आदि)। वीरकालीन नगरो मे चार द्वार होते थे, किन्तु लका मे आठ द्वार थे (६।९३)।

राजनीति और शासन—शासन का ठाट दशम-प्रणाली पर आयोजित था। उसकी इकाई ग्राम थी, जिसका नेता ग्रामीण चारो दिशाओ मे एक कोस तक रक्षा के लिए उत्तरदायी था। उसके ऊपर क्रमश दशग्रामी, विंशतिप, और शत ग्रामी (दूसरा नाम ग्रामशताध्यक्ष) थे जो दस, बीस और सौ गाँवो के शासक थे। उनके ऊपर अधिपति होता था, जो एक सहस्र गाँवो का शासक था। इस क्रमश बढते हुए मण्डल के भीतर ये अधिकारी कर वसूल करते, और अर्थदण्ड लेते थे, और एक से दूसरे उच्चाधिकारी के पास उसे जमा करते थे, और अन्त मे समस्त आय और उसका वृत्तान्त राजा के पास केन्द्रित होता था जो सबका अधिपति था। (मनु ७।११५-१२५, याज्ञवल्क्य १।३२१, आपस्तम्ब २।१०। २६।४ आदि)।

राजा—राजा निरकुश शासक नही था। उसे धर्म और नीति के अनुसार

शासन चलाना होता था। अत्याचारी राजा अधिकारच्युत कर दिया जाता था, प्रजाओ का उत्पीडन करने वाला राजा पागल कुत्ते की भाँति ववदण्ड का पात्र था। दुष्ट राजा को सिहासन छोडना पडता था (महाभारत ५।१४६।२५)। उनका नियमित रूप से पृथ्वीपति के रूप मे अभिषेक और पट्टबन्ध होता था (महाभारत १२।४०, रामायण २।६६)।

संघीय संस्थाएँ—राजा को जनपद, कुल, जाति, श्रेणी और पूग, इस सघीय सस्थाओ के धर्मों या आचार और नियमो का पालन आवश्यक था।

गण—महाभारत शान्तिपर्व मे गणसज्ञक सघीय शासन का उल्लेख आता है, जो उस समय प्रचलित थे। कई गणो का सयुक्त शासन (सघातगण) भी होता था।

महाभारत(१३।८१)मे पाँच गणो का उल्लेख है—अन्धक, वृष्णि, यादव, कुकुर और भोज, जिन्होने एक संघ के अन्तर्गत अपने-आपको सगठित किया था। इसके सघ-मुख्य कृष्ण थे, जिन पर उन सबके अभ्युदय का भार था। सयुक्त सघ के सदस्य-राज्य अपने-अपने नेता, जिसकी सज्ञा ईश्वर थी, की अधीनता मे स्वायत्त थे। उदाहरण के लिए, भोजो का नेता अक्रूर था। अक्रूर के अनुयायियो मे बलदेव भी थे (वही, १२।८१।१४)। आहुक स्वय यादव था और उसी नाम की दूसरी शाखा का नेता भी (५।८६)। आहुक लोग कृष्ण के मित्र थे (३।५१)। इस सयुक्त सघ के अन्तर्गत एक प्रकार का वर्गगत शासन भी चालू था (वर्ग=पार्टी)। वर्ग-नेताओ मे अधिकार के लिए सघर्ष भी होता था। इस सम्बन्ध मे आहुक, अक्रूर, गद, प्रद्युम्न, सकर्षण (बलदेव) और बभ्रु-उग्रसेन के नाम आते है। बभ्रु के अतिरिक्त, जिसने कृष्ण के विरुद्ध सगठन किया, और सब कृष्ण के अनुयायी थे। (१२।८१।१७)। कृष्ण को भी कभी-कभी अपने पक्ष के लोगो की भक्ति के विषय मे शिकायत रहती थी। उन्होने नारद से शिकायत की कि सकर्षण अपने बल से, गद अपने गुणो से, प्रद्युम्न अपने सौंदर्य से अभिमान मे चूर्ण होकर उन्हे असहाय छोड देते है, और आहुक और अक्रूर बभ्रु के विरोध मे स्वय सब अधिकार अपने हाथ मे ले लेते है। परन्तु नारद ने कृष्ण को परामर्श दिया कि वे सघ-मुख्य के अपने पद के उत्तरदायित्व तक ऊँचा उठकर आभ्यन्तर भेदो से सघ की रक्षा करें, जो कि सघ के नाश का कारण होता है (१२।८१)।

सघ कई प्रजातन्त्रीय इकाइयो के समुदाय की सज्ञा थी, किन्तु गण से प्रत्येक का बोध होता था। गण को अपनी उन्नति के लिए भेद या आपसी फूट से बचना चाहिए, अपने प्रधान पुरुषो तक ही अपनी भेद की बातो को सीमित रखना चाहिए (मत्रगुप्ति, प्रधानेषु), गण-मुख्यो और ज्ञानवृद्धो की समिति द्वारा शासन चलाना चाहिए। शास्त्र और परम्परागत धर्मों और व्यवहारो का पालन करना चाहिए,

पक्षपात न करना चाहिए, व्यक्ति के विनयगुण के आधार पर ही सार्वजनिक सेवा-कार्य मे किसी की नियुक्ति करनी चाहिए और समस्त आन्तरिक भेदो को जड से ही शान्त कर देना चाहिए। ये भेद कुल मे उत्पन्न होते है, और कुल-वृद्धो की उपेक्षा से गोत्र मे फैल जाते हैं, और बढते-बढते सारा गण उनमे डूब जाता है (१२।१०७)।

निरंकुशता का नियन्त्रण—राजा की निरकुशता पर रोकथाम करने वाली सस्थाएँ मन्त्रि-परिषद् और सभा थी। सैंतीस मन्त्रियो मे से, जिनमे चार ब्राह्मण, आठ क्षत्रिय, इक्कीस वैश्य, तीन शूद्र और एक सूत सम्मिलित थे, सदस्यो की मन्त्रि-परिषद् बनाई जाती थी (महा० १२।८५।६-११)। प्रधानामात्य को मन्त्री कहते थे। प्रतिदिन राजा का पहला काम मन्त्र-गृह मे अपने मन्त्रियो से पृथक्-पृथक् या एकसाथ मन्त्रणा के लिए जाना था (२।५।२८)। सभा का अध्यक्ष या सभाध्यक्ष राज्य के अठारह मुख्य अधिकारियो (तीर्थों) मे गिना जाता था (२।५।३८)। 'वह सभा नही जिसमे वृद्ध न हो, वे वृद्ध नही जो धर्म के अनुसार न कहे"(५।३५।५८)—इस वाक्य मे सभा का रूप न्याय-सस्था का है। न्यायाधिकारी की सज्ञा सभास्तार थी (४।१।२४)।

वीरकालीन राज्य-सस्था का घनिष्ठ सम्बन्ध अभिजातवर्गात्मक सस्था से था, जिसमे राजा के मित्र और बन्धु, अधीन राजा, सैनिक नेता या शूर और पुरोहित सम्मिलित रहते थे। ये कुलीन लोग मन्त्रणा मे भाग लेते, सभाओ का सचालन करते, सेना का नेतृत्व करते, और समस्त युद्ध-सम्बन्धी कामो मे राजा के सहायक प्रतिनिधि या उपराज्य का कार्य करते थे। राजा उन सबमे अपने गुणो के कारण मुख्य था, जिसके आधार पर वस्तुत वह चुना जाता था, वशानुक्रम के कारण नही। उसकी श्रेष्ठता उसके शक्ति-बल मे होती थी (वीर्यश्रेष्ठाश्च राजान, महा० १।१३६।१९)। यह भी कहा है कि "ये तीन व्यक्ति राजा को बनाते है—घातकुलीन, शूर और सेना का सचालक" (सेना प्रवर्पति, १२।७५।२२ आदि)। विभिन्न श्रेणियो के इन कुलीन पुरुषो के नाम इस प्रकार थे—(१) मन्त्रिन्, या मन्त्रि-परिषद् के सदस्य, (२) अमात्य, सामान्य अधिकारी, जिनमे से चुने हुए आठ—एक सारथी, तीन दास, और चार ऋत्विज—राजा के अन्तरग परिचारक होते थे,(१।१४०।२ आदि), (३) सचिव, जो सर्वोच्चस्थानीय सैनिक अधिकारी होते थे, और राजा की अनुपस्थिति में उसके कार्यों का निर्वाह करते थे (१।४९।२३), (४) पारिषद्, परिषद् के सदस्य जो राजा की अनुपस्थिति मे राज्य की रक्षा भी करते थे (५।२८।१४-२०), (५) सहाय, उच्चस्थानीय मन्त्री, जो राजा के सहायक होते थे (१२।८३।२२, ५७।२३), (६) अर्थकारिन्, राज्य-कार्यों के लिए उत्तरदायी अधिकारी, जिनकी सख्या मन्त्रि-परिषद् मे पाँच होती थी (वही),

और (७) धार्मिक, या न्यायाधिकारी (१२।१२१।४६, रामायण ६।३।१३)। यह ध्यान मे रखना चाहिए कि इन विभिन्न पदाधिकारियो के कार्यो और कर्तव्यो का पृथक् निदश न होने के कारण उनके महत्त्व का भेद करना कठिन है।

अन्त मे यह भी ज्ञातव्य है कि इन ग्रन्थो मे राज्य के विभागाधिपति तीर्थ-सज्ञय मुख्य अठारह अधिकारियो का भी उल्लेख आता है (२।५।३८, रामायण २।१०६।४५)। उनके नाम ये हैं—(१) मन्त्री (परिषद् का प्रधान), (२) पुरोहित (मुख्य ऋत्विज), (३) युवराज, (४) चमूपति (सेना का मुख्य सेनापति), (५) द्वारपाल, (६) अन्तर्वंशिक (अन्त पुर का अधिकारी), (७) कारागाराधिकारी, (८) द्रव्यसचयकृत् (मुख्य प्रबन्धक), (९) अर्थविनियोजक (कृत्याकृत्यो मे धन का ठीक प्रकार विनियोग या व्यय-विभाग करने वाला, कृत्याकृत्येषु चार्थाना विनियोजक), (१०) प्रदेष्टा (मुख्य न्यायपति), (११) नगराध्यक्ष, (१२) कार्यनिर्माणकृत् (निर्माण-विभाग का मुख्य अधिकारी), (१३) धर्माध्यक्ष, (१४) सभाध्यक्ष (सभा का प्रमुख), (१५) दण्डपाल (दण्ड-व्यवस्था का मुख्य अधिकारी), (१६) दुर्गपाल (दुर्गो का अधिकारी), (१७) राष्ट्रान्तपालक (सीमान्त प्रदेशो के मुख्य अधिकारी), (१८) अटवीपालक (वन विभाग का मुख्य अधिकारी)।[1]

भारतीय अनुश्रुति के अनुसार भारतीय इतिहास—पुराण—साहित्य के एक अग के रूप मे पुराण वीर-काव्यो और धर्मशास्त्रो से शैली और भाव मे बहुत मिलते हैं, क्योकि उनकी रचना भी उसी प्रकार की सस्कृत भाषा और श्लोको मे हुई है। कही-कही दोनो मे कुछ लम्बे अश एक समान हैं। साधारणत पुराणो मे ये पाँच विषय होने चाहिएँ—(१) सर्ग (सृष्टि), (२) प्रतिसर्ग (प्रलय के बाद पुन सृष्टि या जगत् की अवान्तर प्रलय), (३) वश (देशो और ऋषियो की वशावलियाँ), (४) मन्वन्तर (काल के महायुग), (५) वशानुचरित (चार युगो मे राज्य करने वाले राजवशो का इतिहास), जिनको मिलाकर एक 'महायुग' बनता है। पर यह आदर्श योजना वर्तमान पुराणो मे पूरी तरह घटित नही मिलती। पुराणो की ऐतिहासिक सामग्री विषय-सख्या (५) तक सीमित है, पर वह अठारह मे से केवल सात पुराणो मे मिलती है, जिसके फलस्वरूप ग्यारह पुराणो मे इस प्रकार की इतिहासपरक सामग्री का अभाव है। कहा जाता है कि पुराणो का पारायण लोमहर्षण सूत या उनके पुत्र उग्रश्रवा ने किया। यह सूचित करता है कि पुराणो का आधार जो अनुश्रुति थी, वह ब्राह्मणो की रक्षा मे न थी। वायुपुराण मे स्पष्ट कहा है (१।१।२६-८) कि सूत का जन्म राजाओ के यशोगान के लिए आख्यान

---

१ मैं इन सूचनाओ के लिए ई० डब्ल्यू० हॉपकिन्स के अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी की पत्रिका (भाग १३) मे प्रकाशित लेख का ऋणी हूँ।

और अनुश्रुतियो के निधिपालक के रूप मे हुआ, जिनका वेद से सम्बन्ध न था। फिर भी पुराण अधिकाश मे ब्राह्मणो द्वारा प्रतिसस्कृत होकर उनसे प्रभावित हो गए और धार्मिक प्रयोजन के लिए उपयोग मे लाए जाने लगे। उनका नैतिक प्रयोजन इस प्रकार स्फुट किया गया है—"जिसने सूर्यवश और चन्द्रवश के इक्ष्वाकु, जह्नु, मान्धाता, सगर और रघु के, जो सब-के-सब नाश को प्राप्त हो चुके हैं, ययाति, नहुष और उनके वशजो के, जो अब नाम-शेष हो गए हैं, और उन महाबलशाली दुर्धर्ष-विक्रम और अपरिचित वैभव वाले राजर्षियो के, जिन्हे और भी उग्र शक्ति वाले काल ने पचाकर केवल कथा-मात्र बना दिया है, चरित सुने है, उस व्यक्ति के मन मे ज्ञान का उदय होगा और वह अपनी सन्तान, स्त्री, गृह-द्वार, भूमि और धन मे ममत्व न करेगा" (विष्णु पुराण, ४।२४०)। इस प्रकार राजाओ का इतिहास भी मानवी इच्छाओ के मिथ्याभिमान को बताने के लिए ही कहा गया है। यो महान् देवता शिव और विष्णु की प्रशसा मे निर्मित पुष्कल धार्मिक भाग पुराणो मे समाविष्ट हो गया। फलस्वरूप पुराण इस समय उत्तरकालीन हिन्दू धर्म मे धर्मग्रन्थ माने जाते हैं, जैसे प्राचीन ब्राह्मण-धर्म के लिए वेद थे। केवल उन्हे वेदो जैसी पवित्रता और पाटशुद्धि, जिसके कारण वेदो का पाठ क्षेपक-रहित बना रहा, प्राप्त नही।

पुराण की प्राचीनता उपनिषत्काल तक जाती है, जहाँ इतिहास-पुराण को अध्ययन का मान्य विषय स्वीकृत किया गया है, और यहाँ तक कि उसे पचम वेद कहा गया है। इसका तात्पर्य यह था कि रामायण-महाभारत के साथ पुराण भी जनता के लिए वेद की भाँति थे।

सब पुराणो मे 'विष्णु पुराण' सर्वोत्तम रूप मे सुरक्षित है। पुराणो मे आपसी भिन्नताएँ स्थानीय प्रभावो के कारण भी हैं, जैसे 'ब्रह्मपुराण' मे उडीसा की छाप का पता लगता है, 'पद्म' का सम्बन्ध पुष्कर से है, 'अग्नि' का गया से, 'वराह' का मथुरा से, 'वामन' का थानेश्वर से, 'कूर्म' का काशी से, और 'मत्स्य' का नर्मदा-तटवासी ब्राह्मणो से। विद्यमान पुराण ग्रन्थ-सम्बन्धी प्राचीनतम उल्लेख 'आपस्तम्ब धर्मसूत्र' मे आता है (२।९।२४।६), जिसमे द्वितीय शती ई० पू० के लगभग 'भविष्य पुराण' का उल्लेख किया गया है, जिससे उक्त पुराण का और भी अधिक प्राचीन समय पाँचवी शती ई० पू० के लगभग ज्ञात होता है (पार्जीटर प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक अनुश्रुति, पृष्ठ ४४-५४)।

भौगोलिक पृष्ठभूमि—पुराणो मे कुछ निश्चित भौगोलिक उल्लेख आते है। देश की सज्ञा भारतवर्ष है। उसे हिमालय के दक्षिण और समुद्र के उत्तर विस्तृत कहा गया है। भरतो की प्रजाओ का निवास होने के कारण इसका नाम भारतवर्ष पडा। उसमे सात मुख्य कुल-पर्वत है—महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमत, ऋक्ष,

विन्ध्य और पारिपात्र (या पारियात्र)। यह भी कहा गया है कि भारत के पूर्व मे किरात, पश्चिम मे यवन और मध्य मे आर्य बसते हैं, जिनके भेद ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामक चार वर्ण हैं (विष्णु पुराण २।१२७-१२६)। हिमालय एव सात कुल-पर्वतो से निकलने वाली नदियो और भिन्न-भिन्न जनपदो मे बसने वाले जनो के नामो की भी उनमे ब्यौरेवार सूचियाँ है। इस सामग्री का कुछ भाग अद्यावधिक करने के लिए बाद मे परिवर्तित भी किया गया। इसीलिए इनमे यवन, शक और पह्लवो का, जो पहली-दूसरी शती ई० पू० मे भारत मे आये, और हूणो का, जिन्होने छठी शती ई० मे गुप्त साम्राज्य को ध्वस कर डाला, उल्लेख पाया जाता है।

महाभारत युद्ध तक का इतिहास—पुराणो मे आदिराज मनु वैवस्वत की कल्पना की गई है, जिससे भारत के सब राजवशो का उद्गम हुआ। उसकी पुत्री इला थी, जिससे पुरुरवा ऐला का जन्म हुआ, जिसने प्रतिष्ठान (आधुनिक प्रयाग के पास झूँसी) को आदिम भारतीय सन्निवेश के रूप मे अपनी राजधानी बनाकर राज्य किया। मनु के दूसरे पुत्र इक्ष्वाकु ने मध्यदेश मे अयोध्या को राजधानी बनाकर शासन किया।

इक्ष्वाकु के पुत्र निमि ने विदेह मे अपने को प्रतिष्ठित किया और उसके पुत्र दण्डक ने दक्षिण के वन मे, जो उसके नाम से दण्डक वन कहलाया।

दूसरी धारा से मनु के अन्य पुत्र सौद्युम्न ने गया और पूर्वी जनपदो मे राज्य-स्थाना की।

पुरुरवा के अन्य पुत्र अमावसु ने कान्यकुब्ज और पौत्र ने काशी बसाई।

इक्ष्वाकु के वशज ययाति की अधीनता मे ऐल साम्राज्य की स्थापना हुई जिनके पाँच पुत्रो के नाम यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु, अनु और पुरु थे, जो सब ऋग्वेद के समय मे प्रसिद्ध हो चुके थे। इस प्रकार वेदो और पुराणो की अनुश्रुति एक-दूसरे से जुड जाती है। इन पाँच पुत्रो ने आपस मे भारत के उत्तरी मध्यदेश को, जिसमे काशी और कान्यकुब्ज के प्राचीन ऐल राज्य भी थे, बाँट लिया। पुरु को पितृ-पितामह का बीच का प्रदेश, अर्थात् गगा-यमुना की अन्तर्वेदी का दक्षिणार्ध, जिसकी राजधानी प्रतिष्ठान थी, प्राप्त हुआ। यदु को दक्षिण-पश्चिम भाग, चर्मण्वती (चम्बल), वेत्रवती (बेतवा) और शुक्तिमती (केन) नदियो से सिंचित प्रदेश प्राप्त हुआ। द्रुह्यु ने यमुना के पश्चिम और चम्बल के उत्तर वाले पश्चिमी भूभाग मे अपने पैर जमाए। अनु ने उत्तर मे अर्थात् गगा-यमुना की अन्तर्वेदी के उत्तरार्ध भाग मे, और तुर्वसु ने रीवाँ प्रदेश के समीप दक्षिण-पूर्व मे अपने-आपको स्थापित किया।

यदु के वशजो ने विशेष उन्नति की, जो वृद्धि को प्राप्त होकर हैहय और

यादव इन दो वडी शाखाग्रो मे वँट गए, ग्रौर यदु के राज्य के उत्तरी ग्रौर दक्षिणी भागो पर ग्रधिकृत हो गए।

यादवो ने शशविन्दु के नेतृत्व मे ग्रागे कदम वढाया ग्रौर पौरवो एव द्रुह्यु के प्रदेशो को भी जीत लिया।

यादवो के इस राज्य के प्रतिस्पर्धी मान्धाता के ग्रधीन ग्रयोध्या का राज्य था, जिसने कान्यकुब्ज, पौरवो के राज्य ग्रौर द्रुह्य लोगो के प्रदेश को भी जीत लिया, जिसके फलस्वरूप द्रुह्यु के राजा गाधार को भागकर गाधार देश मे शरण लेनी पडी, जिसका नाम उसी के नाम पर रखा गया। उसके पुत्र मुचुकुन्द ने नर्मदा के तट पर माहिष्मती (ग्राधुनिक मान्धाता) ग्रौर पुरिका मे ग्रपने-ग्रापको प्रतिष्ठित किया।

मान्धाता की दिग्विजयो की प्रतिक्रिया के रूप मे हैहय, ग्रानव ग्रौर द्रुह्यु लोगो मे वडी उथल-पुथल हुई। ग्रानव दो शाखाग्रो मे वँट गए। एक उशीनर के नेतृत्व मे पजाव की ग्रोर फैले ग्रौर उन्होने द्रुह्य लोगो को गाधार की ग्रोर एव उससे भी वाहर म्लेच्छ देशो की ग्रोर खदेडकर यौधेय, ग्रम्वष्ठ, शिवि, मद्र, कैकय ग्रौर सौवीर जनपदो की स्थापना की। तितिक्षु नेतृत्व मे ग्रानव शाखा पूर्व की ग्रोर विदेह ग्रौर वैशाली से परे फैल गई, ग्रौर उसने राजा वलि की ग्रधीनता मे ग्रङ्ग, वग, पुण्ड्र, सुह्य ग्रौर कलिङ्ग के पाँच राज्यो की स्थापना की।

इस स्थिति मे हैहय साम्राज्य ने कार्तवीर्य ग्रर्जुन की दिग्विजयो के रूप मे पदार्पण किया, जिसने नर्मदा के तट पर वसे हुए भार्गव व्राह्मणो को मार भगाया। उन्होने कान्यकुब्ज ग्रौर ग्रयोध्या के क्षत्रियो के यहाँ शरण ली। इस ग्रभिसन्धि के दुर्विपाक के रूप मे जमदग्नि हुए, जिनके पुत्र परशुराम ने तालजघ के ग्रधीन हैहय राज्य को नष्ट कर दिया, किन्तु यह स्वल्पकालिक ही रहा।

तालजघो ने वीतहोत्र, शार्यात, भोज, ग्रवन्ति ग्रौर तुडिकेर इन पाँच शाखाग्रो मे वँटकर सारे उत्तर भारत मे ग्रपना ग्रधिकार फैलाया, ग्रौर उत्तर-पश्चिम से ग्राने वाले शक, यवन, कम्वोज, पारद ग्रौर पह्लवो की सहायता से कान्यकुब्ज ग्रौर ग्रयोध्या के राज्यो को विलट डाला ग्रौर ग्रपनी विजयो का विदेह ग्रौर वैशाली तक विस्तार किया।

ग्रयोध्या ने सगर के नेतृत्व मे पुन सिर उठाया, ग्रौर उसने हैहय के प्रभुत्व को मिटाकर उत्तर भारत मे फिर ग्रपने राज्य की स्थापना की। इस भारी उलटफेर मे जो राज्य जीते वचे वे ये थे—विदेह, वैशाली, पूरव के ग्रानव राज्य, मध्यदेश मे काशी, रीवाँ मे तुर्वसु का वश, ग्रौर विदर्भ का नया यादव राज्य।

पुराना पौरव राज्य भी सगर की मृत्यु के वाद दुष्यन्त ग्रौर उसके पुत्र भरत के नेतृत्व मे पुन उत्थान को प्राप्त हुग्रा। किन्तु इस वार एक नये क्षेत्र मे गगा-

यमुना की अन्तर्वेदी के उत्तरी भाग मे हस्तिनापुर को राजधानी बनाकर पुराने प्रतिष्ठान को छोड दिया गया। इन नव-सस्थापित राज्यो मे भरतो का बहुत विस्तार हुआ, जैसे कृवि या पञ्चाल के दो राज्यो के रूप मे—उत्तरी, जिसकी राजधानी अहिछत्र थी, और दक्षिणी, जिसकी राजधानी काम्पिल्य थी।

अयोध्या को अत्यन्त योग्य राजाओ की परम्परा के अधीन पुन शक्ति प्राप्त हुई। इनमे भगीरथ, दिलीप, रघु, अज और दशरथ आदि थे, जिनके समय मे अयोध्या का नाम कोसल पड गया था।

मघ राजा की अधीनता मे यादव भी शक्तिशाली हुए और माधवो का राज्य गुजरात से यमुना तक फैल गया।

दशरथ के काल की राज्य-शक्तियो का इस प्रकार सन्निवेश रामायण के वर्णन से मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि अयोध्या या कोसल पूर्व के विदेह, अग और मगध, पजाब के कैकय, सिन्धु और सौवीर, पश्चिम के सौराष्ट्र और दाक्षिणात्य राज्यो का मित्र-राज्य था।

राम के बाद अयोध्या की स्थिति फिर गौण हो जाती है। अगले युग मे यादव और पौरव राजनीतिक मच पर मुख्य अभिनेता के रूप मे सामने आते हैं।

यादवो के चार राज्य थे, जिनमे अन्धक और वृष्णि मुख्य थे। अन्धक का राज्य मथुरा मे था, जहाँ उसका पुत्र कुकुर उत्तराधिकारी हुआ, जिसके वशज कुकुरो ने वहाँ कस के पूर्व तक राज्य किया। वृष्णि ने अपने वशज अक्रूर के पूर्व तक राज्य किया।

इस युग मे दूसरे यादव राज्य विदर्भ, अवन्ति और दशार्ण थे और एक हैहय राज्य माहिष्मती मे था। वृष्णियो के अतिरिक्त अधिकाश यादव भोज भी कहलाते थे।

लगभग इसी समय उत्तरी पञ्चाल मे ऋग्वेद मे ख्याति-प्राप्त सृंजय, च्यवन और सुदास नामक प्रभावशाली राजाओ का राज्य था। सुदास ने पौरव राजा सवरण को हस्तिनापुर से भगाकर उसके विरुद्ध दाशराज्ञ युद्ध का सगठन किया, किन्तु सुदास के बाद उसके राज्य का ह्रास हुआ, और पौरवो ने फिर उठान लेकर हस्तिनापुर को आत्मसात् कर लिया, एव उत्तरी पञ्चाल को जीत लिया। कुरु के नेतृत्व मे पौरव राज्य प्रयाग तक फैल गया था। इसके बाद उसका पुन ह्रास हुआ। आगे चलकर प्रतीप और शान्तनु के अधीन वह फिर बलयुक्त बना। शान्तनु के पौत्र धृतराष्ट्र और पाण्डु थे। धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन आदि कौरव कहलाए और पाण्डु के पाँच पुत्र पाण्डव, जिनके नाम युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव थे।

इस प्रकार हम पुराणो मे सुरक्षित सामग्री के आधार पर अविच्छिन्न

इतिहास-क्रम से उस युग तक आ जाते हैं जब कि महाभारत के युद्ध का बानक बन रहा था।

महाभारत युद्ध के बाद का इतिहास—युद्ध का सम्भावित समय—भारत-युद्ध के बाद का इतिहास पुराणो से भी सूचित होता है। उस युद्ध की काल-गणना मे भी उनसे सहायता मिलती है। पार्जीटर ने इस प्रकार इसे निकाला है—३२२ ई० पू० को चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यारम्भ की तिथि मानकर (जैसा अन्य प्रमाणो से निश्चित हो चुका है) हम पुराणो की सहायता से उसके पूर्वकालीन वशो की तिथियाँ निकाल सकते हैं। उसके पूर्व नौ नन्द, महापद्म और उसके आठ पुत्र हुए, जिनकी अवधि सौ वर्ष थी। पुराण के सर्वोत्तम पाठ के अनुसार सौ वर्ष की गणना उनकी आयु की थी, राज्य-काल की नही। यदि महापद्म बीस वर्ष की आयु मे गद्दी पर बैठा तो वह (३२२+८०) ४०२ ई० पू० मे इस पद पर आया। अब महापद्म और भारत-युद्ध के बीच की अवधि के विषय मे तीन मत हैं। उनमे जो सबसे अधिक तर्कसम्मत हो सकता है उसके अनुसार सर्वक्षत्रान्तक महापद्म के समय से पूर्व भारत-युद्ध तक इतने राजाओ ने राज्य किया था, अर्थात् २४ ऐक्ष्वाकु, २७ पञ्चाल, २४ काशी, २८ हैहय, ३२ कलिंग, २५ अश्मक, ३६ कुरु (पौरव), २८ मैथिल, २३ शूरसेन, और २० वीतहोत्र। यदि हम महापद्म की विजयो के लिए बीस वर्ष का युक्तियुक्त समय मान ले तो (४०२-२०) ३८२ ई० पू० मे वे समाप्त हो चुकी थी। इन समकालीन दस राजवशो की इस सूची के अतिरिक्त पौरव, ऐक्ष्वाकु और बार्हद्रथ राजाओ की वशावली की अन्य सूची भी मिलती है, जिसमे पूर्वकाल के और भविष्य के राजाओ के बीच मे विभाजक-रेखा खीची हुई पाई जाती है। यह रेखा भारत-युद्ध के समय खीची गई। इक्ष्वाकु वशावली मे दिवाकर के बाद २५ भावी राजाओ के नाम हैं, जब कि दूसरी सूची मे २४ हैं। पौरव या कुरु-सूची मे भविष्य के राजाओ की सख्या २५ है, जब कि दूसरी सूची मे ३६ दी हुई है। किन्तु एक सुप्रमाणित पाठान्तर के अनुसार यह सख्या ३६ की जगह २६ है। इस प्रकार दोनो सूचियो मे राजाओ की सख्या और एक ही आदिबिन्दु से दूसरे बिन्दु तक अर्थात् भारत-युद्ध से ३८२ ई० पू० मे महापद्म की दिग्विजय तक उनकी काल-गणना बिलकुल मिल जाती है। यदि ३६ कुरुओ को २६ शुद्ध कर दें तो दस राजवशो मे राजाओ की कुल सख्या २५७ हुई, और हरेक मे औसत क्षत्र-सख्या २६ हुई। यदि प्रत्येक राजा के राज्य का औसत १८ वर्ष माना जाए तो २६ राजाओ का राज्यकाल ४६८ वर्ष होता है। ३८२ मे ४६८ जोडने से ८५० ई० पू० का समय आता है। मगध वश की राजसूची से भी यही परिणाम निकलता है। मगध के भावी बार्हद्रथ राजा सेनाजित् के बाद सोलह कहे गए हैं। पाँच

प्रद्योत एव दस शिशुनाग राजाओ के साथ-साथ इन्होने ४०२ ई० पू० मे महापद्म के राज्याधिरोहण वर्ष तक राज्य किया। प्रद्योत मगध के राजा न थे, अतएव उन्हे छोडकर २६ राजाओ के लिए (८५०—४०२)४४८ वर्षों का समय आता है, अर्थात् १७ वर्ष का औसत राज्यकाल, जो उस परिवर्तनशील युग मे कुछ बहुत अनहोना नही कहा जा सकता।

अन्तत भारत-युद्ध की तिथि निकालने के लिए, हमे उन राजाओ का समय जोड देना चाहिए जिन्होने ऊपर कहे हुए तीन राजवशो से पहले राज्य किया था, अर्थात् पाँच पौरव, चार ऐक्ष्वाकु और छ बार्हद्रथ। इन पन्द्रह राजाओ का औसत पाँच हुआ, जिनके लिए १०० वर्ष का राज्यकाल मानकर ६५० ई० पू० भारत-युद्ध की तिथि निकलती है।

यह उल्लेखनीय है कि यह काल-गणना ग्यारह (१) समकालीन भारतीय राजवश और (२) दूसरे देशो के चौदह ऐतिहासिक राजवशो की राज्य-काल-गणना के विश्वसनीय आधार पर औसत निकालते हुए निश्चित की गई है, और इसलिए इसे 'युक्तिसगत निकटतम अनुमान' के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है (पार्जीटर, वही, पृष्ठ १७६-१८३)। पार्जीटर की गणना के विरुद्ध सम्भवत एक युक्ति यह दी जा सकती है कि इसका आधार एक राजा के राज्यकाल के लिए १८ वर्ष का औसत माना गया है जो कि उस गणना मे राजाओ की सख्या को देखते हुए औसत के रूप मे अल्प है। इसके अतिरिक्त दो प्रमाण और भी हैं, जिन्हे बिलकुल छोड न देना चाहिए। पहला यह कथन है कि महापद्म के अभिषेक और भारत-युद्ध के बीच मे मगध मे २२ बार्हद्रथ, ५ प्रद्योत और १० शिशुनागो ने राज्य किया, जो १४०८, या १४६८, या ६३६ वर्षो तक रहे। दूसरा कथन महाभारत का ही यह है (महा० १४।६६-७०) कि महापद्म के अभिषेक और परीक्षित के जन्म, जो कि महाभारत-युद्ध के ठीक बाद हुआ, के बीच मे १०५० (या १०१५) वर्ष का समय बीता। पार्जीटर ने यह कहकर कि इससे प्रत्येक राजा का औसत ऊँचा बैठता है, इन सख्याओ को उडा दिया था। शायद बीच का रास्ता निकल सकता है यदि हम एक राजा को एक पीढी मान लें, क्योकि यह स्पष्ट नही है कि उत्तराधिकार हमेशा पिता से पुत्र को प्राप्त होता रहा। यदि एक पीढी की गणना २५-३३ वर्ष की जाए, जैसी कि प्राय की जाती है, तो महाभारत के १०१५ वर्ष या कम सख्या वाले ६३८ वर्ष इतने अतिमात्र न रह जाएँगे। तिथिक्रम-सम्बन्धी अतिशय महत्त्व की एक दूसरी बात भी है जिसका किसी भी प्रस्तावित गणना के साथ मेल बैठाना होगा। यह निम्न-लिखित व्यक्तियो की समसामयिकता है—बिम्बसार, उदयन, प्रसेनजित, प्रद्योत, अजातशत्रु, बुद्ध और महावीर, जैसा कि पाली और जैन-ग्रन्थो के आधार पर

स्थापित हो चुका है। बौद्ध अनुश्रुति बुद्ध का समय ६२३-५४३ ई० पू० निश्चित करती है, और महावीर उनसे लगभग तीन वर्ष पूर्व निर्वाण को प्राप्त हुए। पुराणो मे दी हुई कई वशावलियाँ उन राजाओ के नाम देती है, जो बुद्ध के समकालीन थे, जैसे मत्स्यपुराण की पौरव सूची मे २५ राजाओ के बाद उदयन का नाम आता है, या उसके और अभिमन्यु के बीच मे जो सूची मे दूसरा है, और जो भारत-युद्ध मे मारा गया, २३ पीढियाँ होती हैं। दूसरी सूची इक्ष्वाकुओ की है जिसमे २४ राजाओ की परम्परा प्रसेनजित तक पहुचती है। यदि इसमे से हम चार नाम निकाल दे, अर्थात् बुद्ध-वश के सस्थापक शाक्य का, बुद्ध के पिता शुद्धोदन का, स्वय बुद्ध का और उसके पुत्र राहुल का, जिन्हे स्पष्टत कोमल के सूतो ने अपने राजवश की प्रतिष्ठा बढाने के लिए जोड दिया है, तो बुद्ध के समय से भारत-युद्ध के बीच २२ पीढियाँ रह जाती हैं। मगधा वशावली मे भारत-युद्ध मे मारे गए सहदेव और अन्तिम राजा रिपुञ्जय के उत्तराधिकारी राजा प्रद्योत के बीच मे २२ राजाओ के ही नाम हैं। सम्भवत पुराणो ने भूल की है। पालिग्रन्थो मे प्रद्योत को अवन्ति का राजा कहा गया है, मगध का नही, जिसका वह बडा भयकर वैरी था। पालिग्रन्थो की सहायता से हम पुराणो की भूल सुधार सकते हैं। यदि मगध के रिपुञ्जय के बाद के छह प्रद्योतो के नाम सूची मे से निकालकर उसके उत्तराधिकारी बिम्बसार को नये वश के सस्थापक के रूप मे मान लें, जिस वश मे शिशुनाग वश-सस्थापक न होकर, जैसा पुराण मानते हैं, बाद का राजा ही था, तो ज्ञात होता है कि बुद्ध के तीन सामयिक राजा—बिम्बसार, प्रसेनजित और उदयन—भारत-युद्ध के बाद क्रमश बाईसवी, तेईसवी और चौबीसवी पीढी मे थे।

अतएव हमे अब तीन प्रमाणो पर विचार करना है जिन्हे यथासम्भव एक सूत्र मे गूँथना होगा। यह तभी सम्भव है जब हम एक पीढी के लिए स्वीकृत अवधि के अनुसार पीढी को ३३ वर्ष का मानकर गणना करें। इस आधार पर सर्वप्रथम बुद्ध से २४ पीढी पूर्व की गणना द्वारा (२४ × ३३ + ६२३) १४१५ ई० पू० भारत-युद्ध की तिथि पर हम पहुँचते हैं। दूसरे, महापद्म नन्द से ३१ पीढी गिनने से उस घटना का समय (३१ × ३३ + ४०२) १४२५ ई० पू० निश्चित होगा। तीसरे, महापद्म के अभिषेक से १०५० वर्ष जोडने से भी वह तिथि (१०५० + ३८२) १४३२ ई० पू० होती है। यो ये तीनो प्रमाण भिन्न-भिन्न स्रोतो से गृहीत होने पर भी लगभग एक तिथिक्रम-सम्बन्धी परिणाम पर पहुचाते हैं, अर्थात् भारत-युद्ध का समय १४०० ई० पू० के लगभग था।

पुराणो के अनुसार आर्यो का मूल उद्गम—भारत का अनुश्रुतिमूलक इतिहास, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, (१) ऐल, (२) सौद्युम्न, और (३) मान्व

या मानव इन तीन वशो से आरम्भ होता है, जिनके केन्द्र प्रतिष्ठान, गया, अयोध्या और मिथिला मे थे। ऐल और उनकी शाखाओ के विस्तार के सामने दूसरे दो वश पीछे हट गए, और सारे उत्तर भारत मे विदर्भ तक ऐलो का ही प्रभुत्व छा गया। पार्जीटर ने यह साहसपूर्ण सुझाव दिया था कि ऐल या ऐर आर्य थे, सौद्युम्न मुण्डा जाति के थे और मान्व द्राविड थे। ऐलो का मूल निवास कोई मध्य हिमालय का प्रदेश या उत्तरी देश था, जिसे पुराणो मे इलावृत कहा गया है। भारतीय अनुश्रुति मे आर्यों का उत्तर-पश्चिम से या भारत के बाहर से आकर आक्रमण करने अथवा आर्यों के पश्चिम से पूर्व की ओर प्रसार का तनिक भी उल्लेख नही पाया जाता। इसके विपरीत, उस अनुश्रुति मे ऐलो के देश से बाहर जाने और द्रुह्यु लोगो के उत्तर-पश्चिम की ओर सिन्धु-पार के देशो मे फैल जाने का वर्णन आता है। इसी के अनुसार ऋग्वेद (१०।७५) मे गगा से लेकर नदियो की सूची पूर्व से उत्तर-पश्चिम की ओर बढती हुई दी गई है, जो कि ऐलो के विस्तार और उत्तर-पश्चिम के बाहर उनके फैलाव से मेल खाती है। इसी प्रकार दाशराज्ञ युद्ध के ऋग्वेदीय वर्णन मे उत्तर पञ्चाल के ऐल राजा सुदास का, जिसके विपरीत वह युद्ध लडा गया था, पश्चिम की ओर पजाब मे घुसकर दिग्विजय करते हुए वर्णन है। यह इस मत के भी अनुकूल है कि ऋग्वेद का अधिकाश भाग गगा-यमुना की अन्तर्वेदी के ऊपरी भाग मे और समतल मैदान मे रचा गया। ऋग्वेद मे सरस्वती को विशेष रूप से पवित्र कहा है, और अवध की नदी सरयू भी उसमे विदित है। इस मत को और भी समर्थन १४०० ई० पू० के बोगाज कुई के लेख मे इन्द्र, वरुण, मित्र और नासत्य, इन वैदिक देवताओ के उल्लेख से भी, जैसा पहले कहा जा चुका है, प्राप्त होता है, जिससे यह सिद्ध होता है कि १५०० ई० पू० से पहले भारतवर्ष से बाहर मनुष्यो का निश्चरण हुआ था, जो अपने साथ अपने देवताओ को भी लेते गए थे। इसलिए भारत मे आर्यों का मूल विकास और उनकी सस्कृति इससे भी बहुत पूर्व काल की होनी चाहिए। पार्जीटर ने इससे भी आगे बढकर उत्तर-पश्चिम के बाहर भारतीय निर्यात का सम्भावित समय भी निकाला है। पुराणो से भारतीय इतिहास के विकास का सूचक जो वश-वृक्ष बनाया गया है, उसमे भारत-युद्ध से ५५ पीढी पूर्व द्रुह्यु लोगो का बाहर विस्तार हुआ था। यदि एक पीढी के लिए बारह वर्ष माने जाएँ, तो भारत से बाहर द्रुह्यु-निर्गम १००० ई० पू० के भारत युद्ध से (५५ × १२) ६६० वर्ष पूर्व हुआ होगा। यो वह सत्रहवी शती ई० पू० मे हुआ, जिससे पन्द्रहवी शती ई० पू० मे एशिया माइनर मे वैदिक देवताओ की सम्भावना की भी व्याख्या हो जाती है।

वैदिक तिथिक्रम के साथ सम्पर्क—भारत-युद्ध और परीक्षित की तिथि, जिसका ऊपर निश्चय किया गया है, वैदिक तिथिक्रम के कुछ प्रश्नो का थोडा

समाधान करने मे भी सहायक होती है। महाभारत के अनुसार, अर्जुन के पौत्र और अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित का, जो हस्तिनापुर के राजा थे, पुत्र जनमेजय हुआ, जिसके समय की दो घटनाएँ प्रसिद्ध हैं। उसने तक्षशिला मे एक नागयज्ञ किया और उसने पहले-पहल वैशम्पायन से महाभारत का पारायण सुना। इस पर ध्यान देना भी रोचक है कि कुछ वैदिक ग्रन्थ, जैसे 'अथर्ववेद', 'शतपथ', 'ऐतरेय ब्राह्मण' और 'बृहदारण्यक उपनिषद्' मे भी परीक्षित और जनमेजय का नाम आता है, किन्तु बिल्कुल भिन्न अनुश्रुतियो के साथ, जिसमे पुराणो मे उल्लिखित इन्ही नाम के व्यक्तियो से विभिन्न व्यक्ति सिद्ध होते हैं, जो अत्यन्त प्राचीन-काल मे हो चुके थे।

'बृहदारण्यक उपनिषद्' (३।३) मे यह प्रश्न है—"परीक्षित कहाँ चले गए (क्व पारीक्षिता अभवन्निति ?)" और यह उत्तर भी है—"वहाँ जहाँ अश्वमेध यज्ञ करने वाले जाते हैं।"

इस उद्धरण से ज्ञात होता है कि (१) परीक्षित लोग उपनिषद् युग मे अतीत इतिहास का विषय बन चुके थे, और कीर्तिशेष हो गए थे, (२) उन्होने कोई ऐसा घोर पातक किया था जिससे उनका लोप हो गया, (३) उन्होने प्रायश्चित रूप मे अश्वमेध यज्ञ किया था, जो निष्फल रहा, और यह परीक्षित अश्वमेध याज्ञिक होने के कारण महाभारत के जनमेजय से भिन्न थे जिसने सर्प-यज्ञ किया था।

इससे प्रकट होगा कि 'बृहदारण्यक उपनिषद्' की कहानी मे अन्य वैदिक ग्रथो मे पाए जाने वाले पूर्वकालीन पारीक्षित आख्यानो की एक प्रतिध्वनि है।

पारीक्षित के यश और वैभव के उत्कर्ष का सकेत सर्वप्रथम अथर्ववेद (२०।१२७।७-१०) मे मिलता है, जहाँ उसके राज्य मे कुरु जनपद की 'दधि, मन्थ और यव की समृद्धि' का उल्लेख है।

'शतपथ ब्राह्मण' (११।५।५।१३) मे परीक्षित जनमेजय के सदन, उसमे जौ के आसव से भरे हुए घडे ('पूर्णान् परिश्रुत कुम्भान्) और काठी कसे हुए सुन्दर अश्वो (काष्ठभृत हयान्) का उल्लेख है। उसी ग्रन्थ मे यह भी कहा गया है कि जनमेजय पारीक्षित ने 'एक धान्य खाने वाला, स्वर्णमण्डित, हरित-स्रज से अलकृत, शबलित अश्व आसन्दीवान् नगर से देवो के लिए यूप मे बाँधा (१३।५।४।१-४)।"

'ऐतरेय ब्राह्मण' मे भी कई स्थानो पर जनमेजय के यश और वैभव की कथा है।

एक स्थल (७।२७) मे कहा गया है कि जनमेजय पारीक्षित ने एक यज्ञ किया जिससे उसने काश्यप ब्राह्मणो को बहिष्कृत रखा। इस अवतरण मे जनमेजय के

ब्राह्मणो के साथ विरोध का प्रथम सकेत मिलता है। इसी विरोध के कारण जनमेजय और उसके वश की अभिवृद्धि को अत्यन्त क्षति पहुँची थी। दूसरे स्थल (७।३४) मे कहा गया है कि जनमेजय 'महत् को प्राप्त होकर महाराजपद पर आसीन हुए और आदित्य की भाँति श्रीसम्पन्न होकर उन्होने सब दिशाओ से बलि का आहरण किया और उनका राष्ट्र उग्र और दुर्घर्ष (अव्यथ्य) बन गया।'

तीसरे अवतरण मे (८।२१) कहा गया है कि उसके पुरोहित "तुर कावषेय ने जनमेजय पारीक्षित का ऐन्द्र महाभिषेक से अभिषेक किया। इसलिए जनमेजय चारो दिशाओ मे पृथ्वी की विजय करते हुए विचरे और उन्होने मेध्य अश्व से यजन किया। इस विषय मे यह यज्ञीय गाथा गाई जाती है— 'आसन्दीवति धान्याद रुक्मिण हरितस्रजम्। अबध्नात् अश्व सारङ्ग देवेभ्यो जनमेजय।' आसन्दीवत् मे जनमेजय ने धान्य खाने वाला, स्वर्ण से मण्डित, हरितस्रज से अलकृत शबलित रग का एक घोडा देवो के लिए यूप मे बाँधा।"

यहाँ यह उल्लेखनीय कि ऐतरेय के अनुसार जनमेजय ने अश्वमेघ-यज्ञ साम्राज्य-प्राप्ति के उपलक्ष्य मे किया था, किसी पाप के प्रायश्चित के लिए नही, जिसका वहाँ कुछ भी सकेत नही है। इससे ऐतरेय की अनुश्रुति शतपथ और बृहदारण्यक की अपेक्षा अधिक प्राचीन विदित होती है। वस्तुत जैसा कीथ ने अपने ऐतरेय के अनुवाद (पृ० ४५) मे लिखा है, "ऐतरेय का समय वही है जो मध्यदेश के भरतो का है, जब जनमेजय का यश पूर्ण उत्कर्ष पर था।" उनका यह भी कथन है—"जनमेजय का काल वेदो की प्राचीन सहिताओ की समाप्ति का समय है और ऐतरेय मे उसकी पद-प्रतिष्ठा से उनकी ठीक सगति बैठ जाती है।" ऐतरेय मे उस पद के ह्रास का कोई सकेत नही मिलता।

जनमेजय के पाप की कहानी, जिसका 'बृहदारण्यक' मे सकेत है, 'शतपथ' मे पाई जाती है, जिसका कथन है कि "जनमेजय और उसके पुत्रो, पारीक्षित के पौत्र पारीक्षितियो ने अश्वमेघ-यज्ञो एव अपने पुण्य कर्मो से एक के अनन्तर दूसरे ने पाप-कर्मों का परिमार्जन किया।" उसी ग्रन्थ मे यह पाप ब्रह्महत्या कहा गया है। उसके पुत्रो के नाम ये थे—भीमसेन, उग्रसेन और श्रुतसेन, जो पारीक्षित थे। इस प्रायश्चितार्थ अश्वमेघ यज्ञ के लिए इन्द्रोत-दैवापि शौनक को मुख्य ऋत्विज बनाया गया है। 'ऐतरेय' मे जनमेजय के पुरोहित एक भिन्न व्यक्ति तुर है, जो किसी दूसरे उद्देश्य से किये हुए कर्मो से सम्बन्धित थे, प्रायश्चित्तीय कर्म से नही।

उस पाप की अनुश्रुति, जिससे जनमेजय और उसके पुत्रो का अध पतन हुआ, कौटिल्य के समय तक पाई जाती है, जिन्होने अपने अर्थशास्त्र मे लिखा है—'कोपाज्जनमेजयो ब्राह्मणेषु विक्रात'—अर्थात् ब्राह्मणो के प्रति कोपजनित अत्याचार से जनमेजय पराभव को प्राप्त हुआ।

परीक्षित और जनमेजय के सम्बन्ध मे ये वैदिक अनुश्रुतियाँ सिद्ध करती है कि वे महाभारतकालीन उन्ही नामो वाले व्यक्तियो से भिन्न थे। इस मत का समर्थन पुराणो से भी होता है, जिनके अनुसार उसी वश मे दो परीक्षित और तीन जनमेजय हुए थे। अतएव यह मानना युक्तिसगत है कि जनमेजय प्रथम को, जो अति प्राचीन पूर्वपुरुष था, विचार-कोटि से अलग रखकर परीक्षित प्रथम और उसका पुत्र जनमेजय द्वितीय वैदिक अनुश्रुति से सम्बन्ध रखते है, और जनमेजय तृतीय महाभारत से। इसे ध्यान मे रखकर कि पुराणो के अनुसार जनमेजय द्वितीय और जनमेजय तृतीय के बीच मे बीस पीढियो का अन्तर था और जनमेजय तृतीय की तिथि १४०० ई० पू० से गणना करके, हम इस परिणाम पर पहुँचते है कि परीक्षित प्रथम और जनमेजय द्वितीय, एव शतपथ और ऐतरेय ब्राह्मणो का समय २००० ई० पू० के लगभग था। ब्राह्मण ग्रन्थो का यह निर्णीत समय वैदिक सहिता के काल को और पीछे हटा देता है, और अन्तत ऋग्वेद का समय भी पीछे चला जाता है और सिन्धु-सभ्यता से, जिसकी चर्चा ऊपर की गई है, उसका मेल बैठ जाता है।[1]

धर्मशास्त्र—प्राचीन भारतीय सभ्यता के सम्बन्ध मे धर्मशास्त्र नामक ग्रन्थ अत्यधिक प्रकाश डालते है। उनमे मुख्य या प्रतिनिधि ग्रन्थ मनु, विष्णु, याज्ञवल्क्य और नारदप्रणीत स्मृति-ग्रन्थ है। 'विष्णु स्मृति' के अतिरिक्त ये सब श्लोको मे है। इनका जो वर्तमान रूप है उसमे रामायण-महाभारत की भाँति बहुत अश समय-समय पर पीछे भी जोडा गया।

मनुस्मृति[2]—उसका समय—मनु का धर्मशास्त्र हिन्दू-धर्म के सम्बन्ध मे प्रमुख और सबसे अधिक प्रामाणिक ग्रन्थ है और हिन्दू-समाज एव सभ्यता के लोकमान्य स्वरूप को प्रकट करता है। मनु का नाम अत्यन्त प्राचीन काल से कई रूपो मे मिलता है। ये मानव-जाति के आदिपुरुष, राज-सस्था के प्रथम कर्ता और धर्म के प्रथम व्यवस्थापक है। तैत्तिरीय और मैत्रायणी सहिताओ (२।२।१०।२, १।१।५) मे और 'छान्दोग्य उपनिषद्' (८।१५) मे उन्हे वैदिक ऋषि और ताड्य ब्राह्मण (२३।१६।७) मे धर्म का विधान करने वाला कहा गया है। यास्क ने (लगभग ७०० ई० पू०) 'निरुक्त' मे (३।१।४) मनु का एक श्लोक प्रमाण-रूप मे उद्धृत किया है जिसके अनुसार पुत्रो को पिता की सम्पत्ति मे बराबर भाग

---

१ मैसूर ओरियण्टल कान्फ्रेंस (दिसम्बर, १९३५) के इतिहास विभाग के समक्ष दिये हुए मेरे सभापति भाषण से सकलित।

२ इस प्रकरण के लिए मै अपने बहुमानित शिष्य श्री वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा एम० ए० के लिए लिखित मनुस्मृति-विषयक निबन्ध का अनुग्रहीत हू।

मिलना चाहिए। बौधायन (४।१।१४, ३।१६) और आपस्तम्ब (२।१६।१) के धर्मसूत्रो मे भी धर्म-कर्ता के रूप मे मनु का प्रमाण दिया गया है।

यद्यपि मनु के वचन या श्लोक अति प्राचीन थे, परन्तु समय पाकर उनमे वृद्धि होती रही और अन्त मे वे वर्तमान 'मनुस्मृति' या 'मानव-धर्मशास्त्र' के रूप मे सगृहीत कर लिए गए जो वहुत बाद की रचना है। यह धर्मशास्त्र मानव-चरण की धर्मसूत्र कृति पर आश्रित होना चाहिए। इस वैदिक विद्या-सस्थान या चरण का आधार कृष्ण यजुर्वेद की शाखा थी जिसने अपने मानव-धर्मसूत्र का विकास किया। जैसा पाणिनि ने कहा है (चरणाद्धर्माम्नाययो, ४।३।१२६, २।४६), उस युग मे प्रत्येक चरण न केवल अपने अध्ययन मे आने वाले आम्नाय या वैदिक शाखा के लिए ही प्रसिद्ध था, बल्कि धर्म-विषयक ग्रन्थ-विशेष के लिए भी। उदाहरण के लिए, काठक से तात्पर्य कठ शाखा और चरण से था, बल्कि काठक धर्मसूत्र से भी। उसी का श्लोकबद्ध रूप वर्तमान विष्णुस्मृति है। ऐसे ही मनुस्मृति भी कृष्ण यजुर्वेद के मैत्रायणीय चरण के अन्तर्गत बनी।

मनुस्मृति ने प्राचीनतर धर्मशास्त्रो का प्रमाण देते हुए (३।२३२) अत्रि, वसिष्ठ, गौतम और शौनक (३।१६) का उल्लेख किया है, पर याज्ञवल्क्य (१।४५) के धर्मशास्त्र मे और विष्णु मे, जो मनु पर अधिक आश्रित हैं, स्वय मनु का प्रमाण दिया गया है एव नारद और वृहस्पति मे भी। ये सभी उससे बाद की कृतियाँ हैं।

भौगोलिक पृष्ठभूमि—मनुस्मृति की भौगोलिक पृष्ठभूमि विन्ध्याचल के उत्तर तक सीमित है, पर तैत्तिरीय शाखा के अनुयायी आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी और बौधायन मे नर्मदा के दक्षिण की चर्चा है। मनु ने आर्य सस्कृति के चार क्षेत्रो का उल्लेख उनके वर्धमान परिणाम के अनुसार किया है, अर्थात् (१) ब्रह्मावर्त, सरस्वती और दृषद्वती नदियो के बीच मे (पजाब का वर्तमान हिसार ज़िला), (२) ब्रह्मर्षि देश, जिसमे कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल और शूरसेन जनपद थे, (३) मध्यदेश, जो हिमालय, विन्ध्य, सरस्वती और प्रयाग के बीच का प्रदेश था, और (४) आर्यावर्त, जो दो पर्वतो और पूर्वापर समुद्रो के बीच का भूभाग था। यही कृष्णमृग विचरता है[1] और वैदिक यज्ञो की भूमि है। इसके बाहर

---

१ "यह ध्यान देने योग्य है कि कृष्णमृग भारत के लम्बे-चौड़े कृषि-सम्पन्न समृद्ध समतल प्रदेश मे ही स्वाभाविक निवास बनाता है; मरुभूमि, पर्वतीय प्रदेश और वनोद्देशो मे वह बिल्कुल नहीं होता। ये स्थान जैसे पूर्वकाल मे थे वैसे ही अब भी आदिम जातियो से भरे हुए हैं।" [बूह्लर, प्राच्य पुस्तकमाला, १८।३, टिप्पणी १३]

अनार्य देश या म्लेच्छ देश है जो एक ओर सतलज से काबुल तक और दक्षिण मे द्रविड तक फैला हुआ है(२।१७, १६, २३)। सम्भवत मनु के धर्म ब्रह्मर्षि देश के लिए विहित थे, जैसा उसके दो वचनो से ज्ञात होता है। पहले वाक्य मे(८।६२) कहा गया है कि जो सत्यवादी है वह गगा और कुरु क्या करने जाए। दूसरे (११।७७) मे सरस्वती के तटवर्ती तीर्थों की यात्रा की चर्चा है।

उसकी बुद्धोत्तरकालीन विशेषताएँ—मनुस्मृति बौद्ध-युग के बाद की रचना है। इस तथ्य की सूचना सम्भवत उसके इन लेखो से मिलती है—(अ) कम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव (पार्थिअन), चीन, किरात, दरद्, खश, चोड, और द्राविड इन ऐतिहासिक जातियो को पतित क्षत्रिय कहा गया है(१०।४४), (आ) शूद्र राजा शास्त्र की मर्यादा का उल्लघन करते हैं (४।६१, ८७), (इ) स्त्रियाँ श्रमण भिक्षुणी होने लगी थी (५।६०), (ई) वेद और देवताओ की निन्दा (४।१६३), (उ)चैत्यवृक्ष, जहाँ भूत-यक्ष आदि का निवास था(६।२६४), और (ऊ) वेद-बाह्य स्मृतियो और दार्शनिक मतो का उल्लेख (१२।६५), जिनमे से अधिकाश का सम्बन्ध बौद्ध-धर्म से है।

राजनीति—बहुसख्यक जनपदो का अस्तित्व—मनु ने स्वराष्ट्र(७-३२)और परराज्य (७।६८), मित्र और शत्रुराष्ट्र(७।३२), मण्डलराष्ट्र (७।१५४)इनका उल्लेख किया है, जो एक-दूसरे के साथ विभिन्न मैत्री सम्बन्धो से बँधे होते थे। इनमे कुछ मध्यम या केन्द्रस्थानीय, कुछ उदासीन या तटस्थ और कुछ विजिगीषु या विजयाकाक्षी (६।३१२) राज्य होते थे। इससे विदित होता है कि मनु मे जिस आर्यावर्त्त का चित्र है वह अनेक जनपदो मे बँटा हुआ था और राजनीतिक दृष्टि से एक न था।

मनु का अभीष्ट राज्य—मनु के दृष्टि-पथ मे वह राज्य था जिसके लिए कुरु-क्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल और शूरसेन से सेना की भरती जाती थी (७।१६३)। ऊपर की परिभाषा के अनुसार यह ब्रह्मर्षि देश हुआ। इसकी राजधानी गगा और कुरु-क्षेत्र दोनो से दूर थी (८।६२)।

राजनीतिक विभाग—राज्य की सज्ञा राष्ट्र थी, उसके नागरिक राष्ट्रिक कहलाते थे (१०।६१)। राष्ट्र मे उसका राजा और प्रजाएँ (६।२२६) होती थी। राष्ट्र के अन्तर्गत कई देश(६।२५१)अथवा जनपद या विषय(७।१३४)होते थे।

सामन्त—राजा के सहायक अधीन सरदार सामन्त कहलाते थे जो उसके प्रति भक्ति प्रदर्शित करते (७।६६, ६।३१०)और सैनिक सहायता देते थे(६।२७२)।

शासन की इकाइयाँ—शासन की इकाइयो का सगठन दशम पद्धति के अनुसार किया गया था, जिसके अन्तर्गत अधिकार के उत्तरोत्तर क्रम से ये इकाइयाँ थी, (अ)ग्राम, सबसे छोटी इकाई, जिसका प्रबन्धक ग्रामणी था(७।१२०), (आ)दश-

ग्रामो का समूह, जिसका अधिकारी दशी कहलाता था (७।११५), (इ) बीस गाँवो का समूह, जो विंशी के अधीन था, (ई) सौ गाँवो का अधिपति शतेश कहलाता था, और (उ) एक सहस्र ग्रामो का समूह, जिसका शासक सहस्रेश होता था। विष्णु मे एक सहस्र ग्रामो के स्थान पर 'समस्त देश' का उल्लेख है।

अधिकारियो की वृत्ति—इन अधिकारियो को वृत्ति दी जाती थी, नगद वेतन नही। ग्रामणी को अन्न-पान, ईंधन और शाक इत्यादि (७।११८) मिलता था, दशी को एक परिवार के पोषण के लिए पर्याप्त भूमि, विंशी को पाँच परिवारो के लिए पर्याप्त भूमि (जिसकी जुताई के लिए २० हलो की आवश्यकता होती थी), शतेश को पूरे एक गाँव की आय, सहस्रेश को एक पुर की आय (७।११९) दी जाती थी।

परिषद् और सभा—राजा को राष्ट्र मे सर्वोच्च स्थानीय और प्रजा का एकमात्र भोक्ता कहा गया है (५।९४)। वह सचिवो की सहायता से, जो सहाय्य (सेक्रेटरीज़) कहलाते थे (७।३१, ३६), शासन करता था। सात या आठ मन्त्रियो की परिषद्, जिनका प्रधान मुख्यामात्य (७।५८) कहलाता था, शासन मे राजा की परामर्शदात्री थी। राजा अपनी प्रजा से सभा मे मिलता था (७।१४६)।

शासन के सामान्य कार्य मे कुछ गोपनीयता न थी, किन्तु राष्ट्र के महत्त्वपूर्ण (परम) मामलो मे राजा अकेले प्रधान-मन्त्री से मन्त्रणा करता था (७।५८ ६९)।

शासनीय विभाग—शासन के निम्नलिखित विभाग थे—(अ) अर्थ, जो राजा की अपनी देख-रेख मे रहता था। इसके अधीन कर-ग्रहण, आय-स्थान और खान एव कोष्ठागार की देख-रेख थी (७।६२), (आ) चार कर्म, शासन के छोटे-बडे सब अधिकारियो के काम का निरीक्षण (७।८१), (इ) सेना और रक्षा, ये दोनो एक अमात्य के अधीन थे, यद्यपि सग्राम-भूमि मे युद्ध के समय सेनापति और बलाध्यक्ष अधिकार आरूढ होते थे (७।६५, १८९), (ई) स्थानीय शासन एक विशेष अमात्य के अधीन था जो ऊपर कहे हुए ग्राम और दशम पद्धति के अन्तर्गत उसके ऊपर के अधिकारी का कार्य देखता था और अधिकार-क्षेत्र-सम्बन्धी उनके विवादो को निपटाता था (७।१२०)।

रक्षा—राष्ट्र की रक्षा के लिए २००, ३०० या ५०० गाँवो की इकाई के वीच-वीच मे 'गुल्म' नामक सैनिक टुकडियाँ रखी जाती थी (७।११४)। वे प्राय सारे देश मे फैली हुई थी (७।१९२)।

सरकारी कर्मचारी—सरकारी कर्मचारी युक्त कहलाते थे (८।३४)। उच्च-विभागाधिकारी महामात्र कहे जाते थे (९।२५९)।

नगर—नगर का शासन उच्चपद के विशेष अधिकारियो के अधीन होता था (७।१२१), जिन्हे रक्षि-पुरुष (पुलिस) और गुप्तचर (७।१२२, १२३) और

विषयपति या एक सहस्र ग्रामो के अधिपति सहस्रेश के ऊपर भी अधिकार रहता था (७।१२२)। नगर से सम्बन्धित समस्त बाते उसके अधिकार मे होती थी (सर्वार्थचिन्तक, ७।१२१)। नगर या राजधानी का चुनाव उसकी प्राकृतिक या कृत्रिम रक्षा-योग्यता के अनुसार किया जाता था (७।७०), जैसे परिखा या खाई (६।२८६), और द्वारयुक्त प्राकार या नगर की चारदीवारी। नगर मे कितने प्रकार के विषयो का प्रबन्ध करना पडता था, इसका कुछ अनुमान उसकी निम्नलिखित सस्थाओ से किया जा सकता है—सभा (ग्राम-दरबार) की जगह, प्रपा, भोजनालय, पानगृह, समाज और प्रेक्षण या नाटक आदि खेल-तमाशो के स्थान, शिल्पियो के निवास-स्थान (कारुक-वेशन), वेश (६।२६४-५), कोष्ठागार और आयुधागार (६।२८०)।

ग्राम—ग्राम-शासन इसी प्रकार ग्राम की सस्थाओ की देखभाल करता था, जैसे कुएँ (कूप, उदयान), तडाग, सर, वापी, प्रस्रवण, सेतु, उपवन और आराम (३।२०१-२०३), गोष्ठ, जिनमे एक-एक सहस्र गौएँ तक किसी एक की या सम्मिलित स्वामित्व की रहती थी (११।१२७), और गोचर-भूमि (परिहार), जिसकी चौडाई औसतन ६०० फुट गाँव के के चारो ओर होती थी, जिसमे गाँवभर के ढोर चरते थे (८।२३७-२३८)।

जनतन्त्रीय प्रवृत्तिया—हिन्दू राजा के सर्वाधिकार के भीतर प्रजा को स्वायत्त शासन की बहुत अधिक मात्रा प्राप्त थी। राजा का पद मुख्यत दण्डधर का होता था, अर्थात् वह धर्म या कानून की स्थापना और जनता को उसके अनुसार चलाने के लिए शासक-मात्र था। मनु के अनुसार धर्म या कानून के स्रोत ये थे—(अ) वेद या श्रुति, (आ) स्मृति या धर्मशास्त्र, (इ) शील और (ई) आचार, अर्थात् धर्मपरायण व्यक्तियो के रीतिरिवाज। धर्म-सम्बन्धी सदिग्ध विषय धर्म के जानने वाले शिष्टो की परिषद् तय करती थी। परिषद् मे ३ से १० तक सदस्य होते थे—१० सदस्यो मे ३ वेदो के, १ तार्किक, १ मीमासक, १ नैरुक्त, १ धर्म-पाटक और ३ सदस्य ३ आश्रमो (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ) से लिये जाते थे (२।६, १२।११०-११२)। दूसरी बात यह है कि जनता अपनी सघीय सस्थाओ के द्वारा अपने लिए स्वय नियम बनाने मे स्वतन्त्र थी। कुल, जाति, श्रेणी और जनपद इसी प्रकार की सस्थाएँ थी। राजा का कर्तव्य था कि वह उन नियमो पर अपनी स्वीकृति की छाप लगाकर उनका पालन कराए जिन्हे ये स्वायत्त सस्थाएँ, जातियाँ और सघ अपने-लिए बनाते थे। विभिन्न जनपदो के धर्मो या सामयाचारिक नियमो का भी राजा पालन कराता था (८।४१, ४६)।

सामाजिक दशा—समाज मे पहला भेद आर्य और अनार्य का था (१०।६६-६७)। अनार्य लोग दस्यु (१०।४५) और म्लेच्छ (२।२३) कहलाते थे। दस्यु

शव्द चाण्डाल, श्वपाक और इतर जातियो के लिए भी लागू होता था (५।१३१, १०।५१) जो शूद्रो से भी नीची थी (८।६६)।

अनार्य—ये घुमन्तु जाति के लोग थे (परिव्रज्या च नित्यश) जो गाँवो के बाहर श्मशान भूमि, चैत्य वृक्ष, जगल या पर्वत के पास वस जाते थे। वे टूटे-फूटे पात्रो का प्रयोग करते थे। कुत्ते और गधे यही उनका धन था, मृत व्यक्तियो के वस्त्र उनका वेश था, फेके हुए बर्तनो की जूठन उन्हे भोजन के लिए दे दी जाती थी और शरीर पर वे लोहे के गहने पहनते थे। रात के समय उनके गाँव मे आने का निषेध था और दिन मे भी वे केवल विशेष काम होने पर अपने सब चिह्नो को प्रकट करते हुए ही आ सकते थे। अनाथ व्यक्तियो के शव को वे चिताभूमि मे ढोकर ले जाते थे और घातक का कार्य भी वे करते थे (१०।५१-५६)। मृगया उनकी जीविका थी (५।१३१)। न्यायालय मे उनकी साक्षी न मानी जाती थी (८।६६) और उन्हे सम्पत्ति का अधिकार भी न था, क्योकि कहा है—"क्षत्रिय यदि अकाल-ग्रस्त हो तो दस्युओ के धन का अपहरण कर सकता है" (११।१८)।

आर्यों की समाज-व्यवस्था—इसमे द्विजाति वर्ण अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एव एकजाति अर्थात् शूद्र, इनका समुदाय था। पाँचवें वर्ण के लिए गुजाइश न थी (१०।४)।

कुछ मिश्रित जातियाँ (अन्तर-प्रभवा) थी जो व्यभिचार, असवर्ण या निषिद्ध स्त्रियो के साथ विवाह और स्वजाति के लिए उचित कर्मो के उल्लङ्घन से बन जाती थी (१०।२४)। इन जातियो के बीच मे अन्तर्जातीय विवाह से उत्पन्न बहुत प्रकार से सकर-सन्तति होती थी जो किसी एक वर्ग मे न रखी जाकर सब शूद्र कहलाती थी (१०।४१) और पेशो के अनुसार (स्वकर्मभि) उनका नाम पड जाता था (१०।४०)।

एक सर्वसामान्य नियम यह था कि 'जो आर्य पिता से अनार्य स्त्री मे जन्म लेता है वह गुण-कर्म के अनुसार आर्य बन सकता है' (१०।६७)। सम्भवत यह नियम विदेशियो की सुविधा के लिए और शिल्पी वर्ग के लिए बनाया गया था, 'जिनका हाथ सदा शुद्ध रहता है' (नित्य शुद्ध कारुक-हस्त, ५।१२६)। उन नये शूद्रो को जन्मजात शूद्र और अस्पृश्यो की अपेक्षा समाज मे ऊँचा स्थान दिया गया था।

जातियाँ—सामाजिक जीवन वर्ण और आश्रम के नियमो से सचालित होता था, जिसे वर्णाश्रम धर्म कहते है।

ब्राह्मण—यह सवसे ऊँचा वर्ण था (१।१००)। किन्तु उनका पद उसके धन-सम्पत्ति पर नही, वल्कि, उसके चरित्र और आध्यात्मिक गुणो पर निर्भर था। यह ब्रह्म का ज्ञान (ब्रह्मधारण, १।६३), तप, नियमधारण, १०।३), और सब

भूतो के प्रति मैत्रीभाव से युक्त होता था (मैत्रो ब्राह्मण उच्यते, २।८७)। वह अध्यापक, ऋत्विज, न्यायपति (८।९), मुख्यामात्य (७।५८), सभासद् ८।१०-११) और धर्म-परिषद् के सदस्य के रूप मे (८।२०) कर्तव्यो का निर्वाह करता था।

वह दण्ड के अधीन था, किन्तु उसे वध-दण्ड नही दिया जाता था (८।३८०)।

ब्राह्मण इन बातो से पतित हो जाता था—भोजन और प्रतिग्रह-सम्बन्धी नियमो के उल्लघन से, कुछ निन्दित कर्म या पेशो के करने से (३।१५०-१६६, ४।१५३-१५४) और धर्म या गुणो के बिना केवल जन्म से ब्राह्मण होने के घमण्ड के जीविकोपार्जन करने से (जातिमात्रोपजीवी, ७।८५)।

क्षत्रिय—तीनो द्विजातियो के सामान्य कर्म स्वाध्याय, यज्ञ और दान थे। क्षत्रिय का विशेष कर्म शस्त्रो का अभ्यास और सैनिक वृत्ति ग्रहण करना था (१०।७९)।

वैश्य—वैश्य के विशेष कर्म (१) कृषि, (२) दुकानदारी (विपणि-कर्म), (३) व्यापार (वाणिज्य), और (४) पशुपालन (पाशुपाल्य) थे, जो सम्मिलित रूप से वार्ता कहे जाते थे (९।३२६)। उनके धन मे ब्राह्मणो की सास्कृतिक सस्थाएँ चलती थी। (११।१२)। उसे समुद्र यात्रा की आज्ञा थी (समुद्रयायी, ३।१५८), जिसके लिए उसे बहुत-सी भाषाएँ सीखनी पडती थी (९।३३२)।

शूद्र—सेवा करना उसके जीवन का कर्म था (८।४१०,४१३) जिसमे कूडा और मैल की सफाई, शव ले जाना और ऐसे ही दूसरे काम थे। उसे सस्कारो का अधिकार न था, और न वह धार्मिक ग्रन्थो के अध्ययन का अधिकारी था। केवल उनका साराश वह सुन सकता था (४।९९, १०।२) किन्तु विवाह-सस्कार, गृह्याग्नि में नित्य भोजन-पाचन और श्राद्ध का उसके लिए निषेध न था (४।२२३, ३।१९७)। मनु ने तो शूद्र अध्यापको और शिष्यो का भी उल्लेख किया है (३।१५६), जिससे ज्ञात होता है कि शूद्र के लिए विद्याध्ययन का निषेध न था (२।२३८,२४०)। चूकि शूद्र सस्कृति के निम्न स्तर पर है, अतएव देश मे उनकी बहुसख्या (शूद्र भूयिष्ठम्) उसके नाश का कारण होती है (१०।६१, १२५)।

दास—वह सात प्रकार का होता था—युद्ध मे बन्दी (ध्वजाहृत), अन्न के लिए दास बना हुआ (भक्तदास), दासीमाता से उस घर मे उत्पन्न (गृहज), खरीदा हुआ (क्रीत), किसी से दिया हुआ (दत्त्रिम), पैतृक धन के रूप मे प्राप्त (पैतृक), और ऋण निर्यातन के लिए बना हुआ दास (दण्ड-दास)। जन्मजात अपनी दास्य-स्थिति को बदलना उसके वश मे न था। न वह सम्पत्ति का स्वामी हो सकता था (८।४१४-१७)। परन्तु इस प्रथा के दोष उस दया-भाव से

कुछ कम हो जाते थे जो दासो के प्रति स्वामी का आवश्यक कर्तव्य था (४।१८०, १०।१२४)।

स्त्री—स्त्री को वेदाध्ययन का अधिकार न था। विवाह के अतिरिक्त उसके सब सस्कार अमन्त्रक ही किये जाते थे (२।६६, ६।१८)। वह अपने पुरुष-सम्बन्धियो के सरक्षण मे रहती थी। कौमार अवस्था मे पिता की, यौवन मे पति की और वृद्धावस्था मे माता के रूप मे पुत्रो की रक्षा उसके लिए सदा सुलभ रहती थी (५।१४८, ६।३)। कानून की दृष्टि मे वह स्त्री-धन के अतिरिक्त सम्पत्ति की स्वामिनी नही बन सकती थी (८।४१६)। स्त्री-धन उसे कई प्रकार के दानो से प्राप्त होता था (६।१९४)। उसका मुख्य कर्तव्य घर का प्रबन्ध करना था, जिसमे आय की रक्षा और व्यय भी शामिल थे (६।११)।

आश्रम—इसकी सख्या चार थी, अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास। तीनो द्विजातीय वर्णों के लिए इसका पालन आवश्यक था। वर्ण एक-दूसरे को बाँटते थे, किन्तु आश्रम समाज मे एकता और समता का भाव उत्पन्न करते थे।

ब्रह्मचर्य—ब्रह्मचर्य का आरम्भ उपनयन-सस्कार से होता था जो ब्राह्मण के लिए ८, क्षत्रिय के लिए ११ और वैश्य के लिए १२ वर्ष की आयु मे किया जाता था। यदि कोई-कोई बालक सुबुद्ध हुआ तो यह आयु ५, ६ और ८ वर्ष भी हो सकती थी (२।३६-३७)। वह छात्रावस्था-काल मे आचार्य के घर मे रहकर वेश, भोजन और नियम-पालन के द्वारा जीवन मे व्रत और तप की शिक्षा प्राप्त करता था। इस पद्धति का मूल आधार ब्रह्मचर्य या इन्द्रिय-सयम था (२।९३, ९४)। शिक्षा का उद्देश्य बौद्धिक (वेद-ग्रहण) और आत्मिक (व्रतादेशन) उन्नति करना था (२।१७३), जिसका आश्रम तप या ध्यान था (ब्रह्माधिगमिक तप', २।१६४)।

विद्यार्थियो के नित्यकर्म इस प्रकार थे—(१) सन्ध्या और अग्निहोत्र (२।१०१, १०८), (२) अग्नि-परिचर्या, (२।१८७) (३) स्वाध्याय, (४) आचार्य के लिए या अपनी सस्था के लिए भैक्ष्यचरण, (५) खेतो और जगलो से जल, ईंधन, मिट्टी, पुष्प आदि लाना, और (६) अध्यापक का प्रवचन या निर्वचन सुनना।

अध्ययन के लिए—ये इस प्रकार थे—(१) श्रुतिसज्ञक, ३ वेद (२।१०, ११।२६४), जिनका अध्ययन भिन्न-भिन्न शाखा या सहिताओ के रूप मे किया जाता था। इनका विकास चरण-सज्ञक विभिन्न वैदिक विद्यालयो मे किया गया था (३।१४५), (२) चुने हुए वैदिक सूत्र और मन्त्र (११।२४९-२६०), (३) अथर्ववेद (११।३३) अशुभ वस्तुओ से रक्षा के लिए, (४) ब्राह्मण, जिनमे से

रहता था। यदि उत्सर्ग माघ मे होता तो दूसरा सत्र ३ दिन की छुट्टी के बाद माघ-शुक्ल-पचमी को होता था, जिसे आज तक वसन्त पचमी या सरस्वती पूजा का दिन कहते है। दूसरे सत्र मे वेदागो का अध्ययय किया जाता था।

शिक्षा के वर्ष मे अनध्याय या छुट्टी के दिन इस प्रकार थे—प्रत्येक मास मे दो अष्टमी, दो चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा, उपाकर्म और उत्सर्ग के बाद की छह छुट्टियाँ और तीन चातुर्मासी पूर्णिमाएँ (४।११३, ११९, २६-६।१०)। इन नियमित अनध्यायो के अतिरिक्त नैमित्तिक छुट्टियाँ भी विशेष कारणो से होती रहती थी, जैसे अधड, बादल, मेह, कोहरा, अग्नि, ग्रहण या डकैती आदि कारणो से।

अध्यापक—ये दो प्रकार के थे—(१) उपाध्याय, जो जीविका के लिए अध्यापन-वृत्ति को स्वीकार करके वेद या वेदाग का कोई-सा भाग पढाते थे (२।१४१), (२) आचार्य, जो शिष्य को कल्प-सूत्रो और उपनिषदो सहित वेद नि शुल्क अध्यापन कराते थे (२।१४०)। शिक्षा समाप्त कर लेने पर शिष्य गुरु को यथाशक्ति दक्षिणा देता था, जैसे क्षेत्र, स्वर्ण, गौ, अश्व, छत्र, उपानह, धान्य, शाक, फल या वस्त्र (२।२४६)।

भृतकाध्यापक और भृति देकर अध्ययन करने वाला शिष्य दोनो निन्दित समझे जाते थे और उन्हे श्राद्ध भोजन मे निमत्रित नही किया जाता था (३।१५६)।

साधारण अध्यापको के अतिरिक्त मनु ने अध्यापन-विधि के विशेषज्ञो का भी उल्लेख किया है (अध्यायज्ञा =अध्यापनविधिज्ञा, ४।१०२) जो शिक्षा-सम्बन्धी विषयो मे कुशल थे।

अन्तिम दो आश्रम—तीसरा आश्रम 'वानप्रस्थ' का था जो ससार त्याग-कर वनो मे आश्रम बनाकर रहते थे (६।७), जहाँ वे वन्य धान्य, फल और मूलो पर निर्वाह करते और अपने लिए नमक भी स्वय बना लेते थे (६।१२)। वर्ष मे दो बार उन्हे उञ्छ या सिल्ला बनाने की आज्ञा थी (६।११)। चौथा आश्रम सन्यासी का था। वह परिव्राजक-रूप मे विचरण करता, दिन मे भिक्षान्न से एकभुक्त होकर रहता, हठयोग (६।७०-२) और ध्यान-योग (६।७३) का अभ्यास करता और वेदान्त या उपनिषद् मे उपदिष्ट आत्मा का ध्यान करता (६।८३)। मनु मे श्रमण-सम्प्रदाय की स्त्री परिव्राजिका का भी उल्लेख है जो बौद्ध भिक्षुणी ज्ञात होती हैं (५।९०, ८।३६३)।

आर्थिक जीवन—मनु से नगर, पुर और ग्रामो मे पनपने वाले नागरिक और ग्रामीण, उभयविध जीवन का परिचय मिलता है।

आवास—घर मिट्टी, ईट, पत्थर और लकडी से (८।२५०) पक्तियो मे बनाए जाते थे (८।२९२), और उनके बीच मे सडक और गलियाँ (पथ, ४।४५,

राजमार्ग, ६।२८२) होती थी। वे कई मंजिलों (पृष्ठ ३।६१) के भी होते थे। गृह-निर्माण कला को वास्तु सम्पादन कहा जाता था (३।२५५) और स्थपति को गृह-प्रवेशक (३।१६३)। घरों को एक-दूसरे से पृथक् करने वाली गृह-सीमाएँ होती थी। गृह-सीमा के विवाद में पड़ोसियों की साक्षी अन्तिम प्रमाण मानी जाती थी (८।२६२)।

ग्रामों से बाहर सीमा की सूचना के लिए मन्दिर बनाने की प्रथा थी (८।२४८)। ग्राम और नगरों में सार्वजनिक उपयोग में आने वाली इमारतों का पहले वर्णन हो चुका है।

कृषि—कृषि के ज्ञान के लिए बीजों, भूमि के भेद और गुणों का परिचय आवश्यक था (६।३३०)। बीजों में मिलावट करने वालों के लिए दण्ड का विधान था (६।२६१), जिससे बीज-शुद्धि का विचार प्रमाणित होता है। वाप-युक्त क्षेत्र केदार कहलाते थे (६।३८)। निम्नलिखित फसलें बोई जाती थी—कपास, जौ, गेहूँ, चावल, मूंग, तिल, उड़द, गन्ना और साक (६।३६)। वसन्त और शरद् में दो फसलें होती थी (६।११)।

खेती के उपकरणों या औजारों में लोहे की फाली लगा हुआ लकड़ी का हल, (१०।८४), बैलों का जुआ और कुओं से पानी उठाने के लिए वरत और चरस (वरत्रा-उदञ्चन, ६।१२) की गिनती थी।

कृषि शूद्र जाति के मजदूर ठहराव के अनुसार करते थे, जैसे जोतने वाले को उपज का आधा भाग देने की शर्त या अधबटाई पर आधिक, (४।२५३)। बीज डालना भी उसी का काम था (६।५३)। भूमि की किस्म के अनुसार उपज का चौथा, आठवां या बारहवां भाग राज्य का होता था। राजा का कर्तव्य था कि दण्ड का भय दिखाकर लोगों को ठीक प्रकार से कृषि करने पर बाध्य करे (८।२८३)।

ग्राम्य पशुओं में गाय, भैंस, भेड, बकरों की गणना थी, जिन्हें पेशेवर ग्वाले (पशुपाला) जंगल में चराते थे और वे ही जंगली जानवरों और चोरों से उनकी रक्षा के लिए उत्तरदायी थे (८।२३२-२३५)।

गोपालन, दुग्धोत्पत्ति, दूध का बेचना और घी बनाना भी ज्ञात था (४।२५३, क्षीरभृत्, ८।२३१)। भेड और ऊन (ऊर्ण) की बिक्री का भी उल्लेख है (३।१६६)।

शिल्प—शिल्पी, कारुक (१०।१००) और यन्त्र-प्रवर्तक (११।६४) लोग भी थे जो सामाजिक प्रतिष्ठा में शूद्रों से अच्छे माने जाते थे (१०।६६)। प्रत्येक शिल्पी के लिए मास में एक दिन का श्रम या कमाई राजा को देना आवश्यक था (७।७५, १३८)।

शिल्प और धन्धो मे निम्न का उल्लेख है—सुनार (हेमकार, ९।२९२), जिनकी सच्चाई का स्तर श्लाघनीय न था (वही), लुहार (कर्मार,४।२१५)जो भट्ठी मे लोहे की सलाखे गरम करते थे (दीप्तशूल, ३।१३३) और हल(सीता), फड़वे(११।१३३),भाले(ऋष्टि), शक्ति(८।३१५) और लोहे का डण्डा(आयस दण्ड,८।३१५),शस्त्रास्त्र(९।२९३, १०।७९), लम्बी कीले (शकु,८।२७१),लोहे की घण्टियाँ (३।१३३), लोहे की पोली मूर्तियाँ (सूर्मि, ११।१०३), और लोहे का पलग (आयस-शयन, ८।३७२) आदि वस्तुएँ बनाते थे, रगरेज (४।२१६), धोबी (वही), जो रीठे से ऊनी कम्बल, क्षार से रेशमी और ऊनी वस्त्र, और गौर सर्षप से छाल्टीन के वस्त्र (८।३९६) धोते थे, तेली (३।१५८)जो कोल्हू (चक्र ४।८५) चलाते थे, दर्जी (तुन्नवाय, ४।२१४), बुनकर (तन्तुवाय, ८।३९७), जो कपास ओटकर बिनौले (कार्पासास्थि, ४।७८) भी अलग कर लेते थे और तब सूत कातकर (सूत्र-तन्तु) सूती, रेशमी, छाल्टीन के और ऊनी वस्त्र एव निर्यात के लिए महीन वस्त्र (८।३९७) भी बनाते थे, और १० पल सूत से ११ पल तैयार वस्त्र लौटाते थे(८।३२७), कुम्हार(८।३२७), बेंत और बाँस का काम करने वाले (वही), धनुष-बाण बनाने वाले(३।१६०), ईट पाथने और पकाने वाले(८।२५०), चमडे का काम करनेवाले(चर्मकार, १०।३६,४९), जो थैले (ज़ीन), जूते (उपानह) और चाबुक (शिफा, ८।३९९) आदि बनाते थे, और मद्य बनाने वाले (शौण्डिक)।

वाणिज्य—नगद लेन-देन और वस्तुओ की अदला-बदली (१०।९४), दोनो ही प्रथाएँ प्रचलित थी। राज्य व्यापारियो से परामर्श करके और आयात(आगम), निर्यात (निर्गम), भणसाल की अवधि (स्थान) और माल की माँग और उपलब्धि पर विचार करके वस्तुओ का मूल्य निर्धारित करता था (८।४०१)। व्यापारियो के सामूहिक सगठन (कुला =व्यवहर्तसमूहा, ८।२०१) का भी उल्लेख है जो क्रय-विक्रय और उसके व्यवहारो का नियमन करते थे। मिलावट के लिए कानून की ओर से दण्ड मिलता था (८।२०३) और नापतोल मे छल (तुलाकूट, मानकूट) के लिए भी दण्ड की व्यवस्था थी (९।२८६-७)।

व्यापार-मार्ग वन-कान्तार, जलीय प्रदेश और जगलो मे होते हुए जाते थे (७।१८५)। माल मनुष्य, पशु और गाडियो पर ढोया जाता था (८।४०५)।

नदी का यातायात नावो से होता था, जिसका तरपण्य दूरी और स्थानीय दर के हिसाब से तय किया जाता था (८।४०६)।

समुद्री यातायात के लिए दर नियत न थी, क्योकि दूरी का ठीक हिसाब लगाना कठिन था (वही)।

नौ-प्रचार सम्बन्धी असावधानी के कारण जो क्षति होती थी, उसकी पूर्ति नौ

या प्रवहण के स्वामी को करनी पडती थी, किन्तु अपने अधिकार से बाहर की दुर्घटनाओ से होने वाली हानि के लिए वे उत्तरदायी न थे (८।४०८-९)। इस नियम मे बीमे का भी प्रवन्ध आ जाता है। ये नावाधिपति सांयात्रिक ढग से अर्थात् अपनी अपनी पूंजी के अनुसार हानि-लाभ बाँटकर साझेदारी का व्यापार करते थे (८।४०८)।

निर्यात वाणिज्य का नियमन राज्य की ओर से होता था। जिस माल मे राजा का एकाधिकार था, या जिसका निर्गम प्रतिपिद्ध था, उसका निर्यात करने वाले व्यापारी की सम्पत्ति जब्त कर ली जाती थी (८।३९९)। उदाहरण के लिए, प्राच्य देश मे हाथी, काश्मीर मे केसर, रेशम और ऊनी माल, पश्चिमी देशो मे घोडे, दक्षिण मे रत्न और मोती आदि, एव जो माल दूसरे देशो मे कम होता था, उस सब का निर्यात सीमित कर दिया जाता था (मेघातिथि)। मेधातिथि ने अकाल के समय, जो मनु को भी विदित थे (८।२२), अन्न का निर्यात प्रतिपिद्ध कोटि मे माना है।

वाणिज्य शुल्क—वाणिज्य पर तट-कर, चुगी, पौन टोटी आदि कर लगते थे जो सब शुल्क कहे जाते थे। शुल्क के पीछे आधार यह था कि राज्य और व्यापार दोनो को लाभ का उचित अश मिलना चाहिए (७।१२८)। क्रय-विक्रय के भाव, माल लाने-ले जाने की दूरी (अध्वान), मुख्य और गौण मूल्य, एव मार्ग मे शका-स्थलो का विचार करके (७।१२७) शुल्काध्यक्ष व्यापारियो के परामर्श से शुल्क का निश्चय करते थे (८।३९८)। यह दर विक्रय-मूल्य का बीसवाँ भाग होती थी (वही)। वाणिज्य पथो पर शुल्क-शालाएँ बनाकर शुल्क ग्रहण करने की समुचित व्यवस्था की जाती थी और रात्रि के समय भी शौल्कशालिक अधिकारी नियुक्त रहते थे, जिन्हे अधिकार था कि प्रत्येक माल की सख्या, परिमाण, गुण आदि की जाँच-पडताल करें और उनके सम्बन्ध मे व्यापारियो के कथन की परीक्षा करें। इस विषय मे झूठे कथन पर दण्ड दिया जाता था। इसी प्रकार अनधिकृत मार्ग और समय से माल निकाल ले जाने पर भी दण्ड था (८।४००)। राज्य की ओर से नदियो पर उतराई के घाटो का भी प्रबन्ध रहता था, जहाँ बोझे के हिसाब से तरपण्य लगता था, किन्तु ब्रह्मचारी, प्रव्रजित, मुनि और गर्भिणी स्त्री उससे मुक्त रखे गए थे (८।४०७)।

व्यवहार और वृद्धि-प्रयोग—रुपया सूद पर देने की प्रथा थी (वृद्धि-प्रयोग, ९।३३३, १०।११५) जिसके लिए ऋण-पत्र (करण, ८।१५४) लिखने का रिवाज था, जिसे प्रतिवर्ष नया भरना पडता था (८।१५५)। अधमर्ण या ऋण लेने वालो को राज्य इन बातो से बचाता था—(१) सूद-दर सूद (चक्रवृद्धि), (२) धर्म्य दर से अधिक ब्याज, (३) मूल के बराबर ब्याज की वृद्धि (द्विगुणवृद्धि

या महावृद्धि), (४) व्याज भरने के स्थान पर दास्य-भाव की स्वीकृति, और (५) दबाव मे पडकर व्याज की मोटी दर मान लेना (८।१५३)। व्याज की साधारण दर १५ प्रतिशत थी (८।१४०)। टीकाकार के अनुसार बन्धक या लखरहित होने से असुरक्षित ऋण पर व्याज की ऊँची दर ली जाती थी (८।१४२)।

मुद्राएँ—मुद्राएँ सोने, चाँदी और ताँबे की होती थी (८।१३१)। सोने का सिक्का सुवर्ण था जिसकी तोल ८० कृष्णल (=१५० ग्रेन) के बराबर थी। चाँदी के सिक्के निम्नलिखित थे—

२ कृष्णल या रत्ती = १ रौप्यमाषक
१६ माषक = १ धरण
१० धरण = १ शतमान

ताँबे की मुद्रा कार्षापण थी=८० कृष्णल या रत्ती=१५० ग्रेन (८।१३५-३६)। प्राय. इसे केवल पण कहते थे। सबसे छोटी मुद्रा अष्टभाग पण (पण का आठवाँ भाग) थी। पण का आधा, चौथाई और आठवाँ भाग क्रमश अर्धपण, पादपण और अष्टभागपण कहलाता था (८।४०४)। भृतको को दैनिक भृति १ से ६ पण तक मिलती थी (७।१२६)।

सोने, चाँदी और ताँबे की मुद्राओ का आपेक्षिक मूल्य स्पष्ट नही ज्ञात होता। एक अवतरण मे (८।२८४) छह सुवर्ण के निष्क १०० (चाँदी के) पणो से मूल्य मे अधिक कहे गए हैं।

तुलामान शुद्धि की व्यवस्था के लिए विशेष अधिकारी नियुक्त किये जाते थे, जो हर छह महीने मे उनकी जाँच करते थे (८।४०३)।

खनिज-कर्म—निम्नलिखित धातुएँ उपयोग मे आती थी—सोना, चाँदी, ताँबा, काँसा, सीसा (सैसक, ११।१३३), राँगा (रैत्य, ५।११४), लोहा और टीन (त्रपु, ५।११४)। क्षार और अम्ल से धातुओ के मल का शोधन किया जाता था (५।११४)। खड पत्थरो से लोहे की उत्पत्ति का उल्लेख है (अश्मन-लोहमुत्थितम्, ९।३२१)। पत्थर की शिलाएँ भी काम मे आती थी (उपल ११।१६७)। हीरे आदि रत्न (अश्ममय रत्न) खानो से निकाले जाते थे (८।१००)। खनिज कर्म पर राज्य का स्वत्व था (११।६४) और राज्य-लाभ का आधा अश ले लेता था (८।३३)। इसे सचित करने वाले विशेष अधिकारी अर्थ-समाहर्ता थे (७।६०)।

दूसरे धर्मशास्त्र—ये मनु की अपेक्षा गौण हैं और थोडे मे उनका परिजय दिया जा सकता है।

विष्णुःस्मृति—विष्णु-स्मृति की कुछ सामग्री गौतम और आपस्तम्ब धर्म-सूत्रो के सदृश प्राचीन है (जैसे राजधर्म और दण्ड-सम्बन्धी प्रकरण), किन्तु उसका

अधिकाश भाग मनुस्मृति पर आधारित है। लगभग १६० श्लोक मनु से लिये गए है और अनेक सूत्र मनु के श्लोको के केवल गद्य-रूप है। अपने वर्तमान रूप मे यह याज्ञवल्क्य स्मृति से भी बाद की है, जिसकी कुछ सामग्री इसमे ली गई है।

उसका भूगोल—उसका भौगोलिक विस्तार भी सूचित करता है कि वह मनु के बाद की है। उसमे आर्यावर्त की परिभाषा का आधार सास्कृतिक है अर्थात् आर्य जीवन-प्रणाली बिताने वाले चार वर्णो का प्रदेश (८४।४), और इसके तीर्थ-स्थान सारे भारत मे कल्पित किये गए हैं। इस प्रकार आर्यवर्त या आर्याधिकृत भारतवर्ष की सीमाओ का विस्तार हो रहा था और म्लेच्छ पीछे हट रहे थे। अब आर्यावर्त केवल उतना प्रदेश न था जितने मे कृष्णमृग विचरता है, जैसा मनु के समय मे था। इसमे दक्षिण की पाँच नदियो (दक्षिणे पचनदे, ८५।५१) और श्रीपर्वत, सप्तार्श (=सतारा ?) एव गोदावरी का उल्लेख है।

उल्लिखित ग्रन्थ—इसमे चार वैदिक सहिता, ऐतरेय ब्राह्मण (१५।४५), वेदाग (३०।३, आदि), व्याकरण (८३।७), इतिहास (३।७०, आदि), पुराण (वही), और धर्मशास्त्रो (वही) का नामोल्लेख है।

रोचक सामग्री—उसकी कुछ अन्य रोचक बातें इस प्रकार है—सप्ताह के सात दिन और बृहस्पतिवार के लिए जैव शब्द का प्रयोग, सती-प्रथा (२५।१४), पुस्तको का उल्लेख (१८।४४, २३।५६), पीतवस्त्र पहने हुए भिक्षु (सम्भवत बौद्ध) और कापालिक (६३।३६) एव शूद्र भिक्षु (५।११४), जिनका दर्शन अशुभ माना जाता था, वासुदेव-पूजा की विशेष विधि (अ० ४९), म्लेच्छ एव अन्त्यजो के साथ भाषण का प्रतिषेध (७१।५९) तथा म्लेच्छ देशो मे यात्रा का निषेध (८४।२)।

राजनीति—विष्णु का राजनीतिक तन्त्र मनु के समान है। इसमे भी दस और सौ गाँवो के अधिपतियो का उल्लेख है जो देशाध्यक्ष के अधीन होते थे (३।५)। देश की विजय करने वाले राजा को चाहिए कि वहाँ के धर्मों को अस्तव्यस्त न करे (तद्देश धर्मान् नोच्छिन्द्यात्) और प्राचीन राजवश के किसी कुमार को वहाँ के सिंहासन पर स्थापित करे (३।२९, ३०)।

एक उल्लेख मे वस्त्र (पट) या ताम्रपट्ट पर लिखे हुए एव राजकीय मुद्रा मे अकित राजा के दान का उल्लेख है (३।५८)।

मुद्राएँ—विष्णु की मुद्राएँ मनु की अपेक्षा अधिक विकसित है। उसमे इनका वर्णन है—

३ यव = १ कृष्णल
५ कृष्णल = १ माष
२२ माष = १ अक्षार्घ

१ अक्षार्ध+४ माष (=१६ माष)=१ सुवर्ण
४ सुवर्ण=१ निष्क
तोल मे दो कृष्णल=१ रौप्यमापक, और १६ कृष्णल=१ धरण।

याज्ञवल्क्य-स्मृति—ब्राह्मण और उपनिषदो मे याज्ञवल्क्य का नाम प्रसिद्ध है। वे शुक्ल यजुर्वेद के द्रष्टा हैं। उन्हे स्मृति के रचयिता नही माना जा सकता, क्योकि उनकी शैली और विषय इतने नये हैं, यद्यपि शुक्ल यजुर्वेद से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। मिताक्षरा के अनुसार, याज्ञवल्क्य के एक शिष्य ने इस धर्मशास्त्र को प्रश्नोत्तर-रूप मे सक्षिप्त किया।

मनु से तुलना—याज्ञवल्क्य का धर्मशास्त्र मनु की अपेक्षा अधिक सुव्यवस्थित और सक्षिप्त है। इसमे मनु के २७०० श्लोको की सामग्री एक सहस्र से कुछ ही अधिक श्लोको मे भर दी गई है और उसमे कुछ नये विषय भी आ गए है। ये इस प्रकार हैं—(१) विनायक-पूजा और ग्रहशान्ति (१।२७१-३०८), (२) पाँच प्रकार की दिव्य परीक्षाओ का विस्तृत वर्णन (२।९५-११३), जब कि मनु मे केवल दो का ही सामान्य उल्लेख हुआ है (८।११४), शरीर-रचना और चिकित्सा-सम्बन्धी बहुत-सी सामग्री (३।७५-१०८)। और भी कई बातो मे मनु और यज्ञावल्क्य मे भेद है, जो याज्ञवल्क्य के अधिक विकसित और नूतन परिस्थितियो मे बनने के सूचक है। इसके कुछ उदाहरण ये हैं—

मनु मे ब्राह्मण को शूद्र-कन्या के साथ विवाह की अनुमति है (३।१३) जिसका याज्ञवल्क्य ने घोर विरोध किया है (१।५९)। मनु मे नियोग की निन्दा की गई है(९।५९।६८), याज्ञवल्क्य मे नही (१।६८-९)। मनु ने स्पष्टत विधवा के उत्तराधिकार के विषय मे कुछ नही कहा, किन्तु याज्ञवल्क्य ने विधवा को समस्त उत्तराधिकारियो मे प्रथम स्थान दिया है और दाय के भाग पाने वालो का क्रमानुसार वर्गीकरण किया है। मनु द्यूत के विरोधी है(९।२२४-६), याज्ञवल्क्य ने उसे राज्य के नियन्त्रण मे रखकर राज्य की आय का साधन बताया है (२।२००३)। याज्ञवल्क्य कुछ अन्य विपयो के विवेचन मे भी अधिक व्यवस्थित और नूतन सामग्री देते हैं, जैसे (अ) दिव्य परीक्षा, (आ) न्यायालय मे साक्षी मे प्रस्तुत प्रमाण (मनु ने लेखगत प्रमाण को बिलकुल भुला दिया है, यद्यपि उसमे लेख-पत्रो का परिचय पाया जाता है,(८।५१-२),(इ)न्यायालय मे न्याय-सम्बन्धी पद्धति के नियम (मनु, ८।५३-६, याज्ञ० २।५-११ और १६-२१), और (ई) स्वत्व एव भुक्ति के सिद्धान्त और नियम (मनु, ९।४४,५४, याज्ञ० २।२४-९)।

कुछ उद्धरण—याज्ञवल्क्य मे काषाय वस्त्र पहनने वाले भिक्षुओ का दर्शन अशुभ कहा है (१।२७३) वहाँ उनका तात्पर्य बौद्ध भिक्षुओ से होना चाहिए, क्योकि अन्यत्र उसने स्वय मोक्षार्थी के लिए काषय-धारण का विधान किया है

(३।१५७)। वेदज्ञ ब्राह्मणो के लिए विहारो का भी उल्लेख किया है (२।१८५)।

परिज्ञात साहित्य—साहित्य के क्षेत्र मे याज्ञवल्क्य मे इन ग्रन्थो का उल्लेख है—चार वेद, छह वेदाग और पुराण, न्याय, मीमासा एव धर्मशास्त्र को मिला कर चौदह विद्याएँ, आरण्यक (१।१४५) और उपनिषद् (३।१८६), इतिहास, पुराण, वाकोवाक्य, और नाराशसी गाथा (१।४५)। पर अध्ययन के ये सब विषय उपनिषदो के समय मे भी थे। 'याज्ञवल्क्य-स्मृति' मे आन्वीक्षकी (दर्शन-शास्त्र), दण्डनीति (१।३११), सामान्य रूप से स्मृतियाँ (२।५ और १।१५४) एव सूत्रो और भाष्यो (३।१८६) का उल्लेख आता है। उसने इस मत का प्रतिपादन किया है कि जहाँ धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र का विरोध हो वहाँ धर्म-शास्त्र को बलवान मानना चाहिए (२।२१)।

सघीय सस्थाएँ—अन्त मे यद्यपि याज्ञवल्क्य राजतन्त्र और शासन के विषय मे चुप है, उसमे अनेक जन-सस्थाओ के नाम आए हैं, जो राष्ट्रीय हित के कितने ही विभिन्न क्षेत्रो मे जन-शासन का प्रतिनिधित्व करती थी। ग्राम-सस्था को समूह कहा गया है, जिसके अधिकारी कार्यचिन्तक कहे गए है, जो धर्मज्ञ, शुचि और अलुब्ध होते थे (२।१६१)। समूह के कार्य मे जो कुछ उपार्जित किया जाए, उसे यथावत् अर्पित कर देना चाहिए। जो ऐसा नही करता उससे उस धन का ग्यारह गुना दण्ड दिलवाना चाहिए (२।१६३)। सघ के लिए गण शब्द है। उसका विधान सविन् कहलाता था। उसका उल्लङ्घन करने वाले का सर्वस्व हरण करके उसे राष्ट्र से प्रवासित कर देना चाहिए (२।१६०)। ये स्वायत्त सस्थाए उत्तरोत्तर क्रम से इस प्रकार थी—कुल, जाति, श्रेणी, गण और जनपद। इनमे से हरेक अपने लिए नियम बनाता था और राजा भी उनके धर्मो का सम्मान और स्थापना करके उनमे उनका प्रतिपालन कराता था (१।३६१)। कुल और श्रेणी न्याय-सभा का कार्य भी करती थी, जिनमे कुल श्रेणी की अपेक्षा छोटा था और इन दोनो से उच्च न्याय-सभा पूग की थी। श्रेणी भिन्न-भिन्न जातियो के व्यक्तियो की सभा थी, जो एक पेशा या धन्धा करते थे, किन्तु पूग एक स्थान की सब जातियो और धन्धो का प्रतिनिधि होता था, अतएव उसका अधिकार सर्वोपरि था (२।३०)। नीचे की सस्था से ऊपर व्यवहार-विधि या न्याय की अपील की जाती थी।

नारद-स्मृति—मनु और याज्ञवल्क्य के साथ तुलना—धर्म के १८ व्यवहारो के नाम व क्रम मे नारद मनुस्मृति के अनुसार है। दोनो मे ५० श्लोक समान हैं और कितने ही श्लोको की सामग्री एक-जैसी है। किन्तु नारद मे कई नई बातें है जो मनु और याज्ञवल्क्य से उनका भेद सूचित करती है। उदाहरण के लिए,

उसमे मनु की दो दिव्य परीक्षाओ के स्थान पर (८।११४) पाँच दिव्यो के नाम और वर्णन है, जिसमे उसने दो नाम ऐसे दिए हैं (ऋणदान अध्याय, श्लोक २५९-३४८) जो याज्ञवल्क्य मे नही है। मनु के विपरीत उसमे नियोग (विवाह-सम्बन्ध, ८०-८८) और स्त्रियो के पुनर्विवाह (वही, ९७) की आज्ञा है। मनु मे सात प्रकार के दास हैं, नारद मे पन्द्रह प्रकार के है। याज्ञवल्क्य की भांति उसने राजकीय नियन्त्रण मे द्यूत की अनुमति दी है, उसे आय का एक साधन माना है और मनु की तरह उसका निषेध नही किया। वस्तुत मनु की अपेक्षा नारद मे क्रमबद्धता और विभागोपविभाग अधिक हैं, जैसे दान-सम्बन्धी नियमो के उसमे ३२ प्रकार है, १८ व्यवहार-पदो को १३२ मे बाँटा गया है। यह याज्ञवल्क्य के बाद की स्मृति है, जैसा कि उसकी न्यायालय की पद्धति से जो अधिक क्रम-बद्ध और विस्तृत है, या अधिक-सख्यक परिभाषाओ से, या नई सामग्री, जैसे सात प्रकार की दिव्य परीक्षाओ से ज्ञात होता है। कुछ बातो मे यह याज्ञवल्क्य से अधिक पुराणपन्थी है। याज्ञवल्क्य से भेद रखते हुए नारद पति के बाद उनकी सम्पत्ति पर विधवा का उत्तराधिकार नही मानते, और न याज्ञवल्क्य की तरह गोत्रज और बन्धुओ के उत्तराधिकार के सम्बन्ध मे ही कोई नियम देते हैं।

कुछ नई बातें—नारद मे व्यवहार-धर्म और नीति के सिद्धान्तो के विषय मे कुछ नई बातें हैं। उदाहरण के लिए, प्रत्येक व्यक्ति का घर उसका दुर्ग है (ऋणदान, ३२), अथवा राजा कितना भी विगुण या गुणरहित हो प्रजा द्वारा ऐसा ही पूज्य है जैसे पत्नी से पति (प्रकीर्णक, २०-२)।

मुद्राएँ—नारद मे दीनार का नाम दो बार आया है, एक बार स्वर्ण के आभूषण के रूप मे और दूसरा सिक्के के लिए, जिसे सुवर्ण भी कहा है। इससे उसका समय निश्चित कर लेने मे सहायता मिलती है। स्वर्ण-दीनार पहले-पहल रोम मे २०७ ई० पू० मे बनाये गए और रोम-देशीय डिनेरियस सिक्के के बरा-बर तोल की मुद्राएँ भारत मे सर्वप्रथम कुषाण राजाओ ने बनाई जिन्होने प्रथम शती ईसवी से राज्य किया। इससे नारद का काल १०० और ३०० ई० के बीच मे पडता है।

नारद का स्थान—नारद का स्थान निश्चित करना कठिन है। एक स्थान मे उसने कहा है कि चाँदी का कार्षापण दक्षिण मे चालू था और आन्ध्र देश मे वह २० पण के बरावर था। पञ्चनद प्रदेश मे चालू कार्षापण को वे प्रमाण नही मानते (प्रकीर्णक ११६-११७)।[1]

---

१ डॉ मुकर्जी ने जो लिखा है कि नारद के अनुसार पूर्व मे कार्षापण २० पण का था उसका मूल श्लोक से समर्थन नही होता और इस बात का भी कि

कामसीखतर—कामसीखनेवाले शिल्पियो और साझे-सम्बन्धी नियमो के लिए हम नारद के अनुगृहीत है। नवशिक्षित शिल्पी को चाहिए कि पहले अपने पिता या अभिभावक की अनुमति प्राप्त करे और आचार्य शिल्पी के पास प्रविष्ट होने से पहले शिक्षा-काल की अवधि भी निश्चित कर ले। उसके लिए अपने शिल्पी-गुरु के साथ रहना आवश्यक है। उसका घर—गुरु का घर—ही उसकी कर्म-शाला थी। गुरु उसके साथ पुत्रवत् व्यवहार करे और स्वगृह मे भोजन देकर शिक्षित करे, उससे और कुछ काम न कराए और न उसके श्रम से अनुचित आर्थिक लाभ उठाए। यदि शिष्य शिक्षा पूरी भी कर चुके तो भी निश्चित काल से पहले वह आचार्य को न छोडे। आचार्य के पास रहते हुए जो काम वह करे उसका आर्थिक फल आचार्य को ही प्राप्त हो। जो शिक्षा देते हुए दोषरहित आचार्य को छोडता है, वह वध (शारीरिक दण्ड) और बन्ध के योग्य है। गृहीतशिल्पी होने पर आचार्य को यथाशक्ति पुरस्कृत करना उसका कर्तव्य था, अथवा पूर्व-समझौते के अनुसार वह आचार्य के यहाँ वैतनिक कार्य करना भी स्वीकार कर लेता था (५।१६-२१)। शिल्प की यही शिक्षा थी, जिसकी सफलता ने भारतवर्ष को उद्योग-धन्धो के क्षेत्र मे सर्वोच्च स्थान प्रदान किया और प्लिनी से लेकर टेवरनियर तक कितनी ही शताब्दियो तक देश के समृद्ध निर्यात वाणिज्य को पुष्ट किया।

साझा—सम्भूय समुत्थान—शिल्प और वाणिज्य साझेदारी के आधार पर किया जाता था जिसे सम्भूय समुत्थान कहा गया है। धन के लिए मिलकर कर्म करने वाले व्यापारी अपने-अपने अंश के अनुसार व्यय, वृद्धि और हानि मे भागीदार होते थे। व्यक्तिगत कर्म के लिए प्रत्येक व्यक्ति स्वय उत्तरदायी था और उससे होने वाले लाभ का फल भी स्वय भोग सकता था (३।१-६)।

सामूहिक सस्थाएँ—नारद ने कुछ स्वायत्त सस्थाओ का भी उल्लेख किया है जैसे कुल, श्रेणी, गण (१।७), पूग, व्रात और पाषण्डो का समूह, तथा नैगम व्यापारियो का समुदाय (१०।२)। इनमे से प्रत्येक सस्था उस स्थिति या विधान के अनुसार चलती थी जिसकी पारिभाषिक सज्ञा समय थी।[1] समय का पालन सदस्यो के लिए आवश्यक था और राजा भी उसकी सुरक्षा कराते थे। 'व्यवहार मयूख' के अनुसार व्रात शब्द सगे-सम्बन्धियो के समूह या कुल के लिए था। विभिन्न जाति और पेशे वाले लोगो का समूह पूग कहलाता था और गण इन सब समूहो के सघ का नाम था। इस प्रकार गण इस क्रम मे सबसे बडी सस्था थी और गाँव

नारद पचनद के कार्षापण को प्रमाण नहीं मानता। नारद के मूल श्लोक का अभिप्राय तो इससे उलटा है।—अनुवादक

१. पाषण्ड नैगमादीना स्थिति समय उच्यते (१०।१)।

का सारा सघ उसके अन्तर्गत था। कुल श्रेणी और गण अपने सदस्यो के लिए न्यायालय का काम भी करते थे। किन्तु वे राजसभा के अधीन थे और उन सबके ऊपर स्वय राजा अन्तिम न्यायकर्त्ता के स्थान पर था (११७)। इस प्रकार सामूहिक जीवन के इन विभिन्न क्षेत्रो मे गाँव के लोगो के लिए शासन का बहुत बडा क्षेत्र खुला था।

का सारा सघ उसके अन्तर्गत था। कुल श्रेणी और गण अपने सदस्यो के लिए न्यायालय का काम भी करते थे। किन्तु वे राजसभा के अधीन थे और उन सबके

: ७ :

उत्तरी भारत की दशा

(समय लगभग ६५०---३२५ ई० पू०)

राजनीतिक इतिहास---अब तक हमारे सामने भारतीय सस्कृति और सभ्यता का एक चित्र वैदिक साहित्य, सहिता, ब्राह्मण और उपनिषदो के आधार पर अपने आरम्भिक समय से लेकर उस पूर्ण विकास और अन्तिम रूप-निर्माण की अवस्था तक आ चुका है, जो रामायण, महाभारत, सूत्र और स्मृतियो से उसे प्राप्त हुआ। अब हम सास्कृतिक इतिहास से पृथक् राजनीतिक इतिहास के सूत्रो को जोडना चाहते है। राजनीतिक इतिहास का मुख्य आधार तिथिक्रम का ढाँचा है। भारत के सास्कृतिक इतिहास का प्रारम्भ, जैसा ऊपर दिखाया गया है, सुदूर-प्राचीन काल मे हुआ, किन्तु उसके राजनीतिक इतिहास का आरम्भ ६५० ई० पूर्व से पहले दृष्टि मे नही आता। पुनश्च, राजनीतिक इतिहास के सूत्र बिखरे हुए है और एकीभूत राष्ट्रीय इतिहास के पट के रूप मे हम उन्हे बुना हुआ नही पाते। उत्तरी भारत के लिए भी बहुत काल बाद तक वह स्थिति प्राप्त नही हुई थी।

विभिन्न युगो मे विभिन्न राज्य---हम देख चुके हैं कि वैदिक साहित्य के युगो मे देश-भर मे फैले हुए आर्य-सभ्यता के प्रतिनिधि नौ राज्य थे, जिनके नाम ये है---(१) गधार, सिन्धु के दोनो ओर विस्तृत, जिसकी दो राजधानियाँ पूर्व मे तक्षशिला और पश्चिम मे पुष्पकलावती नामक नगरो मे थी, जिनका बाद मे रामायण मे उल्लेख हुआ है (८।११४--११)। छान्दोग्य उपनिषद् (६।१४) के अनुसार उसके विचारक उद्दालक-आरुणि गधार से परिचित थे, और जातक सख्या ४८७ एव ३७७ के अनुसार आरुणि पिता-पुत्र दोनो तक्षशिला के विद्यार्थी थे, (२) कैकय, जहाँ के दार्शनिक राजा अश्वपति विख्यात थे, (३) मद्र, जहाँ के आचार्य पतञ्जल काप्य प्रसिद्ध थे, (४) वश-उशीनर, मध्य-देश का उत्तरी भाग, जिसके आगे गोपथ ब्राह्मण (२।९) के अनुसार उदीच्य देश था, (५) मत्स्य, जो

उपनिषदो के अनुसार विद्या का प्रसिद्ध स्थान था (बृहदारण्यक, उपनिषद् २।१), (६) कुरु, (७) पञ्चाल, (८) काशी, जहाँ के दार्शनिक राजा अजातशत्रु विख्यात थे, (९) कोशल। इन जनपदो से परे, जो तत्कालीन आर्य-देश के भाग थे, मगध और अग आदि अन्य जनपद भी थे जिनमे ब्राह्मण-धर्म का प्रसार पूरी तरह न हुआ था, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। इसी के बाहर कुछ अनार्य लोगो के जनपद भी थे, जैसे अन्ध्र, पुलिन्द, मूतिव, शवर, पुण्ड्र और नैषध, जिनके नाम 'ऐतरेय ब्राह्मण के ऊपर लिखे हुए प्रमाण मे दिये हुए हैं और जो दक्षिणापथ के अग थे। (तुलना कीजिए ऋग्वेद का दक्षिणापथ, १०।६१।८)।

भारतीय जनपदो के विकास की दूसरी कडी पाणिनीय व्याकरण (लगभग ७०० ई० पू०) मे मिलती है, जिसमे पूर्वनिर्देशानुसार २२ जनपदो के नाम हैं, जिनमे कई नये भी है, जैसे सिन्धु, कच्छ, अश्मक, सुवास्तु, कम्बोज, अवन्ति, शाल्व, भरत, यौधेय, वृजि, कलिंग एव प्राच्य जनपद कहलाने वाले राज्य।

बौधायन के धर्मसूत्र (लगभग ६०० ई० पू०) ने इन जनपदो को आर्यों के लिए प्रतिषिद्ध कहा है, जैसे सौवीर (आधुनिक सिन्ध), आरट्ट (पजाब), सुराष्ट्र, अवन्ति मगध, अग (पश्चिमी बगाल), पुण्ड्र (उत्तरी बगाल) और वग (पूर्वी बगाल)।

पूर्वकालीन बौद्ध युग के उपलब्ध साहित्य मे बौद्ध युग से भी पहले की परम्पराएँ सन्निविष्ट हैं और उसके अनुसार भारत का राजनीतिक मानचित्र और भी भरा-पूरा मिलता है। 'अगुत्तर निकाय' (१।२१३, ४।२५२, २५६, २६०) जैसे प्राचीनतम पाली-ग्रन्थो मे कई जगह सोलह जनपदो की सूची मिलती है। सस्कृत-ग्रन्थ 'महा-वस्तु' मे भी इसे आशिक रूप मे दुहराया गया है। सोलह महाजनपद इस प्रकार थे—(१) अग, (२) मगध, (३) कासी, (४) कोसल, (५) वज्जि, (६) मल्ल, (७) चेटि (चेदि), (८) वस (वत्स), (९) कुरु, (१०) पचाल, (११) मच्छ (मत्स्य), (१२) सूरसेन, (१३) अस्सक (अश्मक), (१४) अवन्ति, (१५) गधार, (१६) कम्बोज।[1]

इनमे पहले बारह का उल्लेख 'जनवसभ सुत्त' मे आता है (दीघ निकाय २।२०० आदि)। 'दीर्घ निकाय' मे अन्यत्र (२।२३५), जिसका उद्धरण 'महा-वस्तु' मे भी है (३।२०८, २०९)। सात जनपदो और उनके मुख्य नगरो का उल्लेख इस प्रकार है—

१—कलिंग, राजधानी दतपुर

२—अस्सक, राजधानी पोतन

---

१ सख्या १५ और १६ के स्थान मे 'महावस्तु' मे शिवि और दशार्ण का नाम है। 'अगुत्तर निकाय' (पाली टैक्स्ट सोसायटी) बस की जगह वग पाठ है।

३—अवन्ति, राजधानी माहिस्मति
४—सोवीर, मुख्य नगर रोरुक
५—विदेह, राजधानी मिथिला
६—अग, राजधानी चम्पा
७—कासी, राजधानी वाराणसी

वाद के ग्रन्थ 'महानिद्देस' मे (लगभग २५३ ई० पू०) दक्षिण-पूर्वी भारत के सागर और कलिग का, एव गाधार की जगह योन का उल्लेख पाया जाता है।

जैन-ग्रन्थ 'भगवती' मे सोलह जनपदो के नाम ये हैं—अग, वग, मगह, मलय, मालव, अच्छ, वच्छ (वत्स), कोच्छ, पाट (पुण्ड्र), लाढ (राढ), वज्जि, मोलि (मल्ल), कासी, कोसल, अवाह और सभुत्तर। इस विस्तृत भौगोलिक पृष्ठभूमि से ज्ञात होता है कि यह जैन-ग्रन्थ बौद्ध-ग्रन्थ के वाद बना है (हर्नले, उवासगदसाओ, २, परिशिष्ट)। इसी प्रकार, 'उत्तराध्ययन सूत्र' (अध्याय १८) मे इन जनपदो के नाम है—दशार्ण, कलिग, पचाल, विदेह, गाधार, सौवीर, काशी, और 'सूत्र-कृताग' (२।२) मे इनके अतिरिक्त द्रविड और गौड का भी नाम है। आर्य-भाषा न समझने वाले म्लेच्छो का भी उल्लेख है। (वही १।१-२।१५-१६)

देशो की सूची के अतिरिक्त बुद्ध के काल मे प्रसिद्ध नगरो की सूची भी मिलती है, जैसे चम्पा, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत, कौशाम्बी और काशी (दीघ निकाय, २।१४६, १६९)।

ये जनपद बौद्ध-धर्म के उदय मे पूर्व विद्यमान थे, क्योकि बुद्ध के समय मे इनमे से दो स्वतन्त्र नही रहे थे, कासी को कोसल ने, अग को मगध ने पचा लिया था।

बुद्ध के काल मे पाली-ग्रन्थ चार बडे राज्यो का, कोशल, मगध, अवन्ति और वस और इनसे भी अधिक रोचक अनेक गणराज्यो का उल्लेख करते है।

बुद्ध के समय के चार बडे राज्य—कोसल—ग्रन्थो मे कासी और कोसल के झगडे का उल्लेख है। बुद्ध से पहले कासी अधिक वलशाली राज्य था (जातक, १।२६२ आदि, ३।११५ आदि, विनय, २।१३ आदि)। सबसे पहले कासी के राजा ब्रह्मदत्त ने सावत्थी (श्रावस्ती) के राजा दीघिति के राज्य-काल मे कोसल पर धावा किया और उसने अपने राज्य मे मिला दीघिति के पुत्र को लौटा दिया (विनयग्रन्थ, भाग २, २९३-३०५)। तव तत्कालीन कोसल के राजा वक, दब्बसेन और कस ने वदला लेने के लिए कासी पर आक्रमण किया (जातक १।२६२, २।४०३, ३।१३, १६८, २११, ५।११२)। अन्त मे कस ने कासी को जीत लिया। बुद्ध के समय मे कोसल का राजा पसेनदि (प्रसेनजित्) था। उसकी शिक्षा तक्षशिला मे लिच्छवि राजकुमार महालि और कुसिनारा के मल्ल राजकुमार के साथ हुई

थी (धम्मपद अट्ठकथा, १।३३७-८)। वह अपने दान के लिए प्रसिद्ध था। उसने दो ब्राह्मणो को उक्कट्ठ और सालवतिका नामक दो नगर प्रदान किए (दीघ, १। ८७, २२४)। उसके मन्त्री मृगधर्म (उवासगदसाओ, २, परिशिष्ट, पृ० ५६), श्री वड्ढ और दीघ कारायण थे (सयुत्त निकाय, २, पृ० १८८)। वह बुद्ध के भक्तो मे से था (सयुत्त निकाय, १।६८, १०२) और उसी आयु का था (भगवापि आसीतिको अहपि आसीतिको, 'बुद्ध ८० वर्ष के है, मैं भी ८० वर्ष का हू,' मज्झिम निकाय, २।१२४)।

प्रसेनजित् और बुद्ध के सम्बन्ध का साक्ष्य भरहुत शिल्प के एक शिलापट्ट पर अकित मिला है। इस पट्ट पर दो लेख हैं—(१) राजा प्रसेनजित् कोसलो, और (२) भगवतो धम-चकम। इससे ज्ञात होता है कि प्रसेनजित् बुद्ध का भक्त था, जिसका अकन धर्मचक्र के रूप मे किया गया है। मूर्ति मे राजा अपने प्रासाद के द्वार से बाहर चार घोडो के रथ मे बैठकर निकल रहे है और उनके साथ हाथी, घोडे और पैदलो का जुलूस है। मूर्ति के ऊपर के भाग मे एक दुतल्ला घर है। भूमितल पर खम्भो वाला खुला मण्डप है जिसके मध्य मे दो उपासको के बीच मे धर्मचक्र रखा हुआ है। ऊपर के तल्ले मे स्पष्ट ही पुण्यशाला है, जहाँ सम्राट् ने बुद्ध से अन्तिम बार भेंट की थी।

उस समय कोसल के तीन मुख्य नगर—अयोज्झा, साकेत और सावत्थी—और कई छोटे पुर थे, जैसे सेतव्या (पायासि सुत्तन्त) और उकट्ठ (अबट्ठसुत्त)। प्रसेनजित् के अधीन पाँच राजा थे जिनका अन्तर्भाव कोसल मे हो चुका था। उसमे और मगध के राजा अजातसत्तु (अजातशत्रु) मे युद्ध हुआ करता था। अन्त मे पसेनदि पकडा गया और उसकी पुत्री वाजिरा से अजातसत्तु ने विवाह कर लिया। उन दोनो का झगडा इस बात पर शुरू हुआ कि काशी के पास के एक गाँव को, जिसे पसेनदि ने बिम्बिसार के साथ अपनी बहन के ब्याह मे अभिषेक-मूल्य के रूप मे दिया था, फिर वापस कर लिया। वापस ले लेने का कारण यह था कि अजातसत्तु द्वारा बिंबिसार के वध कर दिए जाने पर वाजिरा ने शोक से प्राण त्याग दिए। बस इसी पर अजातसत्तु ने लडाई ठान दी (सयुत्त, १।६८ आदि, जातक, २।४०३)। जब पसेनदि अपनी वृद्धावस्था मे साकिय जनपद के मेदलुप ग्राम मे बुद्ध से मिलने के लिए गया हुआ था (सयुत्त, २।८६, पृ० ११८) उसके मन्त्री दीघ कारायण ने विद्रोह कर दिया और उसके लडके विडूडभ (विरुद्धभ) को गद्दी पर बिठाया। पसेनदि शरण-याचना के लिए अपने जामाता अजातसत्तु के पास राजगृह गया, पर नगर-द्वार के बाहर ही उसकी मृत्यु हो गई।[1]

---

१. प्रसेनजित् की मृत्यु की पूरी कथा 'धम्मपद अट्ठकथा' (४।३) मे मिलती है।

विडूडभ ने शाक्य जनपद मे अनेक निर्दोष व्यक्तियो का वध कराकर अपने को कलंकित किया। कारण यह था कि उसके पिता ने शाक्यो से एक असली क्षत्रिय कन्या विवाहार्थ माँगी थी, पर शाक्यो ने धोखा करके वसभ खत्तिया नाम की एक दासी-पुत्री को भेज दिया जो विडूडभ की माता हुई। इसी का बदला लेने के लिए उसने ऐसा किया। विडूडभ ने सावत्थी मे अचिरवती नदी के किनारे शाक्यो को युद्ध में हराया, किन्तु नदी मे बाढ आ गई और सारी सेना समेत उसे बहा ले गई (धम्मपद अट्ठकथा, १।३५६)।

कोसल मे यह असुरक्षित समय था। विनय (१।२२०) मे उल्लेख है कि साकेत और सावत्थी के बीच का मार्ग बटमारो से भरा हुआ था।

अन्त मे कोसल मगध मे मिला लिया गया।

अवन्ती—यह पुराना जनपद था। बुद्ध के समय मे उसका राजा पज्जोत (प्रद्योत) था, जिसने कोसाम्बी के राजा उदेन (उदयन) और मधुरा (मथुरा) के सूरसेनो के राजा अवन्तिपुत्त के साथ वैवाहिक सम्बन्ध किए थे। राजगृह पर उसकी चढाई के विचार को जानकर अजातसत्तु भी डर गया था (मज्झिम निकाय, ३।७)। यद्यपि निष्ठुरता के कारण उसका विरुद चण्ड प्रसिद्ध था, तथापि पीछे चलकर अपने पुरोहित महाकच्छायन के प्रभाव से वह बौद्ध-धर्म से प्रभावित हो गया और बुद्ध को लाने के लिए उसने महाकच्छायन से इच्छा प्रकट की। महाकच्छायन ने बुद्ध के पास जाकर कहा, "भगवन्, राजा पज्जोत आपके चरणो की वन्दना करके धम्म सुनना चाहते हैं।" बुद्ध ने राजा को धम्मदेसना करने के लिए सात उपदेशको के साथ विदा किया और तब पज्जोत बौद्ध बन गया (थेरीगाथा अट्ठकथा)।

तब अवन्ती बौद्ध-धर्म का प्रसिद्ध केन्द्र बन गई। अभयकुमार, इसिदासी, इसिदत्त, धम्मपाल, सोना और महाकच्चान जैसे उत्साही बुद्ध-भक्तो का वह

राजा ने कुसिनारा के मल्ल बन्धुल को पहले अपना सेनापति, फिर न्यायपति बनाया। बन्धुल की सर्वजनप्रियता के कारण दूसरे अधिकारियो ने उसके विरुद्ध षड्यन्त्र करके राजा को भी साथ मिला लिया और उसने सीमान्त मे, जहाँ बन्धुल को बनावटी विद्रोह का दमन करने के लिए भेजा गया था, उसे मरवा डाला। राजा को पीछे अपनी इस मूर्खता पर पश्चात्ताप हुआ और बन्धुल के स्थान पर उसके भतीजे दीर्घ कारायण (कौटिलीय अर्थशास्त्र ५।५ मे आचार्य रूप मे उल्लिखित) को नियुक्त किया। उसने भी, जब प्रसेनजित् अपना राजमुकुट और खड्ग उसे सौंपकर बुद्ध से मिलने गया, विडूडभ को गद्दी पर बिठाकर अपने पितृव्य का बदला लिया।

जन्म-स्थान था, जिनमे से अन्तिम दो को स्वय भगवान् बुद्ध ने चुना था (अवतरणो के लिए देखिए, कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, १।१८६)।

जिस भाषा मे ये आरम्भिक उपदेश के धर्मोपदेश करते थे वह अवन्ती की जनता की भाषा (पाणिनि के शब्दो मे लौकिक) थी, ब्राह्मणो की धार्मिक या छान्दस भाषा नही। बुद्ध की भी इच्छा थी कि उनका धर्म जनता के पास जनता की ही भाषा मे पहुँचाया जाए। इस प्रकार यद्यपि बौद्ध-धर्म मगध मे आरम्भ हुआ, पर अवन्ती मे आकर ही उसे बाह्य-रूप प्राप्त हुआ, जिसमे अब वह विदित है। उसकी मौलिक भाषा मागधी न थी, जैसा प्राय माना जाता है (वही, पृ० १८७)।

वस—इसकी राजधानी कोसाम्बी थी, जो वेदिसा (भिलसा) होकर जाने वाले महत्त्वपूर्ण वणिक्पथ द्वारा उज्जैनी (उज्जयिनी) से जुडी थी। बुद्ध के समय मे उसके शासक राजा उदेत (सयुत्त, ४।११०-११३) थे जो परतप के पुत्र थे। भास के 'स्वप्नवासवदत्ता' नाटक मे मगध के राजा दर्शक की बहन पद्मावती उदयन की रानी कही गई है। हर्षकृत 'प्रियदर्शिका' नाटिका मे अग के राजा दृढवर्मन् की पुत्री से उदेन (उदयन) के विवाह का उल्लेख है। उनकी दूसरी नाटिका 'रत्नावली' मे सागरिका के साथ उनके प्रेम का वर्णन है जो उनकी पत्नी वासवदत्ता की, जिसका उल्लेख 'धम्मपद अट्ठकथा' मे आया है, परिचारिका थी। इस अन्तिम ग्रथ के अनुसार उदेन की तीन पत्नियाँ थी—(१) वासुलदत्ता, जो अवन्ती-राजा पज्जोत की पुत्री थी। पज्जोत ने एक चातुर्यपूर्ण युक्ति से हाथी के आखेट मे उदेन को पकडवा लिया और उसे अपनी पुत्री को वीणा की शिक्षा देने के लिए नियुक्त किया। दोनो मे प्रेम हो गया और तब वे विवाह करने के लिए कोसाम्बी को भाग निकले। (२) सामावती, भद्दवतीय नामक अर्थपति की कन्या जो बुद्ध की भक्त हो गई थी और मागदिया द्वारा ईर्ष्यावश कराये हुए महल के एक अग्निकाण्ड मे जल मरी थी। (३) मागदिया, जिसके साथ बुद्ध ने विवाह का निषेध किया था। घोसिताराम के पिडोल भारद्वाजी भिक्षु के प्रभाव से उदेन बौद्ध-धर्म का समर्थक हो गया था (सयुत्त, ४।११०-१२)। कोसाम्बी मे चार बौद्ध सघाराम थे, जिनमे एक घोसिताराम और दूसरा पावारिया का आम्र-विहार था, जहाँ बुद्ध प्राय आकर ठहरते और वे उपदेश देते थे जो त्रिपिटक मे सुरक्षित है। 'कथा सरित्सागर' मे उसकी विजयो का वर्णन है और 'प्रियदर्शिका' मे उसकी कलिंग-विजय एव अपने श्वशुर दृढवर्मन् को अग के सिहासन पर पुन बैठाने का उल्लेख है। इस प्रकार अनुश्रुति के अनुसार वह महत्त्वपूर्ण राजनीतिक व्यक्ति ठहरता है जिसका प्रभाव विवाह-सम्बन्ध और देश-विजय के द्वारा अवन्ती से अग और कलिंग तक के विस्तृत भू-भाग पर छाया हुआ था। जातक सख्या ३५३ मे सुसुमारगिरि का भाग जनपद वस का अधीन राज्य कहा गया है।

मगध—बिम्बिसार—लगभग ६०३-५१५ ई०पू०; उनकी स्त्रियाँ और पुत्र— बुद्ध के समय मे मगध ने बिम्बिसार और उसके पुत्र अजातशत्रु के नेतृत्व मे सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर लिया। बिम्बिसार पन्द्रह वर्ष की आयु मे सिंहासन पर बैठा (महावंस, २।२६-३०)। उसने विवाह-सम्बन्ध जोडना आरम्भ किया, जिससे उसके राजनीतिक प्रभुत्व को बहुत बल मिला। उसकी एक रानी, जैसा कि ऊपर कहा है, कोसल के राजा प्रसेनजित् की बहन थी, जिसके विवाह मे एक लाख कार्षापण की आय वाला कासी जनपद का गाँव दहेज मे दिया गया था (जातक २।४०३)। दूसरी का नाम रानी चेल्लना था, जो वैशाली के लिच्छवि-प्रमुख चेटक की सात कन्याओ मे सबसे छोटी थी (जैकोबी, जैन-सूत्र, १।४१-४५, सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट)। 'अमितायुर्ध्यान सूत्र' मे उसकी एक अन्य रानी वैदेही वासवी का उल्लेख करते हुए लिखा है कि किस प्रकार वह अपने पति के लिए, अजातशत्रु द्वारा उसके कारागृह मे रखे जाने पर, भोजन ले जाया करती थी (सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, ४९।१६३, २५६)। उसकी पहचान चेल्लना से की जा सकती है, जिसके विषय मे ऐसी ही कथा प्रसिद्ध है, जैसा आगे कहा गया है। तीसरी पत्नी मद्र देश के राजा की कन्या खेमा थी (थेरीगाथा अट्ठकथा, १३९-१४३)।

उसके कई पुत्र थे, जो भिन्न-भिन्न रानियो से जन्म लेने से राजनीतिक स्वार्थों के टकराने के कारण, उसके लिए चिन्ता के विषय बन गए थे। जैन और बौद्ध-ग्रन्थो मे कभी-कभी इनके विषय मे मतभेद पाया जाता है। जैन-ग्रन्थो मे इन पुत्रो के नाम हैं—कुणिक (अजातशत्रु), हल्ल और वेहल्ल जो चेल्लना के पुत्र थे, अभय (श्रेणिक की पत्नी नन्दा का पुत्र), नन्दिसेन, मेघकुमार और अन्य कई (आवश्यक सूत्र, पृ० ६६७ आदि)। बौद्ध-अनुश्रुति मे अजातसत्तु को वैदेही-पुत्तो कहा है (सुमगल विलासिनी, १।१३६, टायलॉस, २।७८), किन्तु आगे चलकर उसे ही कोसल राजकुमारी का पुत्र कहा है। उसके दूसरे पुत्र विमल कोण्डञ्ञ (अम्बपाली का पुत्र) वेहल्ल और सीलव थे (थेरीगाथा, अंग्रेजी अनुवाद, पृ० ५५, २६६, और अट्ठकथा पृ० ५३६, थेरीगाथा, अनुवाद पृ० १२०)।

राजधानी— बिंबिसार की राजधानी गिरिव्रज थी जो महाभारत के अनुसार मगध के राजा जरासन्ध की राजधानी थी। वही वैहार, वराह, वृषभ, ऋषिगिरि और चैत्यक इन पाँच पहाडियो के नाम आए हैं जो चारो ओर से गिरिव्रज की रक्षा करती थी। प्रसिद्ध सत्तपण्णि की गुहा, वैहार पर्वत पर ही थी, जहाँ ५४३ ई० पू० मे प्रथम बौद्ध संगीति हुई। अजातशत्रु ने उसके अधिवेशन (धम्म-संगीति) मे बडी सहायता पहुँचाई और तत्काल गुफा-द्वार पर एक भव्य मण्डप मे सभापति और वक्ताओ के लिए दो मच बनवाए एव भिक्षुओ के लिए भूमि पर बैठने के लिए मूल्यवान् आस्तरण बिछवाए (महावंस, अध्याय ३)। पीछे

बिंबिसार ने अपनी राजधानी राजगृह मे बनाई, जिसे बुद्धघोष ने बिम्बिसारपुरी लिखा है (विमलाचरण लाहाकृत बुद्धघोष, पृ० ८७)। उसका नगरमापन करने वाला सूत्रधार और राजप्रासाद का स्थपति महागोविन्द था (विमानवत्थु अट्ठकथा, पृ० ८२)। राजगृह का द्वार सन्ध्या होने पर राजा समेत सबके लिए बन्द कर दिया जाता था (विनय, ४।११६ आदि)।

विजय और राज्य—जैन-ग्रन्थो के अनुसार कौशाम्बी के राजा शतानीक ने अग और उसकी राजधानी चम्पा की विजय की, किन्तु शीघ्र ही बिम्बिसार ने उसे जीत लिया और चम्पा को पट्टनगर बनाकर अपने पुत्र कुणिक को वहाँ का शासक नियुक्त किया ('चम्पाया कुणिको राजा, भगवती सूत्र, ३००)। एक पुराण मे उल्लेख है कि बिम्बिसार ने अग मे राज-ग्राह्य भाग दान मे दे डाला था (दीघ निकाय, १।१११)। एक जातक के अनुसार(स० ५४५)राजगृह कभी अग का नगर था। उसकी प्रधान पुरी चम्पा बौद्ध जगत् की छह महानगरियो मे थी, जैसा कहा जा चुका है। एक अन्य जातक (स० ५३९) मे चम्पा के नगर-द्वार, अट्टालिका और प्राकार का उल्लेख है और कहा है कि वहाँ के व्यापारी सुवण्ण-भूमि की समुद्र-यात्रा, करते थे। अग मे एक दूसरा स्थान आपण था (सयुत्त, ५।२२५), और तीसरा अस्सपुर था जहाँ बुद्ध ने उपदेश दिया था (मज्झिम-निकाय, १।२७१ आदि)। इस प्रकार अग जैसे समृद्ध जनपद की विजय बिम्बिसार के राज्य के लिए मूल्यवान् सिद्ध हुई।

अब उसके राज्य मे ८०,००० ग्राम थे, जिनका क्षेत्रफल ३०० योजन था, जिसे अजातशत्रु ने ५०० योजन तक बढाया (विनय, १।१७९, सुमगल, १।१४८)। ग्रन्थो मे कुछ महत्त्वपूर्ण गाँवो के नाम भी हैं, जैसे सेनानिगाम (मज्झिम, १।१६६), एकनाला, जहाँ भारद्वाज नामक ब्राह्मण का निवास था, जिसे बुद्ध ने अपना शिष्य बनाया (सयुत्त, १।१७२), खानुमत, अन्य ब्राह्मण गाँव (दीघ, १।१२७) अथवा नालकगाम, जहाँ सरिपुत्त ने उपदेश दिया था (सयुत्त, ४।२५१ आदि)। बिम्बिसार के राज्य मे कुछ सघ भी थे, जो अपने-अपने राजकुमार या नेता के अधीन थे (सुमगल, १।२७९-२९४)।

शासन—बिम्बिसार का शासन सुसगठित और सक्षम था। प्रधान अधिकारी महामात्र कहलाते थे, शासनकारिणी मुख्य सभा सब्बत्थक (समस्त अर्थों और कार्यों के लिए उत्तरदायी), न्यायाधिकारी वोहारिक और सेनाधिकारी सेनानायक कहलाता था। उसकी दण्ड-व्यवस्था कारागृह, अगच्छेद आदि के रूप मे बडी कठोर थी (विनय, ७।३, ५)। ८०,००० गाँवो के मुख्य ग्रामिक अपनी सभा मे एकत्र होते थे (विनय, वही)।

धर्म—जैन और बौद्ध दोनो ही उसे अपना अनुयायी कहते है। उत्तराध्ययन

सूत्र (२०।५८) मे कहा है कि किस प्रकार राजाओ मे चक्रवर्ती सिंह बिम्बिसार बडी भक्ति के साथ मण्डिकुक्षि चैत्य मे अपनी रानियो, परिवारको और सम्बन्धियो के साथ महावीर के, जो अणगार भिक्षुओ मे सिंह (अणगार सीह) थे, पास आये और धर्म मे दृढ रूप से आस्थावान हुए। जैन धर्म के प्रति उनका झुकाव उनकी लिच्छवि वंश की रानी चेल्लना के प्रभाव से ही ज्ञात होता है। हेमचन्द्र ने (त्रिषष्टि शलाका, १०६, १०।११) लिखा है कि "जब देश मे भीषण हिमपात हुआ, सम्राट् देवि चेल्लना को साथ लेकर महावीर की अभ्यर्हण के लिए गये।" बौद्ध-ग्रथो मे अपने ढग की कथाएँ है। पहले बिम्बिसार और गौतम की भेट का उल्लेख है। गौतम नाम से प्रकट होता है कि तब तक वह बुद्ध नही हुए थे। अभिनिष्क्रमण के ठीक बाद और सम्बोधि से सात वर्ष पहले की यह घटना है। बिम्बिसार उस समय गिरिव्रज मे था। (सुत्तनि-पात, श्लोक ४०८,, डायलॉग्स, २-२)। उनकी अगली भेट तब हुई जब बिम्बिसार अपनी नई राजधानी राजगृह मे जा चुका था। पहली ही भेट मे, गौतम के बुद्ध होने से प्रथम ही वह उनसे इतना प्रभावित हुआ था कि उसने उन्हे आवश्यक धन देकर उच्चपद पर प्रतिष्ठित करना चाहा। बुद्ध राजगृह मे अपने नये और अप्रत्याशित शिष्य-समुदाय अर्थात् विख्यात कस्सप और उनके एक सहस्र जटिल शिष्यो को, जो उन्हे अपना भगवान् मान चुके थे, साथ लेकर प्रविष्ट हुए। और तब सेनिय बिम्बिसार बहुत-से पुरवासी और ब्राह्मणो को लेकर उनसे मिला और उनसे उपदेश लेकर धर्म की शिक्षा ग्रहण की। अगले दिन बुद्ध और उनके शिष्यो को राजमहल मे निमन्त्रण मिला, जहाँ राजा ने उन्हे अपने हाथ से भोजन कराया और बुद्ध एव सघ के लिए वेलुवन नामक उद्यान प्रदान किया (विनय, १।३६)। उसकी रानी खेमा के लिए कहा जाता है कि उसने राजा पसेनदि को बौद्ध-धर्म की शिक्षा दी थी (सयुत्त, ४।३७४)। बौद्ध-धर्म के प्रति बिम्बिसार के अनुराग का एक प्रमाण यह है कि उसने अपने निजी चिकित्सक राजवैद्य जीवन को बुद्ध और सघ का चिकित्सक नियुक्त किया, अथवा एक बार गगा पार करते हुए जब बुद्ध के पास नाविक को देने के लिए पैसा न निकला, सम्राट् ने समस्त भिक्षुओ के लिए ही तरपण्य नि शुल्क कर दिया था (ललितविस्तर, ५।५२६)। जैन और बौद्ध-धर्म के अतिरिक्त ब्राह्मण-धर्म भी उसे अपना समर्थक मानता है (दीघ, १।१११, १२७)।

मृत्यु—विनय की बौद्ध-कथा के अनुसार देवदत्त के सिखाने से अजातशत्रु खड्ग लेकर अपने पिता का वध करने वाला ही था कि मन्त्रियो ने उसे पकड लिया, जिससे उसने अपना अपराध स्वीकार किया। मन्त्रियो ने राजा को सलाह दी कि समस्त षड्यन्त्रकारियो का वध करा दिया जाए, किन्तु बिम्बिसार ने अपने पुत्र को क्षमा कर दिया और उसे राज्य भी दे दिया, जिसके लिए वह इतना

उतावला हो रहा था (विनय, २।१०६)। पर फिर भी अजातशत्रु ने अपने पिता को मरवा ही डाला और बुद्ध से अपराध स्वीकार किया कि 'राज्य के लिए उसने अपने धर्मात्मा पिता के प्राण लिये।' देवदत्त ने उसे यह कहकर इस हत्या के लिए उकसाया कि जीवन थोडे दिनो का होता है, न जाने राज्य मिलने मे कितनी देर लगे, 'अतएव हे राजकुमार! पिता का वध करके राजा बनो' (विनय, २।१९०, दीघ १।८६, सुमगल, १।१३३-६, पेतवत्थु अट्ठकथा, १०५)। 'महावस' के अनुसार अजातशत्रु ने बुद्ध की मृत्यु से ८ वर्ष पूर्व अर्थात् ५५१ ई० पू० मे अपने पिता का वध किया जबकि वह ५२ वर्ष राज्य कर चुका था, अर्थात् उसका राज्य-काल ६०३ ई० पू० मे आरम्भ हुआ। जैन-ग्रन्थ अजातशत्रु के प्रति कुछ अधिक उदार है। उनमे कहा गया है कि यद्यपि श्रेणिक अपने अन्य पुत्रो की अपेक्षा कुणिक को अपना उत्तराधिकारी बनाने का सकल्प कर चुका था, किन्तु कुणिक ने अधीर और सदिग्ध होकर पिता को कारागृह मे डाल दिया, जहाँ उनकी माता चेल्लना अपने पति बिम्बिसार की देखभाल भक्तिपूर्वक करती थी, किन्तु शीघ्र ही जब अजातशत्रु को माता से यह ज्ञात हुआ कि उसके पिता का उसके प्रति कितना प्रेम था (यहाँ तक कि एक बार उसकी मवाद-भरी अँगुली को पिता ने उसकी पीडा कम करने के लिए अपने मुँह मे चूस लिया था) तो उसका मन बिलकुल परिवर्तित हो गया। "मैंने अपने पिता के साथ बडा दु खद व्यवहार किया है।" यह कहकर वह तुरन्त कारागृह मे गया और लोहे की गदा से उसकी शृख-लाओ को तोड डाला। किन्तु श्रेणिक ने, पुत्र के इस अकस्मात् अपनी ओर आने से भयभीत होकर विष खाकर प्राणान्त कर डाला (आवश्यक सूत्र, ६८२-३, आदि)। इस प्रकार जैन-कथाओ मे अजातशत्रु पितृहन्ता के रूप मे नही है।

अजातशत्रु, लगभग ५५१-५१६ ई० पू०, उसकी देश-विजय—अजातशत्रु के समय मे मगध को साम्राज्य-रूप मे उन्नत होने का बहुत वेग मिला। उसके द्वारा पिता का वध करने के कारण कोसलकुमारी रानी वैधव्य-शोक से जीवित न रह सकी (जातक, २।४०३), और कोसलराज प्रसेनजित् ने इसके बदले दहेज मे दिया हुआ काशी जनपद का गाँव वापस ले लिया। इससे मगध और कोसल मे युद्ध छिड गया। पहले तो अजातशत्रु का पलडा भारी रहा और उसने प्रसेनजित् को श्रावस्ती तक खदेड दिया। पर शीघ्र ही प्रसेनजित् तगडा पडा और उसने छापा मारकर सेना के साथ अजातशत्रु को बन्दी कर लिया और अधीनता स्वीकार करने पर विवश किया। अन्त मे दोनो मे सन्धि हो गई और प्रसेनजित् ने उसे स्वतन्त्र करके सेना, राज्य और वाजिरा नामक पुत्री भी विवाह मे दी (सयुत्त, १।८४-६, जातक, ४।३४२, धम्मपद अट्ठकथा, ३।२५६)। जैन-ग्रथो के अनुसार अजातशत्रु ने प्राच्य देशो के गुट को तोड़ डाला, जिसमे काशी,

कोसल और वहाँ के अठारह गणराज्य—नौ मल्लकि और नौ लिच्छिवि सम्मिलित थे ('वज्जी विदेहपुत्रे जइत्था, नव मल्लइ, नवलेच्छइ, कासी-कोसलगा अट्ठारसवी गणरायाणो पराजइत्था,, भगवती सूत्र, ३००)। इस शक्तिशाली गुट के विरुद्ध युद्ध का आरम्भ अजातशत्रु ने लिच्छिवि राजधानी वैशाली पर आक्रमण से किया। भिन्न ग्रन्थ इस सघर्ष का कारण भिन्न बताते है। सुमगल विलासिनी (विमलाचरन लाहा, बुद्धघोस, पृ० १११) के अनुसार गगा के एक पत्तन के पास पर्वत मे रत्नो की एक खान थी, जिसके विषय मे अजातशत्रु और लिच्छिवियो मे आधे-आधे रत्न बाँट लेने का समझौता था। लिच्छिवियो ने इस समझौते को तोडकर युद्ध का सूत्रपात किया। जैन-वर्णन के अनुसार (हर्नले, उवासगदसाओ, २, परिशिष्ट, पृ० ७) सघर्ष का कारण राजकीय हस्ती सेयणग (सेचनक) था जिसके गले मे मोतियो की अठारह लडी का कठा था। बिम्बिसार ने उसे अपने पुत्र वेहल्ल को दिया था, किन्तु जब राज्यापहारी अजातशत्रु ने उस पर अपने दाँत गडाए तो वेहल्ल हाथी और मोती लेकर रक्षा के लिए अपने नाना चेगड के यहाँ वैशाली भाग गया। "राजी से उस भगोडे को वापस लेने मे असफल होने पर कुणिक ने चेगड के साथ लडाई छेड दी।" (हर्नले, वही, 'न ददामि तदा युद्ध मज्जो भवामिति', आवश्यक सूत्र, पृष्ठ ६८४)। यह भी कहा जाता है कि अजातशत्रु को इस युद्ध के लिए उसकी पत्नी पउमावई (पद्मावती) ने उभारा।

किन्तु उन दिनो लिच्छिवियो को जीतना सरल काम न था। छत्तीस राज्यो के विशाल सघ के वे नेता थे। और अपनी सम्मिलित शक्ति का उन्हे भरोसा था। वस्तुत राजा चेटक ने इस सघ को बुलाकर पूछा कि अजातशत्रु की बात मानी जाए या युद्ध किया जाए (निरयावली सूत्र)। लिच्छिवियो को अपनी आन्तरिक सघीय एकता का भी बल था। वे उस समय अपनी शक्ति और समृद्धि की पराकाष्ठा पर थे जिसकी चर्चा और प्रशसा प्राय लोक मे होती थी। बुद्ध की प्रामाणिक सम्मति मे, जो मानव-चरित्र, घटनाओ और कार्यो मे उनकी असाधारण सूक्ष्म दृष्टि का फल थी, लिच्छिवि अभेद्य और अजेय थे, क्योकि सघो की शक्ति और सफलता की सब शर्तो का वे पूरी तरह पालन करते थे, जैसे नियत समय पर होने वाले सघ के पूर्णोपस्थितियुक्त अधिवेशन, मन्त्र और नीति-विषयक एकता, प्राचीन परम्पराओ, सस्थाओ और पूजाओ का यथावत् पालन, वृद्धो का मान, साधु-सन्यासी और स्त्रियो की प्रतिष्ठा, इत्यादि (आगे देखिए)। अजातशत्रु के इस विचार की सूचना बुद्ध को सबसे पहले उसके मन्त्री ने राजगृह मे दी और बातचीत मे यह स्वीकार किया कि लिच्छिवियो की एकता को तोडे और उनमे फूट डाले बिना सम्राट् की जीत कदापि सम्भव नही थी। तब अजातशत्रु

ने सचमुच ही अपने मन्त्री वस्सकार को भेजकर लिच्छिवियो मे फूट का बीज बोया। वस्सकार तीन साल तक वैशाली मे रहकर अपने दुष्ट हथकडे चलाता रहा। शीघ्र ही लिच्छिवियो मे उलटा भाव व्याप्त हो गया और धनी-रक, सबल-निर्बल आदि विभिन्न वर्गो मे ईर्ष्या फैल गई (डायलॉग्स, २।७८, विमला-चरन लाहा, वही, पृ० ११२)।

अजातशत्रु इस कठिन कार्य के लिए पूरी तरह योग्य निकला। राजतन्त्र मे शत्रु-राज्य को वश मे करने के लिए कथित छल बल-कौशल का उसने पूरा उपयोग किया। युद्ध की गर्मी से भरकर उसने प्रतिज्ञा की, "वज्जी चाहे जितने बडे और सशक्त हो मैं उन्हे उखाड डालूंगा, मिटा डालूंगा और धूलिसात कर डालूंगा।" (महापरिनिब्बान सुत्त)।

लेकिन उसका यह कार्य-भार बडा गडगज्ज था। लडाई छेडने से पहले उसे एक नया नगर और दुर्ग बनाना आवश्यक था। गगा के उस पार दूर के लिच्छिवियो पर चढाई करने के लिए राजगृह दूर पडता था और बहुत अन्दर घुसा हुआ था, इसलिए उसने ठीक गगा के किनारे दुर्ग-निर्माण के लिए बढिया जगह चुनी और नई राजधानी के रूप मे पाटलिपुत्र की नीव डाल दी। नगर का निर्माण उसके मुख्यामात्य सुनीध और वस्सकार की देख-रेख मे हुआ। उन्होने भोजन के लिए बुद्ध को निमन्त्रित कर अपने को सम्मानित किया और बुद्ध जिस नगर-द्वार से बाहर निकले थे उसका नाम 'गौतम-द्वार' और जिस जगह उन्होने घाट से गगा पार की थी उसका नाम 'गौतम-तीर्थ' रखा। इसी अवसर पर बुद्ध ने पाटलिपुत्र के महान् उत्कर्ष की भविष्यवाणी की कि वह भारत का प्रधान नगर बनेगा और व्यापार-वाणिज्य का भी केन्द्र होगा (वही)। जब पाटलिपुत्र का दुर्ग पूरा हो गया तो लिच्छिवियो के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही छेडी गई। अब लिच्छिवि आपसी फूट से नि शक्त बनकर मानो चढाई का न्योता दे रहे थे। जैसे ही अजातशत्रु ने उनकी भूमि पर हमला किया, लिच्छिवि आपस मे ही बहस करने लगे कि पहले कौन आगे बढकर लडे। उनमे से जो दब्बू थे, बोले, "जो लिच्छिवि तगडे हो आगे बढकर शत्रु से लोहा ले।" यो अजातशत्रु ने सरलता से उन शत्रुओ पर विजय पा ली जो एक होकर उसका झटका सँभालने के बजाय आपसी तू-तू, मै मैं मे लग गए थे। जैन-ग्रन्थो मे उसके इस हमले का विवरण मिलता है। उसने कुछ नए प्रकार के युद्ध-यन्त्रो से काम लिया, जैसे महाशिलाकटक, जिससे बडे-बडे पत्थर के ढोके शत्रु पर चलाये गए और रथमुसल[1] जो इधर-उधर चक्कर खाकर

---

१. यह रथ किसी स्वयचालित यन्त्र से युक्त होने से स्वय गति करता था, क्योकि उसे बिना घोड़ो और सारथी के चलने वाला कहा गया है, यद्यपि

जुडे हुए मूसलो से शत्रु का भुस कर देता था (हर्नले, उवासगदसाओ, २, परिशिष्ट, पृ० ६६, जिनमे भगवती का अवतरण दिया गया है) ।

युद्ध के इस विवरण से भी स्पष्ट है कि मगध और लिच्छवियो के बीच की यह लडाई लम्बी और करारी हुई । हम देख चुके हैं कि अजातशत्रु के लिए यह युद्ध किसी अकेले राज्य के विरुद्ध न था, किन्तु गगा के उस पार के छत्तीस सबल सघो के एक पूरे गुट के विरुद्ध था, जिसका नेता वैशाली का राजा चेडग उस काल के मुख्य राज्यो के साथ विवाह-सम्बन्ध मे बँध जाने के कारण (जैसा नीचे बताया है) असामान्य राजनीतिक प्रभाव से युक्त था। उस युद्ध के लिए अजातशत्रु ने तरह-तरह की भली-भाँति सोची हुई तैयारियाँ लम्बे समय तक की, जैसे नये नगर का निर्माण और अपने गुप्तचरो द्वारा शत्रु के पुर मे आन्तरिक एकता और दृढ भाईचारे को तोडने के लिए तीन वर्ष तक चुपके-चुपके अपना जाल बिछाते रहना। इसलिए जैन ग्रन्थो मे ठीक ही इस लम्बे युद्ध का समय कम से-कम सोलह वर्ष कहा है । कहा गया है कि मखलि गोसाल ने, जो ५६२ ई० पू० मे गत हुए, जैसा नीचे दिखाया गया है, इस युद्ध को चलते हुए देखा था और छत्तीस सघराज्य, जिनके विरुद्ध लडाई छेडी गई थी, ५४६ ई० पू० तक भी बिना टूटे हुए सकुशल काम-काज चला रहे थे, क्योकि उस वर्ष अपने यहाँ की महान् ज्योति भगवान् महावीर के निर्वाण के अवसर पर उन्होने सार्वजनिक प्रकाश-पर्व का आयोजन किया था (हर्नले द्वारा उद्धृत निरयावली सुत्त, वही, पृ० ७, कल्पसूत्र, प्राची पुस्तकमाला, २२।२५६)। इस प्रकार लडाई कम-से-कम सोलह वर्ष (५६२-५४६ ई० पू०) तक चालू रही । यो अपने ही एक सम्बन्धी 'वेदेहिपुत्तो' अजातसत्तु के हाथो वैशाली का पतन हुआ । अजातशत्रु की यह दिग्विजय जिससे वह प्राच्य देश का सर्वोच्च सम्राट् हो गया, उसके समान प्रतिद्वन्द्वी मध्य भारत मे अवन्ती के राजा चण्डप्रद्योत की ईर्ष्या का कारण बनी । इससे अजातशत्रु अपनी दोनो राजधानियो—पाटलिपुत्र और राजगृह—मे बारी बारी से रहता था, क्योकि वहाँ से वह एक ओर से लिच्छवियो और दूसरी ओर से प्रद्योत के आ धमकने का सामना कर सकता था। अजातशत्रु को वास्तव मे डर था कि कही प्रद्योत राजगृह पर चढाई न कर दे इसलिए उसने वहाँ के दुर्ग को दृढ बनाया (मज्झिमनिकाय, ३।७) । परन्तु बिम्बिसार का प्रद्योत के साथ मेल-जोल था । जब उसे कामला रोग हुआ था तो बिम्बिसार ने राजवैद्य जीवक को उसकी चिकित्सा के लिए भेजा था (आगे देखिए) ।

यह भी सम्भव है, जैसा मध्ययुग मे ऐसे यन्त्रो मे होता था, कि भीतर छिपकर बैठा हुआ कोई आदमी पहियो को चलाता रहता था । (हर्नले, वही, पृ० ६०) ।

धर्म—जैसा प्राय पाया जाता है, जैन और बौद्ध दोनो ग्रन्थो मे अजातशत्रु को अपने-अपने धर्म का अनुयायी माना गया है। सम्भवत शुरू मे वह जैन था। जैन-ग्रन्थो मे उसकी धार्मिक भक्ति की प्रशसा भरी पडी है। पहले लिखा जा चुका है कि बौद्ध-ग्रन्थ उस पर पितृ-हत्या का जो दोष लगाते है उस जघन्य पाप से जैन अनुश्रुति उसे मुक्त समझती है। कहा जाता है कि कुणिक अपनी रानियो और विपुल परिजनो के साथ नातपुत्त से प्राय मिलने आता था। वैसाली और चम्पा मे वह महावीर के सम्पर्क मे आया और जैन-सघ के प्रति अपना सुन्दर भाव प्रकट किया (औपपातिक सूत्र १२,२७, ३०, हेमचन्द्र परिशिष्ट पर्वन्, सर्ग ४, आवश्यक सूत्र, पृ० ६८४,६८७)। औपपातिक सूत्र (३०) मे वह महावीर और उनके शिष्यो के समक्ष प्रकट रूप मे कहता है कि भगवान् ने सत्य उपदेश दिया और त्याग तथा अहिसा के अपने सन्देश से धर्म के मार्ग को प्रकाशित किया। परन्तु बौद्ध-ग्रन्थो के अनुसार वह बाद के जीवन मे जैन-धर्म के बजाय बौद्ध-धर्म का भक्त हो गया था। शुरू मे बुद्ध के एकमात्र घोरतम शत्रु और चचेरे भाई देवदत्त के कहने मे आकर वह बौद्ध-धर्म से शत्रुता करता था। ग्रन्थो मे कहा है, "तब देवदत्त ने अजातसत्तु से जाकर कहा, 'राजन्, अपने पुरुषो को ऐसी आज्ञा दो कि मैं समण गौतम को प्राणो से विरहित कर दूँ।' तब राजकुमार अजातसत्तु ने अपने पुरुषो को आज्ञा दी कि जैसा अर्हत देवदत्त तुमसे कहे वैसा करो" (विनय टैक्स्ट, भाग ३, पृ० २४३)। बुद्ध ने भी उसके इस भाव को अपने इस कथन से दुहराया है, "भिक्षुओ, मगधराज अजातसत्तु जो भी पापी है उनके मित्र है, उनसे प्रेम करते हैं और उनसे ससर्ग रखते है।" पर उनके सम्बन्ध शीघ्र ही बदल गए। हम देख चुके है कि अपने पिता का घात करके वह शान्ति के लिए बुद्ध के पास गया और प्रार्थना की, "भगवान्, मेरे इस अपराध को अपराध स्वीकार करे जिससे भविष्य मे मैं उससे निवृत्त हो सकूँ।" बुद्ध ने उसके इस पाप-निवेदन को स्वीकार किया, पर इसका यह अर्थ नही कि वह बौद्ध बन गया था। यह तो बहुत बाद मे, सम्भवत बुद्ध के निर्वाण के बाद हुआ (दीघ, पूर्व-उद्धृत)। और भी कहा है कि राजवैद्य जीवक ने उसे एक बार पूर्णिमा के समय आम्रवन मे जाकर बुद्ध के दर्शन करने के लिए प्रेरित किया। उपस्थित सघ के गम्भीर मौन से उसे छिपकर घात करने का सन्देह हुआ, और उसने जीवक से पूछा, "जीवक, कही मेरे साथ धोखा तो नही कर रहे हो ? मुझे शत्रुओ के बीच तो नही ले आए ? १२५० भिक्षुओ की इतनी बडी सभा मे कोई छीकता-खाँसता भी नही है, कैसे एकदम सन्नाटा छाया हुआ है ?" जीवक ने उसे आश्वासन दिया कि छल की कोई बात न थी और कहा, "सम्राट् चलो, आगे बढते चलो।" तब अजातशत्रु सरोवर की तरह शान्त भिक्षु-सघ के पास आया और बोला, "क्या ही अच्छा होता यदि मेरा पुत्र

उदायि भद्द् ऐसा शान्त होता जैसा यह भिक्षु सघ है।" (दीघ, १, पृ० ५०)।

यह रोचक है कि अजातशत्रु की बुद्ध के साथ भेंट का यह दृश्य भरहुत स्तूप (द्वितीय शती ई० पू०) के एक शिलापट्ट पर उत्कीर्ण किया गया है, जिससे उस अनुश्रुति की यदि सत्यता नही तो लोकप्रियता प्रकट होती है। मूर्ति पर यह साभिप्राय लेख भी है, "अजातसत्तु भगवयो वदते"—अजातशत्रु भगवान की वन्दना करता है। यह मूल ग्रन्थ के इस वाक्य से मिलता है, "मागधो अजातसत्तु वेदेहिपुत्तो भगवतो पादे सिरसा वदति" (महापरिनिब्बान सुत्तत)। इस शिलापट्ट पर ये दृश्य हैं—(अ) राजा हाथी पर आरूढ है, उसके पीछे दो रानियाँ भी हाथी पर बैठी है, (आ) वह हाथी से उतरकर दाहिना हाथ उठाये हुए कुछ कहने की मुद्रा मे बुद्ध के स्थान के पास खडा है (जैसा आख्यान मे कहा गया है), और (इ) वह बुद्ध के आसन या बोधिमडप के, जिस पर बुद्ध की पादुका अकित है, सामने बैठकर अजलि मुद्रा मे प्रणाम कर रहा है और उसके पीछे दो रानियाँ और स्वय राजा अजलि मुद्रा मे खडे हैं।

अजातशत्रु की बुद्ध के साथ इस ऐतिहासिक भेंट ने उसके जीवन की गति मे परिवर्तन कर दिया। वह उस समय के छह प्रधान धार्मिक नेता या तीर्थंको से क्रमश भेंट करने के बाद बुद्ध से मिला था। इनमे मखलि गोसाल और निगठनातपुत्त (महावीर) जैसे प्रसिद्ध आचार्य भी थे। उनसे मिलने का अनुरोध उसके छह मन्त्रियो ने किया था, पर ईप्सित शान्ति पाए बिना ही उसे उनसे विरक्त होना पडा (समिय सुत्त, सामञ्जफल सुत्त, आगे देखिए)। बाद मे उत्साही बौद्ध की भाँति उसे हम बुद्ध की मृत्यु का समाचार सुनकर शीघ्रता से कुशिनारा जाते हुए देखते है। उसने बुद्ध के शरीर की अवशिष्ट अस्थियो मे अपना भाग माँगने के लिए दूत भेजकर कहलाया, 'भगवान् क्षत्रिय थे, मैं भी क्षत्रिय हू, मुझे भगवान् के अस्थि-अवशेष का भाग मिलना चाहिए। मैं भगवान् के अस्थि-अवशेष पर एक स्तूप बनाऊँगा और ब्रह्मभोज करूँगा।" (दीघ, २, १६६)। तब कथा है कि महाकस्सप को बुद्ध का शरीर और उसकी अवशिष्ट अस्थियाँ जिसके अधिकार मे थी, भय हुआ कि कही अजातशत्रु उन अवशेषो को क्षति न पहुँचाए जिन्हे आठ भागीदारो ने आठ अलग-अलग स्तूपो मे स्थापित कर दिया था। उन्होने सम्राट् को समझाया कि दूसरे स्तूपो मे उनके भाग यथावत् छोडकर राजगृह मे उनके लिए एक चैत्य बनवा दे (महापरिनिब्बानसुत्त अट्ठकथा, मिलाइए दिव्यावदान, पृ० ३८०)। महावस के अनुसार उसने अपनी राजधानी राजगृह के चारो ओर चैत्य बनवाया, वहाँ के अठारह महाविहारो का सस्कार (मरम्मत) कराया, जिन्हे बुद्ध-निर्वाण के बाद बौद्ध-भिक्षु छोडकर चले गए थे, और राजगृह के पच पर्वतो मे वैभार पर्वत की सत्तपण्णि गुहा के द्वार के सम्मुख मण्डल बनवाकर पहली बौद्ध-

सगीति का अधिवेशन अपने सरक्षण मे कराया, जैसा पूर्व मे कहा जा चुका है।

सघ—प्राचीनतम पालि और जैन-ग्रन्थो मे निम्नलिखित सघो का उल्लेख है—

१ कपिलवस्तु के साकिय।
२ अल्लकप्प के बुलि।
३ केसपुत्त के कालाम।
४ सुसुमार गिरि के भग्ग।
५. रामगाम के कोलिय।
६. पावा के मल्ल।
७ कुसिनारा के मल्ल।
८. पिप्फलिवन के मोरिय।
९ मिथिला के विदेह।
१०. वैशाली के लिच्छिवि।
११ वैशाली के नाय (ज्ञातृक)।

१. साकिय—बुद्ध का जन्म इन्ही साकियो (शाक्यो) मे हुआ था और उन्हे अपनी बिरादरी मे श्रेष्ठ कहा गया है (ञातिसेट्ठो), दीघ, पालि टैक्स्ट सोसायटी, २, १६५)।

---

१. इस सम्बन्ध मे यह उल्लेखनीय है कि कुणिक का नाम मथुरा जिले मे परखम और झींग का नगरा इन दो स्थानो पर मिली हुई मूर्तियो पर अंकित पाया गया है। जायसवाल ने उसकी पहचान अजातशत्रु से की थी, किन्तु यह पहचान सम्भव नहीं। परखम की मूर्ति पर यह लेख है—'(म) (णि) भद (=मणिभद्रयक्ष) पूगे रामा (ग) ठ (=गोष्ठि) (पटिथा) पि (तो) कुनि (क) ते वासिना (गोमितकेन) कता।' इसमे मणिभद्र के पूग मे मूर्ति की स्थापना और कुणिक के शिष्य गोमितक द्वारा उसके बनाए जाने का उल्लेख है। दूसरी मूर्ति पर, जिसे मनसादेवी कहकर लोग पूजते है, यह लेख है, '(१)सापुतेहिकारितो(२) यखिला आवा कुनिकाते(३)(वासिना-नाके)न कता।' इसमे उसी कुणिक के शिष्य नाक नामक शिल्पी का उल्लेख है जिसने यक्षि लाआवा की मूर्ति बनाई। एक तीसरी मूर्ति पवाया (पद्मा-वती) ग्वालियर मे मिली है, इसके लेख मे उसे मणिभद्र की बताया गया है। उसे मणिभद्र मे भक्तो ने अपनी गोष्ठि मे स्थापित किया था। वासु-देवशरण अग्रवाल, उत्तर प्रदेशीय इतिहास परिषद् की पत्रिका, मई १९३३ के अंक मे 'प्री-कुषाण आर्ट ऑफ मथुरा' शीर्षक लेख)।

साक्यि नगर और जनसख्या—इस सघ की राजधानी कपिलवस्तु थी, इसमे और कई नगर थे, जैसे चातुमा, सामगाम, खोमदुस्स, सिलावती, मेदलुप, नगरक, उलुप, देवदह और सक्कर। बुद्ध की माँ देवदह की थी और वे देवदह जा रही थी कि मार्ग मे बुद्ध का जन्म हुआ। खोमदुस्स ब्राह्मणो की वस्ती थी (राइस डेविड्स, बुद्धिस्ट इडिया), क्षौम वस्त्र निर्माण का केन्द्र होने से इसका यह नाम पडा (सयुत्त निकाय, अँग्रेजी अनुवाद, १।२३३)। इस सघ मे ८०,००० कुल थे, या लगभग ५,००,००० जनसख्या थी (राइस डेविड्स, डायलॉग्स ऑफ दि बुद्ध १, १४७)। केवल विरुढक ने ७७,००० शाक्यो का वध कर दिया था (रॉकहिल, लाइफ ऑफ दि बुद्ध, पृ० १२०)।

उसकी सघ सभा—सघ की एक सभा थी, जिसका अधिवेशन स्तम्भो पर निर्मित सथागार मे होता था। वह शासन और न्याय दोनो का काम करती थी। सघ का प्रधान, जो सभा की अध्यक्षता करता, राजा कहलाता था। बुद्ध के पिता शुद्धोदन इसी प्रकार के राजा थे और उनके चचेरे भाई भद्दिय भी (दीघ, २, ५२, विनय, २, १८१)। शाक्यो की सभा मे ५०० सदस्य थे (डायलॉग्स, १।११३)। महावस्तु मे उसे शाक्य परिषद् कहा है। बुद्ध के समय मे उसका नया भवन बना था, जिसका उद्घाटन बुद्ध ने कई व्याख्यानो के साथ किया (मज्झिम, १।३५३ आदि, सयुत्त, ४।१८२ आदि)। यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न शाक्यो की सघ सभा के सामने निर्णय के लिए उपस्थित किया गया था कि विरुढक के आक्रमण के समय राजधानी कपिलवस्तु के द्वार खोले जाएँ या नही। "कुछ ने कहा, 'उन्हे खोल दो', औरो ने ऐसा न करने की सलाह दी। कुछ बोले, 'क्योकि इस विषय मे कई मत है, हमे बहुमत मालूम करना चाहिए।' सो उन्होने इस विषय मे मत लिया।" दुर्भाग्यवश विश्वासघाती कुछ "शाक्य वृद्धो ने द्वार खोलने के पक्ष मे मत दिया और सब ने वैसा ही मत दे दिया" (रॉकहिल, लाइफ ऑफ दि बुद्ध, १।११९)।

शिक्षा और सस्कृति—शाक्य-सघ शिक्षा और सामाजिक उन्नति भी केन्द्र था। ललितविस्तर के वर्णन के अनुसार बुद्ध को बालकपन मे तत्कालीन अनेक विद्या और शिल्पो की शिक्षा कपिलवस्तु मे ही मिली थी। वहाँ एक शिल्प-विद्यालय भी था, "जो शिल्पो की शिक्षा के लिए एक विशाल कूटागार के रूप मे था" (डायलाग्स, भाग ४, खण्ड ३, पृ० १११, पाद-टिप्पणी)। पिता अपनी कन्याओ का विवाह शिक्षित वर को छोडकर और किसी के साथ न करते थे। युवक गौतम के साथ कुमारी गोप के विवाह का प्रस्ताव उठने पर उसके पिता ने उत्तर दिया कि 'वह अपनी पुत्री को ऐसे राजकुमार को नही दे सकता जो घर पर ही विलास मे पला हो और शिल्प एव युद्धविद्या मे अनभिज्ञ हो" (ललितविस्तर)। महावस्तु

के अनुसार (२।७३) गौतम को यशोधरा के पाणिग्रहण के लिए ५०० शाक्य कुमारो के साथ आयुध-कौशल-प्रदर्शन मे भाग लेना पडा था। इसी कारण शाक्य अपने सघ से वाहर विवाह न करते थे, और एक अभिजात शाक्य कुमारी का विवाह कोसल के राजा प्रसेनजित् के साथ भी करने को तैयार न हुए, यद्यपि वे उसके अधीन थे और इस कारण विडूडभ ने प्रतिद्रोह से जलकर उनका सर्वनाश कर डाला (जातक ४।१४५)। शाक्य स्त्री-पुरुषो मे से ही बौद्ध-धर्म के कुछ महान् प्रतिनिधि निकले, जैसे उपालि, नन्दुपनन्द, कुण्डदन, जो कुलपुत्र थे। कितने ही राजकुमारो ने और मुख्यामात्य के पुत्रो ने ससार त्यागकर बौद्ध-भिक्षु के रूप मे सन्यास ले लिया (प्राची पुस्तकमाला, १६, २२६-७)।

स्त्री भिक्षुणियाँ—भिक्षुणी-सघ की स्थापना का श्रेय शाक्य स्त्रियो को है। उनमे से कुछ ने थेरीगाथा मे सुरक्षित गीतो की रचना की। सबसे प्रसिद्ध महाप्रजापति गोतमी बुद्ध की मौसी थी। और भी तिस्सा, अभिरूपनन्दा, मित्ता, सुन्दरीनन्दा, अर्हत पद को प्राप्त हुई (थेरीगाथा, अँग्रेजी अनुवाद, पृ० १२-१३, २२-२३, २६, ५५-६०)।

२—५, ८—ये पाँच छोटे सघ थे, जिनके विषय मे अधिक ज्ञात नही। बुलि कोलिय और मोरिय लोगो ने क्षत्रिय होने के कारण बुद्ध के शारीरिक अवशेषो के भाग की माँग की थी-(महापरिनिब्बान सुत्तन्त)।

बुलि—बुलियो का घनिष्ठ सम्बन्ध वेठ द्वीप के साथ था जहाँ ब्राह्मण द्रोण (बुद्ध के अवशेषो का एक भागीदार) की जन्मभूमि थी। बुलियो का स्थान भी वही पास मे कही होना चाहिए अर्थात् शाहाबाद और मुजफ्फरपुर (वैशाली) के बीच मे (धम्मपद अट्ठकथा, हार्वर्ड ग्रन्थमाला; २८।२४७)।

कालाम—गौतम के गुरु मुनि आलार कालाम इसी सघ के थे। उनके नगर—केसपुत्त—का नाम पञ्चाल जनपद के वैदिककालीन केशियो के साथ कुछ सम्बन्ध व्यक्त करता है।

भग्ग—भग्ग (भग) वत्सो के साथ सयुक्त थे। राजा उदेन (उदयन) का पुत्र बोधि राजकुमार सुसुमार गिरि के भेषक्ला वन मे स्थित कोकनद नामक स्थान मे रहता था (जातक स० ३५३, मज्झिम, १।३३२-८, २।९१-७, सयुत्त ३।१-५, ४।११६)। एक दिन उसने राजप्रासाद के सोपान पर बुद्ध के सम्मान मे श्वेत वस्त्र बिछवा दिया, किन्तु बुद्ध ने उसे हटवा दिया, क्योकि भिक्षु होने के नाते उस पर पैर रखना ठीक नही था।

कोलिय—कोलिय और साकियो की भूमि के बीच मे रोहिणी नदी बहती थी (थेरीगाथा, ५।५२९)। बाँध बनाकर रोका हुआ उसका जल दोनो की सिचाई के काम आता था, इसी से उनमे झगडा हुआ। एक बार तो स्वय बुद्ध ने विवाद का

निपटारा किया था (जातक, अंग्रेजी अनुवाद, ५।२१९)।

उनके नगर—उनकी राजधानी रामगाम कोलनगर या व्यग्घपज्ज भी कहलाती थी (सुमगल, १।२६२)। हलिद्दवसन (मज्झिम, १।८७), सज्जनेल (अगुत्तर २।६२), (सापूरग (वही, २।१९४), उत्तर (सयुक्त, ४।३४०) और कक्करपत्त, (अगुत्तर, ४।२८१) उनके कुछ ग्राम थे।

आरक्षा पुरुष—कोलियो मे उनके आरक्षक पुरुष (पुलिस) विशेष प्रकार की शिरोभूषा वर्दी के समान पहनते थे और उत्पीडन और अत्याचार के लिए कुख्यात थे (सयुक्त, ४।३४१)। जैसे शाक्य सघ के लोगो का उपनाम गौतम पड गया था, ऐसे ही कोलियो का व्यग्घपज्ज।

मोरिया—महावश टीका के अनुसार (पृष्ठ १८०, पालि टेक्स्ट सोसायटी), मोरिय, जो साकियो मे ही थे, विडूडभ के अत्याचारो से जान बचाकर हिमालय के प्रदेश मे चले गए और वहाँ उन्होने मोरो की कूक से गुजायमान स्थान मे पिप्फलिवन नगर की नीव डाली। इस प्रकार वे भी क्षत्रिय थे और इनके कुल मे मगध के प्रसिद्ध मौर्यवश के सस्थापक चन्द्रगुत्त (चन्द्रगुप्त) का जन्म हुआ।

मल्ल पावा और कुशिनारा की दो शाखाएँ—मल्ल सघ की दो शाखाएँ थी, एक पावा मे, दूसरी कुशिनारा मे (दीघ, २।१६५)। पावा (पावा = सस्कृत पापा जो अपापपुरी का विगडा रूप था) नगर मे महावीर का देहावसान हुआ जब वे राजा अस्तिपाल के लेखक के घर मे ठहरे थे या पापा के शाप्टिपाल के महल मे, जैमा नीचे कहा है। कुसिनारा, जहाँ बुद्ध का निर्वाण हुआ, उस समय फूँस के छप्परो और मिट्टी के घरो की छोटी बस्ती थी। बुद्ध बीमारी की हालत मे पावा से पैदल चलकर यहाँ आये थे, जो कुशिनारा के समीप ही होना चाहिए। मल्लो के दूसरे स्थान ये थे—अनोमा नदी के तट पर अनूपिय (चुल्लवग्ग, ७।१।१), भोगनगर, और उरुवेल कप्प (सयुक्त, ५।२२८, अगुत्तर, ४।४३८)। मल्लो की दोनो शाखाएँ क्षत्रिय (डायलॉग्स, २।१६२ आदि), और वासेट्ठ या वशिष्ठ गोत्रीय (दीघ, पालि टेक्स्ट सोसाइटी, ३।२०९) थी।

सघ सभा और शासन सभा—मल्ल राष्ट्र सघ राज्य था (मज्झिम १।२३१)। पावा के मल्लो ने उभटक नामक नया सभा-भवन बनाया था जिसका बुद्ध ने उद्घाटन किया (सगीतिसुत्त, दीघ निकाय)। बुद्ध के निर्वाण का समाचार आनन्द ने सब से पहले पावा के मल्लो के पास भेजा, जो उस समय अपने सथागार मे सघ सभा का अधिवेशन कर रहे थे। बुद्ध की मृत्यु के बाद वे फिर उनके पवित्र अवशेषो के विषय मे विचार करने के लिए एकत्र हुए (डायलॉग्स, २।१६२,४)। उनके शासन कर्त्ता पुरिस कहलाते थे जो पुलिस की भाँति थे (दीघ, २।१५९, १६१)। वे सैनिक प्रवृत्ति के थे और मल्ल कहलाते थे (जातक, कॉवेल २।

६५) बुद्ध ने एक बार कहा था कि मल्लसघ अपने सदस्यो को प्राण या मृत्यु-दण्ड, देश-निर्वासन और न्यायरक्षा से बहिर्गत करने मे पूर्ण स्वतन्त्र थे।

शिक्षा—शिक्षा से भी उन्हे प्रेम था। कुशिनारा के एक मल्लराजा ने अपने पुत्र बधुल को शिक्षा के लिए सुदूर तक्षशिला भेजा जहाँ लिच्छवि राजकुमार महालि और कोसल के प्रसेनजित् उसके सहपाठी थे। उनके शाखानगर उरुवेल कप्प मे भी दार्शनिक विचार हुआ था, जिसमे तपुस्स और भद्रगको गामणी सदृश ग्रहस्थ उपासको ने प्रमुख भाग लिया था (अगुत्तर, ४।४३८-४८८, सयुक्त, ४।३२७ आदि)।

कुछ प्रसिद्ध मल्ल—बौद्ध धर्म के कुछ सबसे महान् व्यक्ति मल्ल थे, जैसे (१) आनन्द, (२) उपालि, (३) अनुरुद्ध, (४) देवदत्त, जो बुद्ध का हठी प्रतिपक्षी था, (५) दब्ब, जिसे सघ ने उच्चपद पर चुना था (विनय, ३,४), (६) खण्ड सुमन, जिसे छह प्रकार की अभिज्ञा प्राप्त हुई थी (थेरीगाथा, अग्रेजी अनुवाद पृष्ठ ६०), और (७) सीह (वही, पृ० ८०)।

नौ 'मल्लकि'—बुद्ध के उत्कट भक्त होते हुए भी मल्ल इतने उदार थे कि उन्होने जिन महावीर के सम्मान मे, पावा मे उनके निर्माण के बाद बडी दीवाली का आयोजन किया, जिससे उन्होने 'प्रजा मे महान् किन्तु बुझे हुए अग्नि स्कन्ध' के प्रति अपनी भावना प्रकट की (जैनसूत्र, प्राची पुस्तक माला, २२।२६६)।

सघीय सगठन—यह दीवाली नौ मल्लकियो के सघ ने मनाई थी, जिनकी पृथक् राजनैतिक सत्ता थी। 'जैन कल्पसूत्र' मे एक ऐसे सघीय समुदाय का उल्लेख है जिसमे नौ मल्लकि, नौ लिच्छिवि, कासी और कोसल के १८ गणराजा थे। यह सगठन (जैसा कहा जा चुका है) कुणिक अजातशत्रु के भय से अस्तित्व मे आया।

लिच्छवियो से सम्बन्ध—कभी-कभी मल्ल और लिच्छवि भी झगड पडते थे। एक बार मल्ल सेनापति बन्धुल अपनी स्त्री मल्लिका के साथ वैशाली तक गया। वहाँ उसके लिच्छवि महालि की पुष्करिणी मे परवश स्नान कर लेने के कारण पूरा बखेडा खडा हो गया, और ५०० लिच्छवि मल्ल-सेनापति का पीछा करते हुए काट डाले गए (धम्मपद अट्ठकथा पालि टेक्स्ट सोसायटी, १।३४६, आदि)।

वज्जि सघ—प्राचीन सोलह महाजनपदो मे वज्जि भी थे, जिन्होने बुद्ध के समय से पहले ही अपने-आपको ८ सघो (अट्ठकुल) के एक समूह मे सगठित कर लिया था, जिनमे विदेह, ज्ञातृक और लिच्छिवि, और स्वय वज्जि प्रधान थे। सम्भवत दूसरे चार उग्र, भोग, ऐक्ष्वाकु और कौरव थे जिन्हे एक जैन-ग्रथ मे ज्ञातृक और लिच्छिवियो को एक ही सघ राज्य की प्रजा और उसी सभा का सदस्य कहा गया है (प्राची पुस्तक माला, ४५, ३३९)। उग्र और भोग क्षत्रिय

थे—और प्रथम जैन तीर्थंकर ने उन्हे नगर-मुख्य नियुक्त करके सम्मानित किया था (वही, ७१, पाद-टिप्पणी)। आगे चलकर बुद्ध के समय मे लिच्छवि प्रमुख हो गए और उन्ही मे सघ का नाम पड गया।

विदेह—विदेह, जैसा ऊपर उल्लेख किया गया है, प्रारम्भ मे राजाधीन था और जनक एव ऋषि याज्ञवल्क्य के नेतृत्व मे वैदिक सस्कृति का वडा केन्द्र बना था यह रोचक है कि जिस अनुश्रुति मे विदेह को अनेक प्रसिद्ध राजाओ के शासन मे राजाधीन जनपद कहा गया है, वही बुद्ध के समय मे उसे सघ बतलाती है।

मिथिला—उसकी राजधानी मिथिला थी, जिसमे ४ द्वारो के पास ४ बडे वाणिज्य-स्थान (यवमज्झक) थे (जातक ६—पृ०३३०-१) और बुद्ध के समय मे व्यापार का बडा केन्द्र था। यहाँ श्रावस्ती तक मे व्यापारी अपना माल बेचने आते थे (थेरीगाथा, धम्मपाल-कृत परमत्थदीपिनी टीका, ३।२७७-८)। जातको के अनुसार मिथिला पुरी का ७ योजन और विदेह का ३०० योजन विस्तार था (कावेल, जातक,३।२२२)। उसमे १६,००० ग्राम थे (वही) और वहाँ ६,००,००० (कार्षापण) नित्य दान मे व्यय होता था (वही, ४।२२४)। यह प्राचीन राजाओ के त्याग और तप की परम्परा के अनुसार ही था जिसमे निमि जैसे लोग हुए, जो ससार से विरक्त होकर पच्चेक बुद्ध के पद पर पहुँच गए थे (वही, ३।२३०), या राजा विदेह, जो परिव्राजक होकर समान शील वाले गाधार के राजा के साथ हिमालय मे रहने लगे थे (वही,२।२२२।३), या राजा मखादेव (वही,१।३१-२), या साधिन, जो शील मे देवो से भी महान् थे (वही, ४।२२४-७)।

विदेह राजकुमारियाँ—दूर-दूर के राजा भी विदेह राजकुमारियो के शील-गुण के कारण उनसे विवाह करना चाहते थे। अमितायुर्ध्यान सूत्र के अनुसार बिंबिसार की एक रानी वैदेही वासवी थी जिसने अजातशत्रु के द्वारा कारागृह मे डाले गये अपने पति को भोजनादि पहुँचाकर उसकी प्राण-रक्षा की थी (प्राची पुस्तक-माला, ४९।१६१-२०२)। भास के नाटको मे उदयन को वैदेहीपुत्र कहा गया है। जैन-धर्म के सस्थापक वर्धमान महावीर की माता विदेह की विदेहदत्ता नाम की स्त्री थी जिसके अन्य नाम त्रिशाला और प्रियकारिणी भी थे (जैनसूत्र, प्राचीन पु० मा० २२।१९३-२५६)।

ज्ञातृक : जैन-धर्म के साथ उनका सम्बन्ध—ज्ञातृक काश्यप गोत्रिय क्षत्रिय थे (प्राचीन पु० मा०, २२।२६६) जिनमे महावीर का जन्म हुआ। सूत्रकृताग (१।१।१।२७) मे उन्हे 'सर्वोच्च जिन महावीर, ज्ञातृ-पुत्र' कहा गया है। उनके पिता सिद्धार्थ ज्ञातृको मे मुख्य थे। इन्होने लिच्छवि कुमार चेटक की बहन त्रिशला से विवाह किया। क्योकि त्रिशला को वैदेही कहा गया है, इसलिये उनके भाई चेटक भी विदेह के रहे होगे जो वैशाली मे बस गए थे। इस विवाह के फलस्वरूप

चेटक का राजा बिंवसार से भी सम्बन्ध हो गया जिसने चेटक की पुत्री चेल्लना से विवाह किया।

ज्ञातृको के इस विशेष सघ मे वैशाली, कुण्डगाम और वाणियगाम नगर थे, किन्तु इसकी राजधानी कोल्लाग नामक स्थान मे थी जो कुण्डग्गाम का एक सन्निवेश था। इस कोल्लाग को नायकुल अर्थात् ज्ञातृको का निवास-स्थान उत्तर-खत्रिय-कुण्डपुर-सन्निवेश' या 'खत्तिय कुण्डगामे नयरे' अर्थात कुण्डपुर का क्षत्रिय भाग (उसके माहरण या ब्राह्मण भाग से पृथक) कहा गया है (हार्नले, उवासग दसाओ, २।१-७)। एक बौद्ध-ग्रन्थ के अनुसार बुद्ध कोटिग्गाम भी आए थे, जो ज्ञातृको का निवास-स्थान था, और वह ज्ञातृक सघागार मे ठहरे थे। वैशाली जाते हुए वही उन्होने लिच्छवि सेनापति सीह् निकठ को अपने मत मे दीक्षित किया (महावग्ग प्राचीन पु० मा०, १७।१०४, आदि)। सम्भवत कोटिग्गाम ही कुण्डग्गाम था।

कोल्लाग के बाहर ज्ञातृको ने एक पुण्यशाला उज्जान, उसमे एक चैत्य (चेइए), जिसका नाम दुइपालस था, बनवाया। वे अपने शील, धर्म, अहिंसा, सत्कर्म और मॉस-भोजन से निवृत्ति के लिए विख्यात थे क्योकि वे पार्श्वनाथ के अनुयायी थे।

वृद्धो की सभा—सघ का शासन कुल-वृद्धो की सभा करती थी जिनमे से एक सभापति होता था और उसके सहायक एक उपराजा और एक सेनापति थे (हर्नले, उवासगदसाओ, २।४-५)।

लिच्छवि—बौद्ध और जैन-ग्रन्थ दोनो उन्हे क्षत्रिय कहते है। क्षत्रिय होने के नाते उन्हे बुद्ध के अवशेषो मे भाग पाने का अधिकार मिला (महापरिनिब्बान सुत्तत)। क्षत्रिय राजकुमारी त्रिशला का विवाह ज्ञातृ क्षत्रिय सिद्धार्थ के साथ हुआ जो महावीर के पिता थे। वे वशिष्ठ या वाशिष्ठ गोत्रिक थे (सेनार्ट, महावस्तु १।२८३, २८६, २८६ आदि)। जैन-ग्रन्थो मे त्रिशला को वशिष्ट गोत्र का कहा गया है (प्राचीन पु०मा०, २२।१६३)। वशिष्ट होने के नाते लिच्छवियो का सम्बन्ध पावा के मल्लो से जुड जाता है (डायलॉग्स, ३।२०२)। एक तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार बुद्ध के पिता शुद्धोदन की स्त्रियाँ मया और महामाया भी वृजि (लिच्छवि) राजकुमारियाँ थी (लाहा, क्षत्रिय ट्राइब्स, पृ० १५)।

वैशाली—लिच्छवियो की राजधानी वैशाली मे थी। बुद्ध के समय मे यह नगरी अपने वैभव के परम उत्कर्ष पर थी। तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार (राकहिल, लाइफ आफ दि बुद्ध, पृ० ६२) उसमे तीन विभाग थे जिनमे क्रमश ७,०००, १४,००० और २१,००० घर थे। सम्भवत यह वैशाली, कुण्डपुर और वाणियगाम थे। उक्काचेला नाम के एक ग्रन्थ स्थान का वर्णन भी आता है (सयुक्त,

४।२६१-२, ५।१६३-५)। एक जातक मे वैशाली के ३ प्रकार और अट्टालको का उल्लेख है (जातक १।५०४)। महावस्तु मे एक वर्णन है जिसमे अभ्यन्तर-वैशाल और वाह्य वैशालक अर्थात् महा वैशाली के वाह्य निवासी और अपने नागरिको का उल्लेख है, जिनकी सख्या 'द्विगुणित ८४,०००' थी। उन्होने वुद्ध का भारी स्वागत करते हुए हाथियो और स्वार्णालकार रथो का जुलूस निकाला और गगा से लेकर नगर तक के मार्ग को पताकाओ, पुष्पमालाओ और स्वर्ण-पट्टो से सजाया, और गवोदक से सिक्त करके वुद्ध के मार्ग मे पुष्प विछाए और सुगन्धियाँ जलाई। महावग्ग मे वैशाली को "आढ्य, समृद्ध और वहुजन सकुल नगर कहा है, जिसमे ७,७०७ प्रासाद, ७,७०७ कूटागार, ७,७०७ आराम, ७,७०७ कमल-पुष्करिणी थी" (विनय, प्राचीन पुस्तक मा०, पृ० १७१)। उसके ७,७०७ राजाओ के लिए नगर मे उतने ही प्रासाद थे और अनेक चैत्य और विहार भी थे। उसके ८ प्रसिद्ध चैत्य ये थे—(१) उदेन (वैशाली के पूर्व मे), (२) गोतमक (दक्षिण मे), (३) सप्तामलक (सत्तम्व) (पश्चिम मे), (४) वहुपुत्र (उत्तर मे), (५) चापाल, (६) कपिनह्य, (७) सारन्दद, और (८) मार्कटह्लद (महावस्तु, महापरिनिव्वान-सुत्तत और पाटिकसुत्तत, डायलॉग्स, ३।१४)। वुद्धघोष की व्याख्या के अनुसार ये चैत्य यक्ष पूजा के स्थान या वुद्ध-धर्म से पूर्वकाल के धर्मों के पूजा-स्थान थे (डायलॉग्स, २।८०।११०)। किन्तु जैन-ग्रथो मे चैत्य शब्द (चेइए) कई अर्थो मे प्रयुक्त ज्ञात होता है, जैसे उद्यान के लिए (प्राचीन पु० मा०, ४५, पृ० ३६, १००), या मन्दिर या धार्मिक स्थान के लिए जिसमे उद्यान, वन-खण्ड और सम्वन्धित भूमि गृहीत होती थी (उज्जान, वनसड या वनखण्ड) और पूजा-स्थान एव पुजारी आदि के लिए वनी हुई शालाओ का भी ग्रहण होता था (हर्नले, उवा-सगदासाओ, २।२ पाद-टिप्पणी ४)।

लिच्छवियो ने इन सव का दान करके वुद्ध को दे दिया। इनके अतिरिक्त आम्रपाली गणिका ने अपना विशाल आम्रवन और वालिका ने वालिकाराम भी वुद्ध को दिए (सेनार्ट, महावस्तु, १।२९५-६, ३००, विनय, प्राचीन पु० मा०, पृ० ४०८)। लिच्छवियो ने महावन मे एक कूटागारशाला भी वुद्ध के लिए वनवाई, जहाँ उन्होने अनेक सूत्रो का उपदेश किया। कुछ इमारते भिक्षु वास्तु-विशेषज्ञो कि देख-रेख मे ही वनी। इस प्रकार की देख-रेख के अभाव मे वैशाली के एक दरजी का घर, जो वह सघ के लिए वनवा रहा था, "दीवार के सूत मे खडी न करने मे गिर गया" (चल्लवग्ग, ६, प्राचीन पु० मा०, २०।१८९-९०)।

विधान और शासन—वुद्ध के वहुत पहले से ही लिच्छवि सघ की शासन पद्धति द्वारा शासित था। उनके वैदेशिक सम्वन्ध की देखभाल ९ लिच्छवियो कि एक समिति करती थी जिन्होने ९ मल्लिक और कासि-कोसल के १८ गणराज्यो

से मिलकर महावीर के मामा चेटक के नेतृत्व मे एक सगठन बनाया, जैसा पहले कहा जा चुका है। चेटक को यह सगठन चम्पा के राजा कुणिक अजातशत्रु के सशस्त्र सैनिक आक्रमण की आशका से बनाना पडा था (जैन कल्पसूत्र, १२८ और निरयावलिसूत्र, पृ० २७ वारेन सम्पादित)। तोमर उनका दूसरा नेता था, जिसे लिच्छवियो ने अपने नगर मे बुद्ध के प्रथम आगमन का प्रबन्ध करने के लिए अपना प्रतिनिधि चुना था। ऐसा व्यक्ति नामक कहलाता था (रॉकहिल, लाइफ ऑफ दि बुद्ध, पृ० ६३-४)। भीतरी शासन के लिए सघ की सभा मे ७,७०७ राजा थे, जो वैशाली के नागरिक 'द्विगुणित ८४,०००' अर्थात् १,६८,००० की जनसख्या मे से चुने जाते थे, और उनके साथ उतने ही उपराजा, सेनापति और भाण्डागारिक होते थे। सघ के सदस्य होने के कारण वे सब ही प्रश्न-प्रतिप्रश्न और तर्क-वितर्क मे रत रहने के लिए बदनाम थे (ते सब्बेपि पटिपुच्छावितक्का अहेसु—निदान कथा, एकपण्ण जातक स० १४६ और चुल्ल-कलिग जातक स० ३०१)। राजाओ की यह सघीय सभा उस अनुश्रुति के अनुकूल है, जिसका उल्लेख पाणिनि मे भी है (६।२।३४), जिसके अनुसार गण-सभा मे वे समस्त क्षत्रिय होते थे, जो शासन के लिए अभिषिक्त किए जाते थे और राजन्य कहलाते थे (अभिषिक्त राजन्य)। कौटिल्य ने भी उन सघो का उल्लेख किया है जिसमे राजा उपाधि सघीय सगठन की मूल आधार थी (राजशब्दोपजीविन)। लिच्छविगण के बहुसख्यक राजाओ का उल्लेख करते हुए ललितविस्तर मे कहा गया है कि लिच्छवि परस्पर एक-दूसरे को छोटा-बडा न मानते थे—और सब 'मैं राजा हूँ, मैं राजा हूँ' ऐसा समझते (एकैक एव मन्यते अह राजा अह राजेत, ३।२३)।

इसमे से प्रत्येक राजा सम्भवत अपने क्षेत्र मे शासक था जिसके अपने अधिकारी और अपना कोष था, इस प्रकार ७,७०७ राजाओ की सभा सघ की सभा थी जो उतने ही समुदायो या वर्गों की प्रतिनिधि थी जिन सब की सम्मिलित जनसख्या 'वज्जिसघ' कहलाता था। सम्भवत शासन का कार्य आठ (तुलना कीजिए अष्टकुल) या नौ सदस्यो की समिति करती थी, और वे नील, पीत, हरित, मजिष्ट लोहित, श्वेत (ओदात), या मिश्रित (व्यायुक्त) वर्णो की वेशभूषा और साज-सज्जा धारण करते थे, जिनमे उनके वस्त्र, घोडे, रथ, उष्णीष, छत्र, उपानह, चाबुक, छडी आदि सब-कुछ उसी रग का होता था (महापरिनिब्बान सुत्तत, प्राची पु०मा०, ११।३१, अगुत्तर, पालि टैक्स्ट सोसायटी, ३।२४६, महावस्तु, १। २६६, दीघनिकाय २।६६)। नौ सदस्यो की सभा वैदेशिक कार्यों की ओर अष्टकुल सभा न्याय की देखभाल करती थी। अटठकुल सभा न्याय के लिए उच्च समिति थी। विशेषज्ञो की आरम्भिक जाँच-पडताल के बाद अपराधी उसके सामने आते थे। ये विशेषज्ञ इस प्रकार थे (१) विनिश्चय महामात्र, जो मामले

के तथ्यो का निश्चय या सग्रह करता था, (२) व्यावहारिक, वकील, और (३) सूत्रधार, जो धर्म और रीति-रिवाजो के सूत्र को जानकर उनके परिवर्तनशील बाह्य रूप के भीतर छिपे हुए मूल भाव की व्याख्या करता था। अट्ठकुलका से दण्डित व्यक्ति दण्ड-प्राप्ति के लिए सेनापति, वहाँ से उपराजा और अन्त मे राजा के पास भेजा जाता था जो कि 'पवेणि-पोत्थक' नामक दण्ड और कानून के लिखित सग्रह के अनुसार दण्ड को नियमित करता था (बुद्धघोषकृत अट्ठकथा, महापरिनिब्बान सुत्तत)। लिच्छविगण विवाह आदि विषयो मे अपने नागरिको के सामाजिक जीवन को नियन्त्रित करता था। सबके लिए सामान्य नियम यह था कि कोई वैशाली से बाहर अथवा ऊपर कहे इसके तीन विभागो के बाहर विवाह न करे (वही)। पत्नी चुनने का कार्य भी गण करता था, ऐसा उल्लेख है (विनय टैक्स्ट, ४।२२५)।

सघ के उत्तम लक्षण—अपरिहानिय धम्म—स्वय बुद्ध लिच्छविगण के उत्तम गणो के विषय मे इतने अश्वस्त थे कि उन्होने अनपा अभीप्सित मत प्रकट किया कि यह अजातशत्रु जैसे सशक्त सम्राट् के आक्रमण के सामने भी अजेय ठहरेगा। ये अपरिहानिय धम्म उनकी सम्मति मे इस प्रकार थे (१) "नियत समय पर सदस्यो की पूर्ण उपस्थिति के साथ सघ-सभा के अधिवेशन (अभिण्ह सन्निपाता सन्निपातबहुला भविस्सति), (२) एकमत या समग्र भाव से सघ मे उपस्थित होना, एकमता या समग्र भाव से अधिवेशन समाप्त करना और एकमत या समग्र भाव से सघ के कर्त्तव्य कर्म करना, (समग्गा सन्निपतिस्सति समग्गा वुट्ठ-हिस्सति समग्गा सघकरणीयानि करिस्मति), (३) जो प्रज्ञप्ति या स्वीकृत नही हुआ है, उसे स्वीकार न करना, जो स्वीकृत हो चुका है उसका समुच्छेद न करना, और वज्जिसघ के यथास्वीकृत पूर्व-निश्चयो को लेकर उनके अनुसार कार्य करना (अप्पञ्ञत्त न पञ्ञापेस्सति, पञ्ञत्त न समुच्छिन्दिस्सति, यथा पञ्ञत्तेसु सिक्खापदेसू समादाय वत्तिस्सति), (४) वज्जिसघ के जो सघपितर या वृद्ध है और जो सघपरिणायक या नेता है, उनका सत्कार करना, उनके प्रति गौरव का भाव रखना, उनका सम्मान करना और पूजा करना और उनके वचन सुनकर उन्हे मानना, (ये तो सघपितरो सघपरिणायका ते तक्करिस्सति गुरु करिस्सति मानेस्सति पूजेस्सति तेसञ्च सोत्तब्ब मञ्ञिस्सति), (५) वज्जिसघ मे भीतर और बाहर जो चैत्य है, उनकी पूजा मान्यता बनाए रखना और पूर्वकाल से नियत बलि एवं धार्मिक कृत्यो को जारी रखना, (वज्जि चेतियानि अब्भतरानि चेव बाहिरानि च तानि सक्करिस्सति, गुरु करिस्सति, मानोस्सति पूजेस्सति तेसञ्च दिन्नपुब्ब कतपुब्ब, धम्मिक बलि तो परिहास्सति नो परिहापेस्सति), (६) वज्जि-संघ मे जो धार्मिक अरहत है उनका सम्मान करना (वज्जीन अरहतेसु धम्मिका

रक्खावरणगुत्तिसुसविहिता भविस्सति), और वज्जि स्त्रियो का सम्मान करेगे, कुलस्त्री और कुल-कुमारियो का अपहरण या उनके साथ बलपूर्वक व्यवहार न करेगे, (ये ते वज्जीन वज्जिमहल्लका ते सक्करिस्सति, गरुकरिस्सति मानेस्सति। पूजेस्सति ' या ता कुलित्थियो, कुलकुमारियो ता न ग्रावकस्स पसह्य वासेन्ति)" (महापरिनिब्बान सुत्तत)। इस अवतरण से ज्ञात होता है कि उस काल मे सघ की सफलता के लिए वह आवश्यक समझा जाता था कि सदस्यगण सघ-सभा का मान करे, जिसके अधिवेशन नियत समय पर होने चाहिएँ और जिनमे सदस्यो की बहुसख्यक उपस्थिति होती थी, वे अपने प्राचीन धर्म, रीति-रिवाज और सस्थाओ के लिए सम्मान प्रदर्शित करे और वृद्धो के अनुभव के प्रति आदरभाव रखे और नीति और शासन-क्षेत्र मे उनमे एकता हो।

जातीय चरित्र—किन्तु सघ की सफलता शासन पर इतना निर्भर न थी, जितना कि लोगो के चरित्रबल पर। बुद्ध ने स्वय कहा है कि "सघ के सदस्य विलास और आलस्य से रहित थे, वे महीन वस्त्रो के गद्दो पर न सोकर लकडी के तकिये लगाते थे और धनुर्विद्या मे उत्साह से भाग लेते थे, वे कोमल, सुकुमार और हाथ-पैरो से निर्बल न थे" (सयुक्त २।२६७-८)। वे क्रीडाओ मे रुचि रखते थे एव हस्ति-शिक्षा और श्व-मृगया के भी शौकीन थे (थेरीगाथा, अग्रेजी अनुवाद पृ० १०६, अगुत्तर, ३।७६)। उनमे से नई उम्र के लोग कुछ अल्हडपन भी कर जाते थे जैसे घरो मे उपहार के लिए भेजी जाती हुई मिठाई, गन्ने, फल, मालपुए आदि को लूट लेते थे, किन्तु बुद्ध के सामने इस नटखटपन से बाज आते थे (वही)। उनमे नैतिक साहस की कमी न थी। वड्ढ लिच्छवि ने दब्ब मल्ल पर झूठा आरोप लगाया पर फिर सचाई से अपनी भूल मान ली (विनय, प्रा० पु० मा० पृ ११८-२५)। वृद्धो, स्त्रियो, अपनी जातीय सस्थाओ के लिए उनके मन मे आदर का भाव था, जैसा कहा जा चुका है, और उनके मन मे प्राचीन पद्धति के लिए आग्रह भी था। शिक्षा पर भी वे बहुत ध्यान देते थे। कथा है कि महालि अध्ययन के लिए तक्षशिला गया और लौटने पर उसने ५०० लिच्छवि-कुमारो को शिक्षित बनाया जिन्होने स्वय शिक्षित होकर सारे देश मे शिक्षा फैला दी (धम्मपद अट्ठकथा, पालि टैक्स्ट सोसायटी, १, पृ ३३८)। किसी वज्जिपुत्त की गाथा थेरीगाथा मे सगृहीत भी है (थेरीगाथा, अग्रेजी अनुवाद, पृ० १०६)।

बुद्ध और महावीर का प्रभाव—लिच्छवियो ने बुद्ध और महावीर जैसे महान् धार्मिक आचार्यो के सम्पर्क मे आकर अपने-आपको और भी उन्नत बनाया। महावीर स्वय 'वेसालिए' या वैशालिक थे (जैकबी, जैनसूत्र, प्राची पु० मा०, पृ० २६१)। यह भी ऊपर कहा जा चुका है कि सुन्दर वेश और बडे ठाटबाट और वैभव के साथ सहस्त्रो की सख्या मे मिलकर वे बुद्ध का अपने नगर मे स्वागत करने के लिए गए

थे। यह भी वर्णन आता है कि ५०० लिच्छिवि युवक अपनी तडक-भडक त्यागकर वुद्ध का उपदेश सुनते थे जिससे लिच्छिवि के वृद्ध पितामह महानाम ने आश्चर्य प्रकट किया कि "जीवन मे उद्धत वे बुद्ध के सामने इतने भले और मृदु स्वभाव के कैसे हो गए !" (अगुत्तर, ३।७५-८)। कभी तो वुद्ध के प्रति उनके जोशीले स्वागत-सत्कार से भिक्षुको के ध्यान मे भी विघ्न पडता था (वही, पृ० १६७ ८)। एक वार भिक्षु पिंगियानि की वुद्ध की प्रशसा मे गाई हुई गाथा से प्रभावित होकर ५०० लिच्छवियो ने भिक्षुक को ५०० चीवर दिए जो भिक्षुक ने वुद्ध के सामने रख दिये (वही, २३९)। कोई दुष्ट लिच्छवि राजकुमार, जिससे उसके माता-पिता भी तग रहते थे, वुद्ध के एक उपदेश से ही विलकुल वदल गया। इसमे वुद्ध की वडी प्रशसा हुई कि वह "मनुष्यो के सच्चे विजेता है जो सत्य के जुए मे मनुष्यो को जोत् देते हे" (एकपञ्ञ जातक)। अन्य प्रसिद्ध वुद्ध-भक्त लिच्छिवियो के नाम ये है—भद्दिय (अगुत्तर, २।१९०-४), साल्ह और अभय (वही, २००-२), नन्दन महामात्र (सयुक्त ५।३८९-३९०), अजन वनिय, एक राजकुमार जो अर्हत हो गया था (थेरीगाथा, पृ० ५६), वज्जिपुत्त (वही, पृ० १०६), सीह, लिच्छवियो का सेनापति निगट नातपुत्त या महावीर का शिष्य था, पीछे वुद्ध का भक्त हो गया (प्राची पु० मा०, १७।१०८ आदि), सच्चक, जो इसी प्रकार वुद्ध-भक्त वना (मज्झिम, १।२२७-२२७), एव स्त्रियो मे, सीहा, सीह की वहन की कन्या जो अर्हत-पद पर पहुँच गई थी (थेरीगाथा, पृ० ५३-४), जेन्ता (वही, २३-४), वासेट्ठि जो मिथिला मे धर्म-दीक्षित होकर अर्हत वनी (वही, ७९-८०), और अम्वपाली गणिका (वही, १२०-५)। वैशाली मे जैन-धर्म के भी कितने ही भक्त थे। जव वुद्ध और उसके शिष्यो के लिए आयोजित भोजन के अवसर पर सीह ने अपने नये उत्साह के कारण मास वनवाया तो निगठो ने वैशाली मे घर-घर जाकर यह झूठा समाचार फैला दिया कि वौद्ध लोग सीह के घर गोमास खाने आयेंगे (विनय, प्राचीन पु० मा०, १७।११६)। सच्चक नामक प्रसिद्ध जैन ५०० लिच्छवियो को साथ लेकर युद्ध का उपदेश सुनने महावन पहुँचा (मज्झिम, १।२२७-२३७)। ऐसे ही अभय और पडित कुमार भी थे (अगुत्तर, १।१२०-१)। आचार्य पुरण कश्यप के अनुयायी भी वैशाली मे थे जैसे महालि (सयुक्त ३।६८-७०)।[1]

१ इस विषय मे मुख्य प्रमाण-ग्रन्थ राइस डेविडस-कृत 'वुद्धिस्ट इण्डिया' और श्री विमलचरण लाहाकृत पाण्डित्यपूर्ण विस्तृत पुस्तक 'क्षत्रिय ट्राइब्स' है जिनसे मैने भरपूर सहायता ली है। श्री लाहा की नई पुस्तक 'ज्योग्राफी ऑफ अर्लि वुद्धिज्म' (आरम्भिक वौद्धकाल का भूगोल) भी सामग्री का भण्डार है।

सघीय कार्यपद्धति—भारतीय राजनीतिक विकास मे सघो के उदय से आवश्यक जनतन्त्रीय कार्य-पद्धति का भी विकास हुआ, जिससे सघो का कार्य नियमित और प्रशासित होता था। उस समय श्लाघनीय लोकव्यापी लहर जनतन्त्री मनोभाव और पद्धति के लिए फैल गयी थी जिसके कारण राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक क्षेत्रो मे भी सघीय कार्य-पद्धति से कामकाज का निर्वाह होने लगा।

सघ के अधिवेशन—पालि-ग्रन्थो मे बौद्ध-सघो की कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध मे रोचक सामग्री मिलती है जिससे ज्ञात होता है कि वे सच्चे जनतन्त्रीय सिद्धान्तो की छोटी-से-छोटी बातो का भी कडाई से पालन करते थे। जनतन्त्र का सार यह है कि सार्वजनिक अधिवेशन या सभाओ मे पारस्परिक वादविवाद से कार्य का निर्णय करके तदनुसार शासन चलाया जाय। पालि-ग्रन्थो मे धार्मिक सघो के इन अधिवेशनो का आदि से अन्त तक वर्णन है।

बैठने का प्रबन्ध—अधिवेशन सथागार या उद्यान (आराम) मे होते थे। आसनपञ्ञापकसज्ञक विशेष अधिकारी, जो दस वर्ष का अनुभवी भिक्षु होता था, जेष्ठानुपूर्वीक्रम से आसन लगाता (चुल्लवग्ग, १२।२।७), बैठने के लिए चटाई (वृसि) या सादे बिना किनारीदार आसन होते थे (अदसकम् निस्सिदत्तम्, वही, १२।१।१)।

सघ-पूर्ति की उपस्थिति—अधिवेशन के लिए उपस्थिति की कम-से-कम सख्या का विचार भी था। बुद्ध ने उपसम्पदा के अवसर पर केवल २ या ३ भिक्षुको के सघ को अनियमित कहा था। इस कार्य के लिए उन्होने कम-से-कम १० भिक्षुओ की गणपूर्ति का विधान किया था (महावग्ग, १।३१।२)। सीमान्त प्रदेशो मे, जहाँ भिक्षु-सख्या कम थी और कम-से-कम १० भिक्षुको का सघ बटोरने मे कठिनाई और कष्ट होता था (वही, ५।१३।४), बुद्ध ने प्रधान को लेकर भिक्षुको की सख्या घटाकर कम-से-कम ५ कर दी थी (वही, ५।१३।११)। वस्तुत ग्रन्थो मे भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए सघ की नियतोपस्थिति की सख्या भी अलग-अलग कही गई है। महावग्ग (११।४।१) मे ५ प्रकार के सघ कहे गए है जिनमे नियतोपस्थिति या पूरक सख्या ४ (चतुर्वर्ग), ५ १० २० और २० से अधिक सदस्यो की होती थी। यो चतुर्वर्ग था ४ भिक्षुको का सघ सबसे छोटा था (वही, ८।२४।१), किन्तु ऐसा सघ सीमान्त देशो को छोडकर अन्यत्र उपसम्पदा आदि के महत्त्वपूर्ण कार्य न कर सकता था।[1]

१ इस विषय मे देखिए डा० सुकुमारदत्त-कृत 'अर्लि बुद्धिस्ट मोनाकिज्म' (केगन पाल, लन्दन), जायसवालकृत हिन्दू राज्यतन्त्र, और विनयकुमार सरकार-कृत 'पॉलिटिकल थ्यूरोज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स ऑफ हिन्दूज')।

अध्यक्ष—सघ का अध्यक्ष विनयधर कहलाता था। पूरक-सख्या मे उसकी गिनती न होती थी (वही, ५।१३।१०)।

सघपूरक सख्या—भिक्खुनी, सिक्खमाना, सामणेर, दूसरे धर्मों के प्रतिनिधि या दूसरे जनपदो के व्यक्ति या जिनके विरुद्ध सघ ने कार्यवाही की हो, सघपूरक सख्या मे न गिने जाते थे (वही, ६।४।२)।

कार्य-पद्धति की नियमपरायणता—सघ-पूर्ति की सख्या के अभाव मे सघ वग्ग या व्यग्र कहलाता था (समग्ग या समग्र का उलटा, वही, ६।२।४)। असम्पूर्ण भिक्षु-सघ का निर्णय वग्गकम्म अनियमित था और उस पर अमल न किया जाता था (अकम्म न च करणीय, ६।३।२)। अनुपस्थित सदस्यो की अनुमति से भी इसे नियमित नही बनाया जा सकता था (चुल्लवग्ग ११।१।१०)। योग्य सदस्यो की पूरी बैठक सम्मुखा भी कहलाती थी (वही, १।३) अवैध निर्णय को सघ की दूसरी बैठक किच्चाधिकरण के रूप मे (कृत्याधिकरण) अर्थात् नियमित बैठक मे कार्यवाही की सपुष्टि के समय विरुद्ध घोषित किया जा सकता था (चुल्लवग्ग-४।१४।२)। इसके विषय मे इस प्रकार कहा है, जो ऐसी बात हो, जिसे सघ को करना चाहिए (किच्चयता=कर्तव्यता), जो करणीय हो (करणीयता), ऐसा विषय जिसके लिए नियमानुसार आज्ञा लेनी उचित हो, (अवलोकन कर्म), प्रस्ताव (ज्ञप्ति कर्म) १ या ३ बार जिसकी सघ के सामने आवृत्ति हो, ये सब वैध कार्य-पद्धति के अग है। समतपसादिका टीका मे बुद्धघोष ने अवलोकन कर्म की व्याख्या इस प्रकार की है, सीमत्थक (सीमात्थक) सघ सोधेत्वा छन्दारहान छन्द आहरित्वा समग्गाम अनुमतिया तिक्खतु (=त्रिकृत्व), सावेत्वा कातब्बकम्म (प्राची पु० मा० २०, ३७ मे उद्धृत)। इस अवतरण मे सघ के वैध अधिवेशन की सब शर्तें इस प्रकार है, (१) सघपूरक सख्या मे उपस्थित (समग्गम), (२) केवल ऐसे सदस्यो से उसका सगठन जो सभा मे उपस्थित होने के अधिकारी हैं, (३) उपस्थित या अनुपस्थित सब अधिकारी सदस्यो के छन्द या मत का सग्रह, (४) विचार्य विषको के लिए सघ की अनुमति, (५) ३ बार विचार्य विषय या ज्ञप्ति की घोषणा।

गणपूरक—सघ अधिवेशन मे गणपूर्ति के लिए दूसरे सघो के सदस्य विशेष रूप मे इस कार्य के लिए भेजे गए व्यक्तियो द्वारा बुला लिये जाते थे। जो सदस्य गणपूर्ति कराता था, उसे गणपूरक कहते थे (महावग्ग ३।६।६)।

कार्य के नियम—अधिवेशन के लिए सघ उपयुक्त नियम बनाता था। बैठक मे प्रस्ताव के बिना कोई विषय उपस्थित नही हो सकता था। प्रस्ताव (ज्ञप्ति) को औपचारिक रूप मे उपस्थित करना (स्थापन) आवश्यक था। उसके बाद उसका नियमित अनुस्सावन या आवृत्ति होती थी (महावग्ग, ६।३।१२) जिससे वे सब उसे सुन ले। इस प्रकार सघ के सामने वाद-विवाद केवल उसी प्रस्ताव तक सीमित

रहता था। इधर-उधर की असम्बद्ध बातो (अनग्र) के लिए कोई मौका न था। जिस ज्ञप्ति पर कोई मतभेद न होता था, वह एक बार पढी जाती थी, अन्यथा होने पर उसका ३ बार पढना आवश्यक था। पहली को ज्ञप्ति द्वितीय-कर्म और दूसरी स्थिति को ज्ञप्ति चतुर्थ-कर्म कहते थे (चुल्लवग्ग, ४।१४।२।११)।

मौनरूपी सम्मति—ज्ञप्ति प्रस्तुत होने पर किसी सदस्य का मौन रह जाना उसकी सहमति समझी जाती थी। जो सदस्य पक्ष मे होते थे, उन्हे मौन रखने को कहा जाता था, और जो कोई विरुद्ध होता, वह अपना मत व्यक्त करता था (महावग्ग, १।२८-५)।

अधिकर्म—सघ के द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव सघ-कर्म कहलाते थे। सघ के इस प्रकार के स्वीकृत प्रस्ताव की मूल शब्दावली का पारिभाषिक नाम 'कर्मवाचा' था। (वही ६।३।१)।

उदाहरण—महावग्ग मे दिये हुए उदाहरण के द्वारा यह कार्य-पद्धति सरलता से समझ मे आ सकती है (१।२८।३-६)। प्रस्तावकर्ता सर्वप्रथम उपस्थित सदस्यो के सम्मुख अपने इष्ट प्रस्ताव की घोषणा करता था, इसे ज्ञप्ति कहते थे। ज्ञप्ति के अनन्तर सघ से प्रश्न पूछा जाता था कि क्या वह ज्ञप्ति से सहमत हैं? यह प्रश्न एक बार (ज्ञप्ति द्वितीय-कर्म) या चार बार (ज्ञप्ति चतुर्थ-कर्म) पूछा जाता था जैसा निम्नलिखित वर्णन से ज्ञात होगा—"विद्वान योग्य भिक्षु सघ से इस प्रकार ज्ञप्ति करे

"भन्ते, सघ मेरी बात सुने। अमुक व्यक्ति 'क उपसम्पदा ग्रहण करना चाहता है। यदि सघ तैयार (प्राप्तकाल) हो तो सघ 'क' को सम्पदा दे।" यह ज्ञप्ति है।

"भन्ते, सघ मेरी बात सुने। अमुक व्यक्ति 'क' उपसम्पदा ग्रहण करना चाहता है, सघ 'क' को उपसम्पदा देना चाहता है। भदन्त भिक्षुओ मे से जो उपसम्पदा के पक्ष मे हो, वे मौन रहे और जो कोई उसके पक्ष मे न हो वह भाषण करे (भाषेत)।

"अब दूसरी बार मैं इसी अर्थ को कहता हूँ—भन्ते, सघ मेरी बात सुने···

"अब तीसरी बार फिर मैं इस अर्थ को कहता हूँ (तृतीयमपि एतदर्थं वदामि)। भन्ते, सघ मेरी बात सुने ·।

" 'क' ने उपसम्पदा ग्रहण कर ली। सघ उसके पक्ष मे है, अतएव मौन है। ऐसा मैं समझता हूँ (क्षमति सघस्य तस्मात्तूष्णीम्, एव धारयामीति)।"

वादविवाद—ज्ञप्तियो को सदस्य मौन या तूर्ष्णीभाव से ही सदा ग्रहण न करते थे—प्राय उसमे वादविवाद भी उठ खडा होता था। सदस्यो मे 'भण्डन, कलह और विवाद उठ खडा होता था' (चुल्लवग्ग, ४।८।६), 'अर्थहीन भाषण दिये जाते है और एक भी बात का अभिप्राय स्पष्ट नही होता' (वही, १४।१६, १२।२।७)।

सम्मत होने की युक्तियाँ—प्राचीन भारतीय जनतन्त्र का उद्देश्य था कि इन बैठको मे जैसे भी हो, सब निश्चयो के बारे मे सदस्यो का एकमत प्राप्त किया जाय। इसके लिए सब सम्भव युक्तियाँ खोजी जाती थी। इस भाँति सम्मत होने के लिए युक्त को 'तिनवत्थारक' (अर्थात् तृण से ढकना) कहते थे। यह उपाय वहाँ काम मे लाया जाता था जहाँ किसी सघ के भिक्षु झगडे, कलह और वाद-विवाद मे लगे ही रहते थे और एक दूसरे पर दोषारोपण करते थे। तब ऐसा विचार होता था कि अगर सघ उन्हे "उन दोषो के विषय मे एक-दूसरे से निपटने के लिए स्वतन्त्र छोड दे तो उससे उनमे और मनमुटाव और मतभेद बढेगा।" अतएव एकता लाने के लिए बडा विचित्र ढग काम मे लाया जाता था। सदस्य लोग "किसी निश्चित जगह पर इकट्ठे होते थे।" तब वे हरेक दल के नेता से कहते कि विवाद के विषय को अपने दल के सामने रखकर निपटा दे। इन वर्गित या दलीय बैठको (पार्टी मीटिंग्स) मे जो निश्चय होता था, उसे सारा सघ मान लेता था (वही, ४।१६)।

यदि कभी किसी स्थान-विशेष (आवास) का सघ किसी प्रश्न को आपस मे तय न कर पाता था तो ऐसी हालत मे वे दूसरे आवास के किसी बडे सघ से उस प्रश्न के निर्णय की प्रार्थना करते थे। आनेवाले भिक्षु विवादग्रस्त विषय के निश्चय के लिए सघ को समय की अवधि भी बतला देते थे (वही, ४।१४। १८)।

उद्वाहिका सभा—समझौते के लिए तीसरा उपाय यह था कि एक उपसमिति नियत कर दी जाय जो उस पर विचार करे। इसे उब्बाहिक (उद्वाहिका) सभा कहते थे। यह एक प्रकार से विषय का अन्यत्र अर्पण (रेफरेंडम) था जिसके द्वारा विवादग्रस्त विषय सारे सघ मे हटाकर समिति को अर्पित कर दिया जाता था (उद्वाहिका सभा का यह अर्थ भी हो सकता है कि वह सभा सदस्यो को निर्णय तक उद्वहन करती या पहुँचाती थी)। यह उपसमिति चुने हुए सदस्यो से बनाई जाती थी जो अपने गुणो के कारण, जैसे शील, आचार, बहुश्रुत, सूत्रधर, सूत्र सन्निचय, विनयधर इत्यादि गुणो से युक्त होने के कारण ही चुने जाते थे (वही, ४।१४।१९)।

समिति को सख्या-पूर्ति की आवश्यकता न थी। एक जगह ८ सदस्यो की समिति का उल्लेख है जिनमे एक प्रधान और एक मन्त्री था। मन्त्री प्रधान के आगे समिति द्वारा विभिन्न विचार्य विषय रखता जाता था और शलाका ग्रहण या गुप्त मतदान की रीति से निर्णय कराता जाता था (इद पठम सलाक निखिपामि, वही १२।२।८)।

निर्विघ्न विचार के लिए समिति अन्य स्थान मे, जो सुन्दर, शान्त और एकान्त

होता था, चली जाती थी। ऐसी जगह को बालिक-आराम कहा गया है।

ऐसी समिति कुछ-कुछ पचायत के ढग की होती थी और उसका निर्णय अवश्य माननीय होता था। एक प्रकार से वे बडी सभा द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि होते थे जो विवादग्रस्त प्रश्न का निर्णय करते थे।

प्रतिनिधि चुनने का सिद्धान्त—इस पचसमिति आयोग के सदस्यो की नियुक्ति मे प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त छिपा हुआ है।

निर्णीत विषय सम्बन्धी बाधकता—जो निर्णीत हो चुका है उसे पुन सघ के सामने न लाया जाय, यह सिद्धान्त भी चुल्लवग्ग (४।१४।१६) मे उल्लिखित है। वहाँ उस व्यक्ति के लिए दण्ड-विधान किया गया है जो किसी निर्णीत प्रश्न को (वुपसन्त) फिर छेडता है (उक्कोटेति=उत्कोटयति), अथवा जिस निश्चय के लिए वह अपनी सम्मति दे चुका है (छन्ददायको), उसकी फिर शिकायत करता है (खीयति)।

विशेषज्ञो की उपस्थिति मे निर्णय—इसके लिए 'सम्मुख-विनय', यह पारिभाषिक शब्द था ('प्रोसीडिंग इन प्रेजेन्स')। यह उस जगह लागू होता था जहाँ सदस्य आपस मे सहमत होकर किसी निर्णय पर पहुचते थे। सम्मुख-विनय के लिए सघ, धम्म, विनय और विवाद से सम्बन्धित व्यक्ति की उपस्थिति आवश्यक थी। सघ की उपस्थिति का अर्थ यह था, कि सब अधिकारी सदस्यो (कम्मापत्ता= कर्म्मापन्ना) की उपस्थिति, उनकी स्वीकृति की सूचना प्रस्तुत करना, जो उससे सहमत थे, और बैठक मे उपस्थित सदस्यो के बीच मे प्रस्ताव से किसी का विरोध न करना। इससे यह सूचित होता है कि जो सदस्य सघ की बैठक मे अनुपस्थित रहते थे उनकी सम्मति का वजन भी निर्णय पर पडता था। धर्म और विनय की उपस्थिति से तात्पर्य उनके विशेषज्ञो से था। इस प्रकार सघ अपना निर्णय विषय से सम्बन्ध रखने वाले समस्त व्यक्तियो और उससे प्रभावित पक्षो को उचित प्रतिनिधित्व देकर करता था (वही)।

बहुमत—जब एकमत होने की सब युक्तियाँ और रास्ते बन्द हो जाते थे, या ऊपर कही उद्वाहिका भी स्वय निश्चय पर पहुचने मे असमर्थ रहती थी, तो सारा सघ मामले पर विचार करता था और बहुमत के द्वारा उसका निश्चय करता था। इस पद्धति को येभुय्यस्सिकेन (अर्थात् जो बहुत कहे वैसी क्रिया करना—यद् भूयसिका क्रिया, वही, ४।८।९) कहते थे।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, शाक्य सघ की सभा को ऐसा जीवन-मरण का प्रश्न भी, कि वे कोसलराज विडूडभ के लिए नगर के द्वार खोलकर उसकी अधीनता स्वीकार कर लें या नही, बहुमत से तय करना पडा था। इससे सूचित होता है कि जनतन्त्र की यह मूलभूत बात राजनीतिक और धार्मिक दोनो प्रकार

की सस्थाओ के लिए विशेषत लागू थी, किसी एक मे सीमित नही थी।

मतदान अधिकारी—ऐसा सदस्य जो पक्षपात, दोष, मोह और भय से रहित होता था, सघ के विशेष प्रस्ताव द्वारा मतदान का अधिकारी या शलाका-ग्राहक नियुक्त किया जाता था (वही, १४।६)।

मतदान—मत के लिए बडा साभिप्राय शब्द था—'छन्द' जिसका अर्थ है 'स्वतन्त्रता'। इस प्रकार मतदान स्वतन्त्र, स्वच्छन्द होता था (महावग्ग, २।२३, ३।५, ६।३।५ आदि, चुल्लवग्ग, ४-१४ आदि)। मतदान शलाका-ग्रहण से होता था। शलाकाएँ लकडी की बनी हुई होती थी और सदस्यो मे बाँट दी जाती थी। प्रत्येक सदस्य से कहा जाता था कि वह उस रग की शलाका को चुने जो उसके मत के अनुरूप हो, और यह निर्देश रहता था कि वह इसे किसी को दिखाए नही।

शलाकाए एकत्र करने वाला अधिकारी शलाका-ग्राहापक कहलाता था। उनके सग्रह की कई विधियाँ थी (१) छिपे ढग से (गुह्यक), (२) कान के पास आहिस्ता से कहकर (स्वकर्णजल्पक), (३) खुले रूप मे (विवृतक), और (४) सबके सामने (विश्वस्त)। स्वकर्णजल्पक विधि मे शलाका ग्राहापक मतदाता के कान के पास मुँह ले जाकर बता देता था कि किस रग का क्या अर्थ था और कौन-सी शलाका उसे चुननी चाहिए (वही)। बुद्धघोष के अनुसार (ओल्डेनवर्ग, विनयपिटक २।३१५) शलाका-ग्राहापक स्वर्णजल्पक विधि के प्रयोग द्वारा किसी अच्छे प्रस्ताव के लिए उसके मत को प्रभावित करता था। यदि मतदान 'धर्म' के विरुद्ध होता था तो वह उसे रद्द भी कर सकता था।

बहुमत सदा ग्राह्य न था—कहा जा चुका है कि बहुमत केवल अतिम अवस्था मे ही लिया जाता था क्योकि इससे कुछ व्यक्तियो का बलपूर्वक नियन्त्रण होता था। ग्रन्थो मे कहा है कि बहुमत की विधि वहाँ लागू न करनी चाहिए जहाँ बात बिलकुल तुच्छ हो (अवरमात्रक), या जहाँ प्रस्ताव पर निर्दिष्ट पद्धति द्वारा विचार न किया गया हो (इसमे समिति या निर्णायक पचो के विचार की बात भी सम्मिलित है जिसका विवरण ऊपर दिया गया है), या जहाँ विवादग्रस्त विषय सदस्यो को स्पष्ट नही हो, या जब मतदान से सघ के टूट जाने या धर्म के नाश होने की आशका हो। इससे यह प्रकट होता है कि मतदान-अधिकारी या शलाका-ग्राहापक को बडे पूरे अधिकार थे, जिनसे वह किन्ही बातो मे मतदान के फल को स्थगित या उसका निग्रह भी कर सकता था।

अवैध मतदान—जिसमे अधर्म से मत दिया जाय, या सदस्यो मे असमान व्यवहार से, या वर्ग मे बाँटकर, या मतदाता की सम्मति (यथादृष्टि) के विपरीत वह मतदान अवैध होता था (वही)।

साराश—उपरोक्त नियमो को लागू करते हुए ग्रन्थो मे स्पष्ट किया गया है

कि यथोचित रूप से सगठित सभा का वध अधिनियम (धम्मेन समग्गकम्म) का क्या अर्थ था। समग्गकम्म या वैध निर्णय की शर्तें ये थी (१)सभा मे वही व्यक्ति उपस्थित रहते थे, जो मतदान के अधिकारी (कम्मपत्ता) थे, (२) प्रस्ताव या ञप्ति को एक या तीन बार दुहराकर (अनुस्सावन) सभा के सामने रखना (स्थापन), (३) जो मतदान के अधिकारी हो उन सब के मतो का ग्रहण करना (छन्दारहान छन्दो आहटो होति), (४) उपस्थित सदस्यो से विरोध का न होना (सम्मुखीभूता न पटिक्कोसति), और(५)आवश्यकतानुसार एक या तीन आवृत्ति द्वारा प्रस्ताव को पारित घोषित करना (एकया कम्मवाचया तीहि कम्मवाचहि कम्म करोति, महावग्ग, ६।३।६)। यह भी स्पष्ट होता है कि प्रत्येक बौद्ध, सघ, चाहे जितना छोटा हो, प्राचीन यूनान के नगर-राज्यो की भाँति अपने क्षेत्र (आवास) मे सार्वजनिक मतदान के आधार पर सदस्यो के साथ सीधा सम्बन्ध रखने की पद्धति द्वारा प्रजातन्त्रीय रीति से कार्य करता था। ऊपर कहा जा चुका है कि बुद्ध ने सघ की अपरिहानि या वृद्धि की एक शर्त यह कही थी कि सब सदस्य सभा की बैठको मे भाग लें जो पूरी (समग्गा) उपस्थिति से और बहुधा हुआ करे।

सभा का लेखक या पुस्तपाल—दीघ निकाय के महागोविन्द सुत्तत के वाक्यो (१६-१४)से ज्ञात होता है कि सघ की कार्यवाही लिखने के लिए लेखक भी होते थे। तावतिस देवो की सुधम्मा सभा मे कहे हुए वचनो (वुत्त वचन) और कार्यवाही (पच्चनुसिट्ठ वचन) को लिखने के लिए ४ अधिकारी नियुक्त किये गए थे (जायसवाल, 'हिन्दू पॉलिटी', पृ० ११२)।

समग्र सघ मतप्रकाशन (रेफरेण्डम)—अन्त मे कहा जा सकता है कि समग्र सघ के मतदान की विधि भी वैध उपाय था। जातक सख्या १ मे कहा गया है कि राजा का चुनाव समस्त नगर (सकल नगर) के मत से हुआ। नागरिको ने एकमत होकर (एकच्छन्दा भूत्व) अपना निर्णय दिया (वही, ११५)।

धार्मिक आन्दोलन—श्रमण भिक्षुओ का उदय—राज्य और सघो के ऊपर लिखे वर्णन से स्पष्ट है कि उस युग की राजनीति पर वर्द्धमान महावीर और गौतम बुद्ध जैसे धार्मिक नेताओ का, जिन्होने जैन और बौद्ध-धर्म की स्थापना की, कितना प्रभाव था। मौलिक दृष्टि से देखने पर कहा जा सकता है कि ये दोनो धर्म स्वतन्त्र या असम्बन्धित आन्दोलनो के रूप मे उत्पन्न नही हुए किन्तु ब्राह्मण-धर्म या वैदिक-धर्मरूपी एतद्देशीय सस्कृति की शाखाओ के रूप मे ही इनका उदय हुआ। उन्होने पूर्ववर्ती धर्म की कुछ बातो को चुना और अन्य बातो को छोडकर उन पर ही महत्त्व देते हुए उन्हे अपने दृष्टिकोण का आधार बनाया। दोनो का सगठन भिक्षु-सघ के रूप मे हुआ, अतएव पहले से चले आते हुए जो बहुसख्यक

परिव्राजक सम्प्रदाय थे, उनमे ही ये दो और बढ गए, यद्यपि ये उन सबमे अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए।

वैदिक सस्कृति से सन्यास-धर्म की उत्पत्ति—वस्तुत सन्यास-धर्म का मूल बीज वेद मे पाया जाता है और वैदिक दर्शन के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ उपनिषदो से उसका स्पष्ट समर्थन होता है। जैसा ऊपर कह चुके है, वैदिक धर्म का केन्द्र ऋषि था, जो तप के द्वारा सत्य का साक्षात् अनुभव करने की योग्यता रखता था, (ऋग्वेद, १०।१०६।४, आदि)। इससे वह देवेषित मुनि (देवो से प्रेरणा पाया हुआ), विप्र, मनीषी का पद प्राप्त करता था (पूर्व दिये हुए प्रमाण देखिए)। स्वय आरण्यको की रचना अरण्यो के आश्रमो मे हुई जहाँ उपनिषदो की सम्मति मे पराविद्या, वेदान्त, आत्मिक ज्ञान के जिज्ञासु को अवश्य एकान्तवास करना चाहिए (मुण्डक उपनिषद्)। "जो ब्रह्मविद् होता है, वह मुनि हो जाता है। केवल ब्रह्मलोक की कामना से मुनि अपना घर त्याग देते है। ऐसा जानकर प्राचीन समय के लोगो ने सन्तान की इच्छा नही की और प्रजा, धन और नये-नये लोको की इच्छा त्याग करके भिक्षु के रूप मे विचरण किया (भैक्षचर्य्यं चरन्ति)" (बृहदारण्यक उपनिषद्, पूर्व उद्धृत)। तब भिक्षाचरण (भैक्षचर्य्या) और ससार का त्याग, इस श्रुतिप्रतिपादित धर्म को स्मृतियो ने एक पद्धति का रूप दिया और प्रत्येक हिन्दू के लिए (शूद्र को छोडकर), अर्थात् वर्णाश्रम धर्म के माननेवाले प्रत्येक हिन्दू के लिए, यह आवश्यक विधान किया कि वह अपने जीवन का उत्तरार्ध दो आश्रमो मे बिताए—प्रथम, वानप्रस्थ, वनी या वैखानस सज्ञक आश्रम मे और उसके बाद परिव्राजक या भिक्षु, या यति (मनु. ५।१३७), या मौनी (आपस्तम्ब, २।६।२१।१), या भिक्षाचरण करनेवाले सन्यासी के रूप मे। इससे भी अधिक यह कि ब्राह्मण-पद्धति मे तप का जीवन केवल वयोवृद्ध गृहस्थो के लिए न था, उसका द्वार उन नवयुवको के लिए भी खुला था जो अध्यात्म की खोज मे ससार से विरक्त हो जाते और तब नैष्ठिक ब्रह्मचारी का पद प्राप्त करते थे।

ब्राह्मण-धर्म की समाज-व्यवस्था मे उसका स्थान—इस प्रकार ब्राह्मण-धर्म की सामान्य व्यवस्था मे लगभग आधे से अधिक समाज के लिए ससार से विरत होकर सत्य की जिज्ञासा मे ज्ञानियो के पथ-प्रदर्शन मे भिक्षु या तपस्वी का जीवन व्यतीत करना विधिवत् था। अनिकेत विचरने वाला यह समुदाय विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायो मे सगठित था, जो अपने-अपने आचार्यों द्वारा अनुशिष्ट मत और तप के विभिन्न मार्गों का अनुसरण करते थे। बहुत पहले ही इनके नियम ग्रन्थरूप मे निबद्ध कर लिये गए थे। पाणिनि की कृति मे ही भिक्षु-सूत्रो का उल्लेख आता है, जो भिक्षु या परिव्राजको के जीवन-व्रतो और नियमो के सग्रह-ग्रन्थ ज्ञात होते है। पाणिनि ने कार्मन्दिन और पाराशरिण—इन दो प्रकार के भिक्षुओ का भी

उल्लेख किया है। सम्भवत पाराशरी सम्प्रदाय महत्त्वपूर्ण था। बुद्ध ने भी पाराशरीय नामक एक ब्राह्मण आचार्य के मत का विवेचन किया था (मज्झिम, ३।२९८)। गौतम और बौधायन के प्राचीनतम धर्म-सूत्रो मे भी विखनस के कहे हुए सूत्र-ग्रन्थ का उल्लेख आता है, जिसका पालन वैखानस या वानप्रस्थी भिक्षु करते थे। वैखानस शास्त्र का नाम श्रामणक भी था, क्योकि वह श्रमणो के लिए उद्दिष्ट था। कुछ भिक्षु-धर्मों का, जो बौद्ध-धर्म से भी पहले के थे, उल्लेख यहाँ समीचीन होगा, यद्यपि उनका संकेत पहले भी किया जा चुका है (१) गौतम का यह आदेश कि भिक्षु वर्षाऋतु मे किसी एक स्थान पर रहें (ध्रुवशीलो वर्षासु) (२) उनका यह आदेश कि भिक्षु व्यवहार-वस्तुओ का संचय न करें, प्राणि-हिंसा, यहाँ तक कि बीज-हिंसा भी न करें, (३) भिक्षा के सम्बन्ध मे उनके बताये हुए नियम; अथवा (४) वस्त्र से छना हुआ पानी पीने के सम्बन्ध मे बौधायन का कथन। जैन और बौद्ध विनय के नियमो पर भली-भाँति विचार करके जैकोबी ने सिद्ध किया है कि उन दोनो का आधार ब्राह्मण भिक्षुओ के आचार-सम्बन्धी नियम थे (प्रा० पु० मा०, भूमिका, पृ० २७-३०)।

तपस्वियो का ज्ञाननिरत जीवन—इस प्रकार भिक्षु-धर्म वानप्रस्थ और परिव्राजक सन्यासियो के जीवन मे मूर्त हुआ था, जिनके अपने-अपने विशेष नियम थे। दोनो मे अन्तर यह था कि वानप्रस्थ गाँव से बाहर, पास के जंगल मे आश्रम बनाकर एक स्थान पर रहता था, किन्तु परिव्राजक सदा विचरता रहता था, और "वर्षा को छोडकर किसी अन्य ऋतु मे दो रात एक स्थान पर न टिकता था" (गौतम,पूर्वोद्धृत)। किन्तु संसार त्याग देने के विषय मे दोनो के विचारो मे मौलिक एकता थी। पालि-ग्रन्थो मे इसे अगार से अनगारिकावस्था मे परिव्राजित होना कहा है। (अगारस्मा अनगारियं पव्वजति—दीघ, १।६० आदि)। परिव्राजको की एक विशेषता यही थी कि वे दार्शनिक चिन्तन और ज्ञान-सम्बन्धी विचार-विनिमय से प्रेम करते थे। उपनिषदो मे इसके कई उल्लेख है कि विद्वान् व्यक्ति रूप मे अथवा कई मिलकर देश मे विचरते थे और विद्या के प्रसिद्ध केन्द्रो मे शास्त्रार्थ करते हुए ज्ञान का विस्तार करते थे। श्रुतियो मे उन्हे चरक आचार्य कहा है, अर्थात् विचरण करने वाले विद्वान्, स्मृतियो मे उन्हे परिव्राजक कहा गया है। ये दार्शनिक विमर्श जनक-सदृश राजाओ की सभाओ मे होते थे, अथवा पाञ्चालो की परिषदो जैसी परिषदो मे, या संथागारो मे, या समयप्पवादक-शालाओ मे, जैसा कि पालि-ग्रन्थों मे उन्हे कहा गया है, या सभाओ मे, जैसा स्मृतियो मे कहा है। पालि-ग्रन्थों मे उन स्थानो के सम्बन्ध मे, जहाँ इस प्रकार के दार्शनिक विमर्श सार्वजनिक रूप मे होते थे, बहुत-सी सामग्री है। उदाहरण के लिए, श्रावस्ती मे रानी मल्लिका का उद्यान (डॉयलाग्स, १।२४४), "जहाँ विभिन्न सम्प्रदायों की दृष्टियो पर विचार

किया जाता था", अथवा वैशाली के वाहर महावन मे लिच्छवियो का वनवाया हुआ कूटागार, अथवा चम्पा की रानी गग्गरा की पुष्करिणी का सुरक्षित चम्पक उद्यान (वही, १।४४), या राजगृह मे मोर-निवाप (जहाँ मोरो को चुग्गा खिलाया जाता था) नामक स्थान (मज्झिम, २।१।२६)। ये वापविवाद परिव्राजको द्वारा अपने मत का प्रचार करने के उत्साह के फल थे। प्राय इनके परिणामस्वरूप उनके विभिन्न सम्प्रदायो और मतो मे परस्पर आदान-प्रदान और परिवर्तन होता रहता था। बुद्ध के जीवन की कहानी ४५ वर्षो के दीर्घकालीन धर्मोपदेश के फल-स्वरूप वौद्धेतर आचार्यो के मत-परिवर्तन से भरी पडी है। जैन-धर्म ने भी अचेलक और आजीवको से वहुत-कुछ ग्रहण किया, जैसा जैकोबी ने (जैन-सूत्र, भूमिका) और हर्नले ने (उवास-गदनाओ, पृ० १०८-१११) दिखाया है।

ग्रन्थो मे जो चित्र खीचा गया है उससे ज्ञात होता है कि वन के शान्त और एकान्त प्रदेश मे स्थित आश्रम मे प्रसिद्ध आचार्य के चारो ओर शिष्यो का समुदाय एकत्र हो जाता था और वे उसके साथ वन के कन्द-मूल-फल खाते हुए निवास करते थे, ध्यान, पञ्चमहायज्ञ, तप का अभ्यास (तप शील) करते थे, अथवा अपने आचार्य से अपने विशेष सूत्र या शास्त्र के मूल-ग्रन्थो और सिद्धान्तो का अध्ययन करते थे। दूसरी श्रेणी के भिक्षु अर्थात् परिव्राजक भिक्षा मांगकर, अग्नि-पक्व आहार स्वीकार करके जीवन विताते थे, और वानप्रस्थ और सन्यासियो के सम्पर्क मे आते हुए उस प्रकार के सवादो मे निरत रहते थे जिनमे अनेक गृहस्थ भी आकृष्ट होते थे। "ऐसे ही दीघनख बुद्ध के पास गये, वुद्धसकुलदायि के पास गये, वेखनस्स (क्या वह धर्मसूत्र मे कथित वैखानस थे ?) वुद्ध की सेवा मे उप-स्थित हुए और उसी पकार केनिय भी, एव पोतलिपुत्त गमिद्धि की सेवा मे उप-स्थित हुए" (राइस डेविड्स, वुद्धकालीन भारत, पृ० १४२)।

वौद्धो से इतर भिक्षु-सम्प्रदाय—निस्सन्देह देश मे विचरण करने वाले व्यक्ति-गत रूप से अनेक परिव्राजक आचार्य थे, किन्तु इसमे सन्देह है कि उनके सघ भी अलग-अलग थे, या जैन और वौद्ध सम्प्रदायो की तरह उनके सगठन थे। जैन और वौद्ध-ग्रन्थो मे ब्राह्मण-धर्म मे कितने ही प्राचीनतर भिक्षु सम्प्रदायो के नाम हैं, किन्तु वे दार्शनिक मतो के सूक्ष्म भेदो तक ही सीमित थे, जैसे साकियपुत्त समण अथवा निगण्ठनातपुत्त। सस्थापित सघो के रूप मे उनका सामुदायिक अस्तित्व न था। इस प्रकार ब्रह्मजाल सूत्र मे वौद्ध-धर्म के उदय से पूर्व श्रमणो और ब्राह्मणो के ६२ दार्शनिक मतो या दिट्ठियो का उल्लेख है और जैन-ग्रन्थो (जैसे सूत्र कृताग, २।२।७६) मे उनकी सख्या ३६३ है।[1] उनके नामो की एक सूची अगुत्तर मे इस

१. टीकाकारो के अनुसार इन ३६३ मतो मे १८० क्रियावादी, ८४ अक्रिया-वादी, ६७ अज्ञानिकवादी, और ३२ वैनयिकवादी थे।

प्रकार मिलती है

(१) आजीविक—इस मत के अनुयायी नगे रहा करते थे और आहारवृत्ति के सम्बन्ध मे अत्यन्त कठोर नियमो का पालन करते थे।

(२) निगठ (=निर्ग्रन्थ—बन्धनरहित)—यह जैनो की सज्ञा थी जो केवल कौपीन धारण करते थे।

(३) मुण्ड सावक—मुण्डित साधुओ के शिष्य, बुद्धघोष के अनुसार निगठो के समान।

(४) जटिलक—जो केशो को जटा-रूप मे बांधते थे। जैसा पहले कहा गया है, गौतम ने जटिल सज्ञा बैखानस के लिए प्रयोग की थी। जटिल ब्राह्मण थे, उनका केन्द्र उरुवेला मे था, जो राजगृह के पास एक छावनी या सेनाग्राम था, जहाँ कस्सप गोत्र के उरुवेला कस्सप, नदी कस्सप और गया कस्सप नामक ३ आचार्यों के साथ वे १००० की सख्या मे रहते थे। वे अग्नि की परिचर्या करते थे और बुद्ध ने उन्हे परिवास या परीक्षाकाल की शर्त से मुक्त कर दिया था, क्योकि एक तो वे सहयोगी भिक्षु-सम्प्रदाय के सदस्य थे (महावग्ग, १।३८।३), और दूसरे उनका दार्शनिक मत समुन्नत था (वही)।

(५) परिव्राजक—ब्राह्मण-धर्म के अनुसार विचरण करने वाले सन्यासियो की सामान्य सज्ञा।

(६) मगण्डिक—अज्ञात।

(७) तेदण्डिक—त्रिदण्ड धारण करने वाले, जिनका उल्लेख मनु ने किया है (१२-१०)। ब्राह्मण-भिक्षुओ के लिए बौद्धो ने यह नाम रखा था।

(८) अविरुद्धक—जिनका मत विरुद्ध नही था, अर्थात् मित्र।

(९) गोतमक—गोतम के अनुयायी, जो बौद्ध-धर्म के सस्थापक गोतम से भिन्न कोई आचार्य थे, या तो बुद्ध के चचेरे भाई देवदत्त की, जो एक मत का प्रवर्त्तक था, यह सज्ञा थी, या गौतम-गोत्रीय कोई ब्राह्मण था, जिसके अनुयायी भिक्षु उसी के नाम से प्रसिद्ध थे।

(१०) देवधम्मिका—जो देवो के धर्म का पालन करते हैं। इस सम्प्रदाय का उल्लेख अन्यत्र किसी ग्रन्थ मे नही मिला।

कुछ सम्प्रदायो के साथ लगे हुए सूची के नाम, यदि उनके नामो का अर्थ किया जाए, दूसरो के लिए भी शायद लागू हो सके।

विभिन्न सम्प्रदायो के भिक्षुओ का सामान्य नाम समण-ब्राह्मण था, जो तत्कालीन धार्मिक जीवन के नेता थे (डायलॉग्स, २।१६५)। अगुत्तर (४-३५) मे दो प्रकार के परिव्राजक कहे हैं (१) ब्राह्मण, (२) अञ्ञतित्थिय, अर्थात् दूसरे बुद्धेतर भिक्षु। ब्राह्मण परिव्राजको को वादिशील (सुत्तनिपात), वितण्ड,

लोकायत जो वाद-विवाद के अतिशय भक्त थे, भूतवादी (चुल्लवग्ग, ५।३-२), तेविज्ज, (३) वेदो मे निष्णात (सुत्तनिपात, ५९४), पदक, वैदिक पदपाठ या छन्द शास्त्र के ज्ञाता, वैयाकरण, व्याकरण के पण्डित और जल्प-निघण्टु, केटुभ (व्युत्पत्ति-शास्त्र ?), इतिहास इत्यादि विषयो मे अभिज्ञ कहा गया है। (वही, १०२०)।

उनमे छह प्रधान आचार्य—बौद्धेतर सम्प्रदायो मे छह सबसे बडे आचार्यों के नाम बौद्ध-ग्रन्थो मे मिलते हैं, जिनका उन दर्शनो के संस्थापको (तित्थकर) के रूप मे इस प्रकार उल्लेख किया गया है "समण ब्राह्मण सघिनो गणिनो गणाचरिया ञता यसस्सिनो तित्थकरा साधुसम्मता बहुजनस्स" अर्थात् वे धार्मिक जीवन के नेता, सघो के नेता, गणो के नेता, आचार्य, सुविख्यात, दर्शनो के यशस्वी सस्थापक और बहुसख्य जनता की दृष्टि मे अत्यन्त आदरणीय थे (सभियसुत्त, सामञ्ञफल सुत्त)। वे सब बुद्ध से आयु मे ज्येष्ठ थे, "क्योकि उनकी तुलना मे गौतम नवयुवक और धार्मिक जीवन मे अभी नये-नये थे" (सयुत्त १।६६)। वे ये थे—

(१) पूरण कस्सप वे अक्रियावाद-मत या अकर्म के प्रचारक थे अर्थात् अच्छे कर्मो मे कोई पुण्य नही और बुरे-से-बुरे कर्म मे कोई पाप नही। क्योकि वे अनुभव के पूरे थे, इसलिए पूरण कहलाते थे और ब्राह्मण होने के नाते कस्सप। वे नगे रहते थे और उनके ८०,००० अनुयायी थे।

(२) मक्खलि गोसाल उनका यह नाम इसलिए पडा था क्योकि उनके पिता स्वामी द्वारा गोशाला मे नियुक्त होकर वही काम करते थे जहाँ गोसाल का जन्म हुआ। उनका सिद्धान्त कर्म और कर्मफल दोनो का निराकरण था। मनुष्य के अध पतन को मानते थे, किन्तु उनका कहना था कि इसका कारण उस व्यक्ति का कर्म विशेष नही, बल्कि आवागमन का चक्र या नियति है। उनका मत नियतिवाद कहलाता है।

(३) अजित केसकम्बलि उनका मत था कि मृत्यु के समय सब-कुछ नष्ट हो जाता है, इसलिए कर्म द्वारा किसी फल की सम्भावना ही नही है। उनका मत उच्छेदवाद कहलाता है।

(४) ककुध कच्चायन किसी ककुध वृक्ष के नीचे उत्पन्न होने के कारण यह नाम पडा। उनका मत इस प्रकार कहा गया है, "जो सत् है, उसका विनाश नही हो सकता, जो असत् है, उससे कुछ उत्पन्न नही हो सकता" (सतो नत्थि विनासो असतो नत्थि सम्भवो)। उनके मत मे व्यक्ति का कोई उत्तरदायित्व नही। वे सात नित्य तत्त्व मानते हैं—पृथ्वी जल, अग्नि, वायु, सुख, दुख और आत्मा।

(५) निगठ नातपुत्त वे नात (ज्ञातृक) क्षत्रिय के पुत्र थे। सब बन्धनो से रहित होने के कारण वे निगठ कहलाए।

(६) सजय वेलट्ठपुत्त उस काल की समस्याओ के उत्तर मे उनके किसी मत का उल्लेख नही मिलता।

इन छह आचार्यो के पद की सूचना ऊपर कही हुई इस बात से मिलती है कि अजातशत्रु-जैसा उग्र स्वभाव का सम्राट् उनमे से हरेक के पास उपदेश के लिए गया। इनमे भी गोसाल और नातपुत्त सबसे अधिक प्रसिद्ध थे। जैन-ग्रन्थो मे गोसाल को आजीविको के सम्प्रदाय का सस्थापक कहा गया है। आजीविक भिक्षुओ के लिए सम्राट् अशोक के लेखो मे कुछ गुफाएँ दान करने का वर्णन आया है। आरम्भ मे गोसाल महावीर के शिष्य थे, पर पीछे उनमे मतभेद हो गया और वे अलग हो गए (हर्नले, उवासगदसाओ)। जैसे गोसाल का नाम बिगाडकर आजीविक कहने लगे, अर्थात् वह जो जीविका (आजीव) के लिए भिक्षु बन गया हो। बुद्ध को आजीविक भिक्षुओ से चिढ थी (मज्झिम, १।४८३)। निगठ नातपुत्त जैन-धर्म के सस्थापक भगवान् महावीर का नाम था।

बौद्ध-ग्रन्थो मे वर्णित अन्य आचार्य—इन छह समण या बौद्धेतर आचार्यों के अतिरिक्त पालि-ग्रन्थो मे अन्य कई आचार्यो का वर्णन है, जिनके अपने अनुयायी थे और जो विद्या और तप के लिए प्रसिद्ध थे, जैसे ब्राह्मण रावरी जो अस्सक जनपद मे गोदावरी के तट पर रहता था। उसके १६ शिष्य थे, जिनमे से हरेक के बहुत से प्रशिष्य थे और उसका "समस्त लोक मे बहुत विस्तृत यश था।" उन्हे स्थान-स्थान पर घूमने वाले विद्वान् कहा गया है जो उस काल के विभिन्न सास्कृतिक केन्द्रो मे, जैसे पतिट्ठान, माहिसति, उज्जेनी, गोनद्ध, 'वेदिसा वनमभय', कोसाम्बी, साकेत, सावत्थी, सेतव्य, कपिलवत्थु कुसिनारा, पावा, वेसाली और मगध जनपद के पुर आदि मे घूमते थे। वे सब जटा रखते और मृगचर्म ओढते थे (पारायनवग्ग)। इन आचार्यों के नाम और भी मिलते हैं ब्राह्मण आचार्य सेल, जिसके ३०० शिष्य थे, चकी, तारुक्ख और उनके शिष्य भारद्वाज, पोक्खरसाति और उनका शिष्य वासेट्ठ, जाणुस्सोणि, तोदेय्य, जो सब तीन वेदो और सम्बन्धित विषयो के माने हुए विद्वान् थे (सुत्तनिपात, ५९४)। तेविज्ज सुत्त मे (दीघनिकाय, १।२३५), वासेट्ठ के कई ब्राह्मण सम्प्रदाय, यजुर्वेद के अध्वर्यु और तैत्तिरीय नामक चरण, सामवेद का छान्दोग्य नामक चरण और ऋग्वेद के वह्वृच चरण का उल्लेख किया है। ग्रन्थो मे बहुत-से ऐसे परिव्राजको का भी वर्णन है जिनसे बुद्ध का सम्पर्क हुआ। पोट्ठपाद से, जो अपने ३०० शिष्यो के साथ मल्लिकाराम मे रहता था, बुद्ध ने भेट की थी (दीघ १।१८७)। भग्गवगोत्त अनुपिय मे रहता था, जिससे मिलने पर बुद्ध को सूचना मिली कि लिच्छिवपुत्त सुनक्खत्त चमत्कार न दिखाने के कारण उसे छोडकर चला गया था (वही, ३।१)। निग्रोध, राजगृह मे गिज्झ-कूट के समीप आश्रम मे अपने शिष्यो के साथ रहता था। बुद्ध भी वही ठहरे थे

और वह उनसे मिलने आया (वही, ३६)। मज्झिम निकाय मे इन आचार्यो के नाम है, जाणुस्सोणि और पिलोतिक (१।१७५-.), वच्छगोत्त, जो वैशाली के पास एकपुण्डरिका गाँव के परिव्राजकाराम मे रहता था (वही, ४८१-३), अग्गिवच्छगोत्त और महावच्छगोत्त (वही, ४८३-४९७), दीघनख (वही, ४९७-५०१), मागदिय कुरु जनपद मे (वही, ५०१-५१३), सन्दक, जो अपने शिष्यो के साथ कोसाम्बी मे रहता था और जिसने बुद्ध के लाभ और यश से चिढकर उनका अनुयायी होना अस्वीकार किया (वही, ५१३-५२४), पोतलीपुत्तो, जिसने बौद्ध-भिक्षु समिद्धि के किसी उपदेश से सहमत होकर उसका साथ छोड दिया (वही, ३।२०७), अन्नभार, सकुलदायी और अन्य आचार्य, जो सप्पिनी नदी के किनारे किसी बडे परिव्राजक-केन्द्र मे रहते थे (अगुत्तर, २।२९-३६), अनुगार, सकुलदायि जो राजगृह के पास वेलुवन मे बने हुए मोरनिवाप के परिव्राजकाराम मे रहते थे और जिनके विषय मे, मिलने पर बुद्ध से कहा गया था कि वे समस्त आचार्यो मे (छह श्रमण आचार्यो को लेकर) सबसे अधिक प्रतिष्ठित थे क्योकि वह स्वल्प भोजन, साधारण वेश, परिमित परिग्रह, साधारण निवास और एकान्त जीवन से सन्तुष्ट थे (मज्झिम, २।१-२२), समरण मण्डिका का पुत्र उग्गाहमानो, जो मल्लिकाराम मे रहता था, जहाँ उससे श्रावस्ती के स्थपति पचकग ने बुद्ध के दर्शन के लिए जाते हुए रास्ते मे भेट की और बुद्ध ने जिसके उपदेश का खण्डन किया (वही, २।२२-५), वेखनस्स, जो पहले श्रमणो का विरोधी था पर पीछे बुद्ध के प्रभाव मे आ गया (वही, ४०-४), सरभ, वह पहले बौद्ध-भिक्षु था, राजगृह की एक परिषद् मे बौद्ध-धर्म छोडकर परिव्राजक बन गया, पर बुद्ध ने परिषद् के सामने अपने धर्म की व्याख्या करके सबको अपने पक्ष मे कर लिया (अगुत्तर, १।१८५-८), मोलियसीवक, जिसे बुद्ध ने अपने पक्ष मे किया (वही, ३।३५६), सुतवा और सज्झो (वही, ४।३६९-३७१), सुसीम, जिसके राजगृह मे बहुत-से अनुयायी थे (सयुत्त, २।११९-१२८), कुण्डलिय, जो श्रमण और ब्राह्मणो के बीच मे रहकर प्राय परिषद् मे उनके प्राचीन धर्म-विषयक उपदेश सुनता था और बुद्ध के पास जाकर उनके उपदेश से सन्तुष्ट हुआ (वही, ५।७३-५), सञ्जय, जिसके १,००० अनुयायी थे, जिनमे कोलित और उपतिस्स गाम के ब्राह्मण ग्रामणी प्रसिद्ध सारिपुत्त और मोग्गलान थे, और सुपिय भी था। उसके अन्य अनेक आचार्यो के साथ, बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेने पर मगध के लोगो मे खलबली मच गई और उन्होने शिकायत की कि "भिक्षु गौतम तो सन्तति का अभाव, वैधव्य और कुटुम्बो का नाश करने के लिए उत्पन्न हुआ है (धम्मपद अट्ठकथा, १।८८-९०)। सभिय जो किसी क्षत्रिय परिव्राजक का पुत्र सभा मे उत्पन्न हुआ था और जो अत्यन्त विद्वान् परिव्राजक और शास्त्रार्थ मे अजेय निकला, एव नगर-द्वार के पास आश्रम

बनाकर राजकुमारो को शिल्प की शिक्षा देता था, पीछे बौद्ध भिक्षु हो गया (सुत्तनिपात अट्ठकथा, २।४२१-२)। इस सम्बन्ध मे इन आचार्यो का नामोल्लेख भी किया जा सकता है, आलार कालाम और उद्दक रामपुत्त जो दोनो बुद्ध के आरम्भकालीन गुरुओ मे थे (मज्झिम, १।२४०), आजीवक भिक्षु उपक, जिसे बुद्ध कुछ अन्य भिक्षुओ जैसे सदक, पोतलिपुत्त या सुनक्खत, के साथ अपने धर्म मे नही ला सके (वही, पृ० ६४ आदि, दीघ ३।१।५), या ब्राह्मण, वप्प, भद्दिय, महानाम, अस्सिज और उन सबका नेता कोण्डञ्ञ, जो अपने गुरु उद्दक के साथ बुद्ध के तप-साधन के समय साथी थे और बाद मे उनके सर्वप्रथम शिष्य बने।

सब सम्प्रदायो के आचार्यों की लोकव्यापी प्रतिष्ठा—इससे प्रकट होता है कि उस युग मे भारतीय धार्मिक जीवन की बडी विशेषता यह थी कि भिक्षुओ की सख्या और समुदाय अनेक थे, जिनके विषय मे उदान के जच्चद्धवग्ग (४,५,६) मे यह लिखा है, 'समबहुला नानातित्थिया समणब्राह्मणा परिब्बाजिका नाना-दिट्ठिका नानाखतिका, नानारुचिका नानादिट्ठिनिस्सयनिस्सिता" (उदान पृ० ६६ ७, पालि टैक्स्ट सोसायटी)="श्रमण और ब्राह्मणो के बहुसख्यक और विविध सम्प्रदाय थे जो परिव्राजक-धर्म के मानने वाले अनेक दिट्ठि या दार्शनिक मतो, नाना खति (क्षान्ति) या अनेक विश्वास, नाना रुचि और अनेक प्रकार की व्यवस्थाओ वाले (निस्सय=आश्रय) थे।" वे श्रावस्ती नगरी मे मिले-जुले ठट्ठ मे भिक्षा के लिए निकलते थे और "अपने भिन्न-भिन्न मतो का प्रतिपादन करते हुए और एक-दूसरे के साथ शब्दो के रूप मे मुँह के हथियार से (मुखसत्थिहि) लडते जाते थे।" कस्सप सीहनादसुत्त मे श्रमणो और ब्राह्मणो के लिए कहा है कि "वे शास्त्रार्थ मे पटु, सूक्ष्म-बुद्धि और अनुभवी, बाल की खाल निकालने वाले थे, और अपनी मेधा से विपक्षियो के मतो की धज्जियाँ उडाते हुए इधर-उधर विचरते थे", वे भोजन और वस्त्र के विषय मे तप का मार्ग ग्रहण करते (जैसा धर्मसूत्रो मे कहा गया है), जैसे नीवार, श्यामाक आदि वन्य धान्य और फल-मूल खाते, नगे रहते या फेकी हुई कथा, वल्कल या कृष्णमृगचर्म पहनते थे, शारीरिक तप के अतिरिक्त शील, चित्त, पञ्ञा (प्रज्ञा), तपोजिगुच्छा (अर्थात् अहिंसा) और विमुक्ति (मोक्ष) पर विशेष बल देते थे। सामञ्ञफलसुत्तमे कहा गया है कि गृहस्थ लोग इस लोक और परलोक मे सुख पाने के लिए श्रमण व ब्राह्मणो को दान देते थे (डायलॉग्स, १।६९), अथवा किसी राजा ने मन्त्रियो के साथ पूर्णिमा रात्रि को आनन्द लेते हुए यह इच्छा प्रकट की, "क्या कोई ऐसा श्रमण या ब्राह्मण है जिसे बुलाकर आज रात हम अपने चित्त को सन्तुष्ट करे?" (वही, ६६), अथवा राजा का दास भी यदि वह भिक्षु बनकर कषाय चीवर पहन ले और थोडे-से भोजन, आवास और एकान्त जीवन से सन्तुष्ट रहे तो राजा उसके लिए भी

सम्मानित स्वागत, चीवर, पात्र, आवरण, भेषज और रक्षा आदि की व्यवस्था करेगा (वही, ७७)। ये बातें साधु और परिव्राजकों को मिलने वाले लोक-व्यापी सम्मान के सूचक हैं, जो अशोक के समय तक भी प्रचलित रहा, क्योंकि उसने अपने कई लेखों में धर्म की व्याख्या करते हुए श्रमण और ब्राह्मणों का सम्मान करना और उन्हें दान देना भी धर्म का अंग कहा है। यही भाव आज तक चला आया है।

ब्राह्मण-भिक्षु-सम्प्रदायों में आस्तिकता-विरोधी बातें—ऊपर उद्धृत वाक्यों से ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों और श्रवणों के ऐसे सम्प्रदाय, जो बौद्ध न थे, दासों को अपने में प्रविष्ट कर लेते थे, यद्यपि बौद्ध संघ का यह नियम था कि कोई भी भागा हुआ दास भिक्षु नहीं बनाया जा सकता, अर्थात् केवल वही दास, जिसे उसके स्वामी ने आज्ञा दी हो या मुक्त कर दिया हो, संघ में प्रवेश पा सकता था (विनय प्रा० पु० मा०, ११।९९)। शूद्र भी संघ में लिये जाते थे जैसा दीघ के आजञ्ञसुत्त में और मज्झिम के मधुरसुत्त में कहा है। जातक, ३।३८१ में एक कुम्हार, और ४।३९२ में एक चंडाल के श्रमण होने का उल्लेख है, किन्तु बौद्ध-श्रमण नहीं। इन अबौद्ध या ब्राह्मण भिक्षुओं में भी मतभेद, विरोध और नास्तिकता के चिह्न प्रकट होने लगे थे और उनमें ही जैन-धर्म और बौद्ध धर्म दोनों का असली बीज खोजा जा सकता है। ब्राह्मण-धर्म के परिव्राजक धार्मिक संस्कार के उत्तर-दायित्व से मुक्त थे, क्योंकि उनका जीवन भ्रमणशील था, पर कहीं इस शिथिलता का दुरुपयोग न हो, इसलिए वसिष्ठ ने (१०।४) इस प्रकार चेतावनी दी है, "वह समस्त धार्मिक क्रियाओं का अनुष्ठान भले छोड़ दे, किन्तु वेद का पारायण कभी न छोड़े।" इस प्रकार के स्पष्ट प्रतिषेध का अर्थ है कि जिन क्रियाओं का प्रतिषेध किया गया है, वे उनके जीवन में रही होंगी, और इस प्रकार की बातें ब्राह्मणेतर भिक्षुओं और विरोधियों में फैल रही थी, जो जैन और बौद्ध-विचार-पद्धति के पूर्व-चिह्न थे।[1]

जैन धर्म का उदय : पार्श्व का जीवन—जैन अनुश्रुति के अनुसार जैन-धर्म अत्यन्त प्राचीन काल से चला आता था जिसमें २४ तीर्थंकरों की परम्परा हुई। उनमें प्रथम ऋषभ थे, जिन्होंने राजा होते हुए राजपाट अपने पुत्र भरत को देकर सन्यास ले लिया, तेईसवें पार्श्व थे जो ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। भद्रबाहु-कृत ३००

---

१ इस विषय के मुख्य प्रमाण-ग्रन्थ ये हैं राइस डेविड्स के लेख, विशेषतः उनकी 'बुद्धिस्ट इण्डिया' और 'डायलॉग्स' ग्रन्थों में सूत्रों की भूमिका, श्री विमलचरण लाहा के ग्रन्थ, 'विशेषतः बुद्धिस्ट स्टडीज' में उनके लेख, जिनका मैं ऋणी ।

ई० पू० से पहले कल्पसूत्र-ग्रन्थ के अनुसार (प्रा० पु० मा०, २२) पार्श्व क्षत्रिय थे जो काशिराज इक्ष्वाकुवंशी अश्वसेन और उसकी रानी वामा के पुत्र थे। उनका विवाह प्रभावती से हुआ था जो कुशस्थल[1] के राजा नरवर्मन की कन्या थी, जिसका पुत्र प्रसेनजित् था (हेमचन्द्र, त्रिषष्टिशलाका पर्व ९)। राजकुमार पार्श्व को कोटिसादाणीय अर्थात् सर्वजनप्रिय कहा गया है। वे ३० वर्ष तक गृहस्थ जीवन मे रहे। फिर विशाला नाम की अपनी पालकी मे बैठकर काशी नगर के बीच से होते हुए पीछे चलती हुई बहुजनता के साथ आश्रमपद नामक उद्यान मे पहुँचे और वहाँ साढे तीन दिन बिलकुल निराहार रहकर भिक्षु बन गए। ८३ दिन की गम्भीर समाधि के बाद उन्हे सर्वोच्च ज्ञान या 'केवल' ज्ञान प्राप्त हुआ। उनके ८ गण और ८ गणधर थे, जिनके नाम ये हैं—शुभ, आर्यघोष, वसिष्ठ, ब्रह्मचारी, सौम्य, श्रीधर, वीरभद्र और यश। पार्श्व के अनुयायियो मे आर्यदत्त की प्रधानता मे १६,००० श्रमण, पुष्पकुला की प्रमुखता मे ३८,००० भिक्षुणियाँ, सुव्रत की प्रधानता मे १,६४,००० उपासक और सुनन्दा के नेतृत्व मे ३,२७,००० उपासिकाएँ थी, ऐसी अनुश्रुति है। वे १०० वर्ष तक जिए और सम्मेत शिखर (जिसका नाम पार्श्वनाथ पहाडी प्रसिद्ध हुआ, गोमो स्थान के पास) पर ८३ शिष्यो के साथ निर्वाण को प्राप्त हुए। यह घटना महावीर की मृत्यु से लगभग २५० वर्ष पूर्व हुई। इस प्रकार पार्श्वनाथ आठवी शती ई० पू० मे हुए।

पार्श्व और महावीर के सम्बन्ध—जैन-धर्म के इतिहासमे इसके बाद के महान् व्यक्ति महावीर हुए। उनका और पार्श्व का सम्बन्ध प्राचीन आगम-साहित्य मे कुछ सूचित होता है जहाँ केशि और गौतम की भेट का वर्णन है। (प्रा० पु० मा०,४५।११६)। केशि, पार्श्व के सम्प्रदाय का नवयुवक श्रमण था जो श्रावस्ती के तिन्दुक वन मे ठहरा हुआ था। उसी नगर के कोष्ठक नामक दूसरे वन मे तीर्थंकर वर्द्धमान का, जो उस समय जीवित थे, शिष्य गौतम भी रहता था। केशि और गौतम दोनो के अपने-अपने बहुत से शिष्य थे। दोनो के शिष्यो के मन मे इस

१ हेमचन्द्र ने हेमकोष' मे कुशस्थल की पहचान कान्यकुब्ज से की है जो दक्षिण पचाल की राजधानी थी। पुराणो मे यहाँ के राजा सेनजित (=प्रसेनजित्?) का उल्लेख है (पार्जिटर, प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक अनुश्रुति, पृ० १४६)। 'उत्तराध्ययनसूत्र' मे दक्षिण-पचाल मे काम्पिल्य के एक प्रसिद्ध राजा ब्रह्मदत्त का नाम है, जिनका उल्लेख पुराणो मे भी आया है (वही, २८२)। इससे मालूम होता है कि जैन अनुश्रुति ऐतिहासिक हो सकती है। ऊपर यह उल्लेख हो चुका है कि उस युग मे काशी, कोसल और पचाल इनकी गिनती बौद्ध और जैन-ग्रन्थो मे १६ महाजनपदो मे की जाती है।

प्रकार की शकाएँ उठा करती थी

'क्या हमारा धर्म सत्य है ? या दूसरे का धर्म सत्य है ? क्या हमारा आचार और मत सत्य हैं, या दूसरे के ?'

'महान् मुनि पार्श्व का उपदिष्ट धर्म, जो चार व्रत मानता है, सत्य है, या वर्द्धमान का उपदिष्ट धर्म, जो ५ व्रतो की आज्ञा देता है ?'

'क्या वह धर्म सत्य है जो (भिक्षु के लिए) वस्त्रो का निषेध करता है, या वह जो एक अधोवस्त्र और एक उत्तरीय की आज्ञा देता है ?'

अपने शिष्यो के विचार और सन्देहो को जानकर दोनो आचार्यों ने आपस मे मिलकर निश्चय करने का विचार किया और गौतम, केशि के प्रति शिष्टाचार के भाव मे, क्योकि वह प्राचीनतर सघ का अनुयायी था, उसके पास उपस्थित हुआ। उनकी भेंट ने महत्त्वपूर्ण रूप ले लिया, क्योकि "वहाँ उत्सुकतावश अनेक विरोधी सम्प्रदाय और गृहस्थ उपासक भी एकत्र हो गए।"

पार्श्व के ४ व्रत थे (१) हिंसा न करना, (२) असत्य न बोलना, (३) चोरी न करना और (४) परिग्रह या सम्पत्ति न रखना। वर्द्धमान ने इसमे ब्रह्मचर्य का व्रत और जोड दिया था। गौतम ने शका का यह कहकर समाधान किया कि पाँचवाँ व्रत पार्श्व के चौथे व्रत मे अन्तरित था, किन्तु उसका अन्तर्भाव समझ मे नही आता है। अतएव बाद मे उसे स्पष्ट करने की आवश्यकता हुई। इससे यह भी सूचित होता है कि पार्श्व और महावीर के बीच के काल मे भिक्षुओ के नैतिक जीवन का कुछ ह्रास हुआ था, जिसके लिए बीच के समय की अवधि पर्याप्त लम्बी होनी चाहिए। इससे २५० वर्षो वाली अनुश्रुति का समर्थन होता है। दूसरी शका के विषय मे यह कहा गया कि "धर्मपरायण व्यक्तियो के बाह्य लिग या चिह्न मोक्ष मे सहायक नही होते, किन्तु केवल ज्ञान, दर्शन और चरित्र ही मोक्ष दिलाते हैं।" इस अवतरण से सिद्ध होता है कि (१) जैन-धर्म मे महावीर के जीवन-काल मे दो सम्प्रदाय हो गए थे, एक पार्श्व के प्राचीन मत का अनुयायी और दूसरा महावीर के नये मत का अनुयायी। यह उल्लेखनीय है कि महावीर के "माता-पिता स्वय पार्श्व के उपासक और श्रमणो के अनुयायी थे" (आचारागसूत्र, २।१५।१८), (२) कि पार्श्व के अनुयायी श्वेताम्बरो या श्वेत वस्त्र धारण करने वाले भिक्षुओ के पूर्व-पुरुष रहे होगे, और महावीर के अनुयायी दिगम्बर या नगे रहने वाले भिक्षुओ के, और यह (३) कि महावीर के समय मे दोनो दलो मे किसी प्रकार मेल या एकता हो गई। यह कहा गया है कि "केशि और गौतम की उस भेंट मे ज्ञान और चरित्र को सदा के लिए प्रमुख स्थान दे दिया गया और महत्त्वपूर्ण विषयो का निर्णय किया गया।" मज्झिम निकाय (३५) मे भी उल्लेख आता है कि किसी निगठ पुत्र सच्चक ने नातपुत्त को शास्त्रार्थ मे हराया। इस प्रकार पार्श्व और महावीर के

अनुयायी महावीर और बुद्ध के जीवन-काल मे पृथक् सम्प्रदायो के रूप मे विद्य-मान रहे।

वस्तुत निगठो के विषय मे बौद्ध उल्लेखो से ज्ञात होता है कि यह काफी प्राचीन और सुसगठित भिक्षुओ का सघ था। सामञ्ञफलसुत्त मे मक्खलि गोसाल ने मनुष्यो के ६ प्रकार कहे है, जिनमे तीसरे निगठ थे, जिनका सम्प्रदाय उस समय नया आरम्भ किया हुआ न रहा होगा। बौद्ध-ग्रन्थ मे एक भूल यह है कि निगठ नातपुत्त सज्ञक महावीर को पार्श्व के ४ व्रतो का उपदेष्टा कहा गया है। इस भूल का कारण यह हो सकता है कि पार्श्व का मत अभी तक बलवान था और महावीर का किया हुआ सुधार तब तक सब निगठो द्वारा स्वीकृत नही था।

महावीर का काल—महावीर का समय उनके निर्वाण की परम्परा से प्राप्त हुई तिथि से निकाला जा सकता है। अनुश्रुति है कि उनका निर्वाण विक्रम के जन्म से ४७० वर्ष पूर्व हुआ। विक्रम सवत्, विक्रम जन्म के १८ वर्ष बाद ५८ ई० पू० मे आरम्भ हुआ था, अतएव महावीर का निर्वाण (४७० + ५८ + १८) ५४६ ई०पू० मे हुआ। जैन-लेखक हेमचन्द्र (११७२ ई०) ने दूसरी अनुश्रुति को माना है, जिसके अनुसार चन्द्रगुप्त का राज्य-काल ३१३ ई० पू० मे और महावीर की मृत्यु के, जो ४६८ ई०पू० मे हुई, १५५ वर्ष बाद माना है। बुद्ध-निर्वाण की अनु-श्रुत तिथि ५४३ ई० पू० है, और बौद्ध-ग्रन्थो मे बुद्ध, महावीर और राजा कुणिक अजातशत्रु को समकालीन कहा है। बुद्ध की मृत्यु के लिए ५४३ ई०पू० की तिथि का समर्थन खारवल के अभिलेख मे आए हुए कुछ शब्दो से भी होता है।[1] अतएव महावीर के निर्वाण के लिए जो पहली तिथि ५४६ ई०पू० है, वह दूसरी तिथि की अपेक्षा सत्य के अधिक निकट है।

इसके अतिरिक्त बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार भी महावीर बुद्ध से पहले दिवगत हुए। सगीति सुत्तत मे सारिपुत्त ने कहा है, ' निगठ नाथपुत्त अभी पावा मे गत हुए हैं।" यह भी विदित है कि सारिपुत्त स्वय बुद्ध के पहले मृत्यु को प्राप्त हुए। पासा-दिक सुत्तत मे चुद ने महावीर की मृत्यु का समाचार मल्ल जनपद के सामगाम मे आनन्द को सुनाया। प्रसेनजित् ने बुद्ध से कहा था कि महावीर उनसे आयु और भिक्षु-जीवन की अवधि मे बडे थे (मज्झिम निकाय, २।१४३, सयुत्त, जटिलसुत्त)।

उनका जन्म-स्थान—उनके जन्म-स्थान और परिस्थितियो के विषय मे पहले कहा जा चुका है। वे कुण्डपुर, या कुण्डग्राम नामक नगर के उत्तरी क्षत्रिय-विभाग मे उत्पन्न हुए थे। आचाराग सूत्र मे कुण्डग्राम को सन्निवेश या सार्थो का पडाव कहा गया है। उवासगदसाओ (१।७) मे उसे कोल्लाग कहा है, जो तत्का-

१. देखिए मेरी पुस्तक 'मैन एण्ड थॉट इन एनशियन्ट इण्डिया', लन्दन, १६२४, पृ० १३१। और भी, जैकोबी, भारतीय विद्या, भाग ३, पृ० १७७।

लीन विदेह की राजधानी वैशाली नगरी का शाखा नगर था। इसीलिए महावीर को सूत्र कृताग (१।३) मे 'वेसालिए' अर्थात् वैशालिक कहा है, और आचाराग सूत्र (२।१५।१७) मे ' विदेह, विदेह के निवासी, विदेह के राजकुमार" कहा है।

उनके पिता का नाम सिद्धार्थ था। श्रेयास और यशस्वी भी उनके नाम थे। उनका गोत्र कश्यप था। उन्हे हमेशा क्षत्रिय कहा गया है, राजा नही। कुण्डग्राम जैसी छोटी बस्ती का अधिपति राजा नही माना जा सकता था, जैसा कि अनुश्रुति हमे विश्वास दिलाती है। उनकी स्त्री को भी कभी देवी न कहकर केवल क्षत्रियाणी कहा गया है। वे ज्ञातृक सज्ञक अपनी बिरादरी के मुखिया थे, और उस स्थान के अन्य मुखियो मे अधिक प्रभावशाली ज्ञात होते है, क्योकि उनका विवाह-सम्बन्ध ऊंची जगह हुआ था।

उनकी माता—सिद्धार्थ ने प्रभावशाली लिच्छवि राजा चेटक की बहन से विवाह किया था, जिसकी पुत्री मगधराज को विवाही गई थी। महावीर के पिता की तरह उनकी माता के भी तीन नाम मिलते है त्रिशला, विदेहदत्ता और प्रियकारिणी। वह वाशिष्ठ गोत्र की थी।

उनके भिन्न नाम—स्वय महावीर के भी तीन नाम मिलते हैं (१) वर्द्धमान, जो पिता ने इसलिए रखा था क्योकि उनके जन्म-समय से सुवर्णादि की वृद्धि हुई थी, (२) श्रमण, क्योकि वे राग-द्वेष से रहित थे, (३) भगवान् महावीर, यह नाम 'देवो का' दिया हुआ था, क्योकि वे भय और शका के स्थान मे निश्चल रहते थे और दु ख-सुख से उदासीन थे।

जन्म-महोत्सव—सिद्धार्थ ने अपने पुत्र का जन्म-उत्सव धूमधाम से मनाया। कुण्डपुर मे शुल्क, कर (बलि) और प्रजा से वसूल किये जाने वाले भाग मे छूट दी गई, क्रय-विक्रय स्थगित कर दिया गया था[1], किसी रक्षापुरुष को घरो मे प्रवेश करने की आज्ञा न थी, छोटे-बडे अर्थ-दण्ड क्षमा कर दिये गए, ऋण उन्मुक्त कर दिये गए, तुला और मानो मे वृद्धि कर दी गई, और सब वन्दी मुक्त कर दिये गए।" (कल्पसूत्र, अनुच्छेद १००।१०२)।

उनका परिवार—महावीर का विवाह कौण्डिन्य गोत्र की यशोदा से हुआ। उनके एक पुत्री का जन्म हुआ जिसका नाम अणोज्जा या प्रियदर्शना था (आचाराग, २।१५।१५)।

---

१ इसका तात्पर्य यह था कि लोगो को आवश्यकता की वस्तुएँ दूकानो से बिना दाम दे दी जाती थी और उनका मूल्य राज्य से दूकानदारो को मिल जाता था। बाण ने हर्ष-जन्म के समय के उत्सव मे भी इस प्रथा का उल्लेख किया है।

उनका भिक्षु-जीवन—वे तीस वर्ष तक विदेह नाम से (या 'विदेह मे' कल्पसूत्र, ११०) गृहस्थाश्रम मे रहे (वही, १७)। तब उनके माता-पिता का देहान्त हो गया और उन्होने नन्दिवर्द्धन नामक अपने बडे भाई और राज्य के प्रमुख व्यक्तियो की अनुमति से ससार का त्याग किया, एव इस अवसर पर अपनी शिविका मे बैठकर धूमधाम से सेना और सवारी के साथ, कुण्डपुर के सहस्रो प्रासादो के बीच मे होते हुए ज्ञातृको के षण्डवन नामक उद्यान मे पहुँचकर अशोक-वृक्ष के नीचे रुके और अपने सब अलकार उतारकर दो दिन तक उपवास किया और केश मुण्डित कराकर भिक्षु हो गए (वही, ११६)।

तब वे कुमार नामक गाँव मे आए (आचाराग, २।१५।२४), जहाँ कायोत्सर्ग करके तप करने लगे। आरम्भ मे पूरे एक वर्ष और एक महीने तक "वे वस्त्र पहनते रहे। बाद मे उन्होने वस्त्रो को सुवर्ण-वालुका नदी मे फेंक दिया (आचाराग, १।८।२) और हाथ मे ही भिक्षान्न लेकर नगे घूमने लगे।" इस प्रकार बारह वर्ष तक अत्यन्त क्लेश सहते हुए उन्होने तपस्या की। यहाँ तक कि जीवित कीट, सरीसृप आदि उनके शरीर पर रेंगने लगे (वही)। तेरहवें वर्ष मे उन्हे जृम्भिका-ग्राम के बाहर ऋजुपालिका नदी के तट पर गृहस्थ सामाग के क्षेत्र मे स्थित जीर्ण चैत्य के समीप शालवृक्ष के नीचे कैवल्य प्राप्त हुआ और वे अर्हत्, जिन एव केवली (सर्वज्ञ) बन गए।

उनका विहार—उन्होने पहला वर्षावास अस्थिक ग्राम मे बिताया, तीन चातुर्मास्य चम्पा और पृष्ठिचम्पा मे, बारह वैशाली और वाणियग्राम मे, चौदह राजगृह और उसके बाहरी भाग (बाहिरिका) मे, छह मिथिला मे, दो भद्रिका मे, एक आलभिका मे, एक पणितभूमि (वज्रभूमि) मे, एक श्रावस्ती मे और एक पापापुरी मे, जहाँ राजा हस्तिपाल के अधिकरण मे उनकी मृत्यु हुई (कल्पसूत्र, १२२)।

क्लेश-सहन—अपने इन विहारो के दौरान मे कर्मशाला, सभा, कूप, विपणि, निर्माणशाला, तृणकुटी, निपद्या, उद्यानशाला, नगर-श्मशान, जीर्ण आयतन या वृक्षमूल, इन सब आवास-स्थानो मे उन्होने चुपचाप सरीसृप, दुष्ट जन और ग्राम के रक्षापुरुष और शक्तिधारी सैनिको से, जिन्होने उन पर आक्रमण किए, गृहस्थो के प्रलोभनो से, अकेले स्त्री-पुरुषो से, मौन रहने के कारण उनसे दुर्व्यवहार करने वाले पथिको से, अथवा शीत से घोर कष्ट सहे (आचाराग, १।८।२)।

लाड (=राढ, या पश्चिमी बगाल) के मार्ग-रहित प्रदेश मे, वज्जभूमि (=वज्रभूमि, वीरभूमि, राढ का एक भाग) और सुब्भभूमि (सुह्म देश) मे यात्रा करते हुए उन्हे विशेष यातना सहनी पडी, जहाँ लोगो ने उन पर हमला किया, कुत्ते छोडे, देहाती भाषा के अपशब्दो का प्रयोग किया और मारपीट तक की। उस

समय राढ वन्य जातियो का निवास-स्थान था (लुक्ख देस), जो रुई की जगह घास के कपडे पहनते थे और कुत्ते पालते थे, जिसके कारण वहाँ यात्रा करना मुश्किल था (वही, ३)।

धर्म-प्रचार—वे धर्मोपदेश देकर अपने मत मे लोगो को दीक्षित करते हुए इधर-उधर घूमते रहे। "आरम्भ मे अकेले भिक्षु-रूप मे विचरते थे, किन्तु अब वे अनेक भिक्षुओ के साथ है, उनमे से प्रत्येक को विस्तार से धर्म का उपदेश करते है", इस प्रकार गोशाल ने उनके विषय मे कहा था (सूत्रकृताग, २।६।१)।

गोशाल से सम्बन्ध—उनके भ्रमण और धर्मोपदेश के विषय मे अधिक जानकारी और ब्यौरा उपलब्ध नही है। उनके उपदेश-काल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना उनका गोशाल के साथ सम्पर्क और जैन-धर्म के लिए उसके परिणाम है। पहली बार वे नालन्दा मे मिले और छह साल तक कठोर तप करते हुए कोल्लाग के पास पणियभूमि नामक स्थान मे रहे (हर्नले उवासगदसाओ, २ परिशिष्ट)। तब उनमे मतभेद हो गया और दोनो अलग होकर एक-दूसरे के मतो के आलोचक बन गए। गोशाल श्रावस्ती मे एक कुम्हार की दूकान मे रहने लगे जो हालाहला नामक स्त्री की सम्पत्ति थी और, जैसा ऊपर कहा गया है, आजीविक मत के आचार्य के रूप मे प्रसिद्ध हुए। अचेलक धर्म, शारीरिक क्लेश और रहन-सहन के ढग मे गोशाल का मत महावीर से कुछ भिन्न न था। फिर भी दोनो एक-दूसरे के निपट विरोधी हो गए और प्राय अपने अनुयायियो के द्वारा मतभेद को लेकर सघर्ष करते थे। सूत्रकृताग (२-६) मे लिखा है कि गोशाल महावीर के सिद्धान्तो का खण्डन कर रहे थे तो महावीर के शिष्य आर्द्रक ने उनका मण्डन किया। उनके खण्डन की एक युक्ति इस प्रकार थी, "जैसे कोई वणिज लाभार्थी होकर अपना भाण्ड प्रदर्शित करके माल वेचने के लिए भीड बटोर लेता है, इसी ढग पर श्रमण ज्ञातृपुत्र भी करते है।" दूसरी युक्ति मे उनका कहना है कि महावीर इसलिए जनता मे आने से डरते है कि कही कोई अधिक विद्वान् भिक्षु उनमे प्रश्न न पूछ बैठे। दूसरी ओर जैन ग्रन्थ गोशाल के विषय मे यह बात कहते है कि उन्होने अपने भिक्षुओ को स्त्रियो के साथ समागम की विचित्र ढील दे रखी थी।

प्रतिपक्षी सम्प्रदायो से वादविवाद—सूत्रकृताग के आरम्भ मे तत्कालीन मतो का उल्लेख किया है, जिनकी पहचान टीकाकार ने इस प्रकार की है (१) बौद्ध, (२) बार्हस्पत्य, (३) नास्तिक या चार्वाक, (४) वेदान्ती, (५) साख्य, (६) अदृष्टवादी (भाग्यवादी), (७) आजीविक, (८) त्रैराशिक (जीव, अजीव, नोजीव, इन तीन राशियो को मानने वाला मत-विशेष का अनुयायी, जो जैन-सघ का निह्नव अर्थात् सघ-भेद था), (९) और शैव (प्रा० पु० मा०, ४५, २३५-२४८, पाद टिप्पणी)। उसी ग्रन्थ मे (२-६) कुछ प्रतिपक्षी सम्प्रदायो के साथ जैन वाद-

विवाद का उल्लेख है, जैसे बौद्ध, वैदिक, वेदान्ती (एकदण्डी), और हस्तितापस। इसमें उदक नामक निर्ग्रन्थ, जो पार्श्व का अनुयायी था, और महावीर के शिष्य गौतम के बीच वाद-विवाद का उल्लेख है जो नालन्दा के गृहपति लेप के शेषद्रव्या नामक मज्जन-गृह के समीप हस्तियाम नामक उद्यान में हुआ, और जिसमें उदक ने गौतम के मत को मान लिया। उसी ग्रन्थ (२।१-१५-२१) में कुछ भौतिक दर्शनों का उल्लेख है जो बौद्ध-ग्रन्थ सामञ्ञफलसुत्त के अनुसार पूरणकस्सप और अजित केसकम्बिलि से सम्बन्धित कहे गए हैं, एवं एक दूसरे प्रकार के भौतिकवाद का उल्लेख है जिसे बौद्ध-ग्रन्थों में पकुद्ध कच्चायन का मत कहा है जो वैशेषिक मत से मिलता-जुलता था। वहीं भाग्यवाद या नियतिवाद के विरुद्ध-पक्षीय मत पर भी विचार किया गया। इन विरुद्ध मतों को जैनों ने क्रियावाद[1], अक्रियावाद, अज्ञानवाद और वैनयिकवाद कहा है। अज्ञानवाद या अनीश्वरवाद का सम्बन्ध सामञ्ञफलसुत्त में संजय बेलट्ठिपुत्त के साथ कहा गया है।

अपने विरुद्ध मतों के अतिरिक्त महावीर के कुछ अपने उत्साही अनुयायी भी बौद्ध हो गए। इनमें से प्रसिद्ध लिच्छवि सेनापति सीह था। नातपुत्त ने यह कहकर कि निगंठ क्रियावाद मानते हैं और उसके विपरीत बौद्ध लोग अक्रियावाद, सीह को बुद्ध के दर्शन करने से विमुख करना चाहा, किन्तु वे सफल न हुए। उनकी बात पर ध्यान न देकर सीह ने बुद्ध से भेंट की (महावग्ग, ६।३१)। ऐसा ही उपाली के विषय में हुआ (मज्झिम, ५६)।

उनके राजकीय अनुयायी—महावीर के कुछ प्रभावशाली पोषक थे, जिनके कारण उनके मत का विशेष प्रचार हुआ। इनमें से कुछ, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, राजा और कुमार थे, जैसे मगध के बिम्बिसार और अजातशत्रु या स्वयं उनके

---

१ "क्रियावाद वह मत है जिसके अनुसार आत्मा कर्मों से प्रभावित होती है। इस वर्ग में जैनधर्म, और ब्राह्मण दर्शनों में वैशेषिक और न्याय (यद्यपि इनका स्पष्ट उल्लेख बौद्ध और जैन धर्मों के ग्रन्थों में नहीं पाया जाता) एवं और भी बहुत-से दार्शनिक मत, जिनकी ओर ग्रन्थों में इशारा तो है किन्तु जिनका नाम नहीं दिया है, शामिल हैं। अक्रियावाद वह सिद्धान्त है जिसके अनुसार आत्मा कर्म नहीं करती अथवा कर्मों से प्रभावित नहीं होती। इस वर्ग में भौतिकवादियों के विभिन्न मत, ब्राह्मण दर्शनों में वेदान्त, सांख्य और योग एवं बौद्ध दर्शन आते हैं। बौद्ध-धर्म से सम्बन्धित क्षणिकवादी और शून्यवादी मतों का उल्लेख सूत्रकृतांग १।१४-४।७ में आया है।" (जैकोबी, प्रा० पु० भा० ४५, भूमिका, पृ० २५)। वैनयिक भक्ति द्वारा मोक्ष-प्राप्ति में विश्वास करते हैं जैसे अज्ञानवादी तप या कर्ममार्ग से।

मामा लिच्छवियो के राजा चेटक। उवासगदसाओ (१-६) के अनुसार वाणियगाम के राजा (चेटक, जिन्होने अपने विरोधी अजातशत्रु के मुकावले जियसत्तु (जितशत्रु) नाम रख लिया था) "महावीर का उपदेश सुनने जाया करते थे, जैसे राजा कुणिक भी अन्य अवसर पर आये थे"। अगुत्तर निकाय (३-७४) से ज्ञात होता है कि अभय नामक विद्वान् लिच्छवि राजकुमार महावीर को वडी श्रद्धा से देखते थे। राजा विम्बिसार के एक पुत्र का नाम भी अभयकुमार था, जिसे जैन अपना आश्रयदाता मानते है। किन्तु मज्झिमनिकाय (५८) मे लिखा है कि निगठ नातपुत्त ने कुछ वने-वनाए प्रश्नो के आधार पर, जिनसे वे घवरा जाएँ, अभय को वुद्ध के साथ शास्त्रार्थ के लिए उभारा, किन्तु इसका फल उलटा ही हुआ। वुद्ध ने अभय को जीतकर अपने पक्ष मे कर लिया। विम्बिसार और अजातशत्रु दोनो को जैन और वौद्ध अपना-अपना आश्रयदाता कहते है। सच्ची वात यह है कि हिन्दू-राजा सदा से सव साधुओ का सम्मान करते आए, चाहे वे किसी धर्म के हो। विशेषत अजातशत्रु के विषय मे तो कहा जा सकता है कि उसके-जैसा चरित्र और राजनीतिक आकाक्षा रखने वाला व्यक्ति धर्म को केवल सासारिक स्वार्थ-साधन के लिए ही मानता था। जैसे उसका पिता अग-विजय के लिए उत्सुक था, वैसे ही विदेह, वृजि, या लिच्छवि प्रदेश को जीतने के लिए अजातशत्रु तुला हुआ था। क्योकि जैन-धर्म लिच्छवियो का राज-पोषित धर्म था, अतएव जैनो से उसकी नही पटी। उसने जैनो के विरोधी वौद्धो का पक्ष लिया, जिन्हे पहले वह अपने पिता का कृपापात्र वता चुका था। इस वात से वह अपने नाना और महावीर के मामा लिच्छवियो के राजा के विरुद्ध विश्वस्त मन से लडाई ठान सकता था।

जैसा जैन-ग्रन्थो मे लिखा है, विवाह-सम्वन्धो के द्वारा महावीर का प्रभाव दूरस्थ राज्यो मे फैल गया था। राजा चेटक की पुत्री चेल्लना विम्विसार की रानी थी और उसी के कारण उसका जैन-धर्म की ओर झुकाव हुआ, किन्तु चेटक की और कन्याएँ ऐसे ही अच्छे घरो मे व्याही थी। सवसे वडी प्रभावती, सिन्धुसौवीर जनपद के राजा उदायण से व्याही थी, जिसके राज्य मे १६ जनपद और ३६३ नगर थे (भगवती सूत्र ४६, मेयर,'हिन्दू टेल्स', पृ० ६७)। उसकी दूसरी पुत्री पद्मावती का विवाह चम्पा के राजा दधिवाहन से हुआ था। उनकी कन्या चन्दना पहली जैन-भिक्षुणी थी (कल्पसूत्र, सूत्र १३३, और आवश्यक सूत्र)। चम्पा आरम्भ मे ही जैन-धर्म का केन्द्र वन गया था। कई तीर्थंकर वहाँ गये थे। सुधर्मा से मिलने अजातशत्रु यही आया था। उसके उत्तराधिकारी जम्बू, प्रभव, शय्यभव और वासुपूज्य, सवका इस स्थान से घनिष्ठ सम्वन्ध था (हेमचन्द्र, परिशिष्ट पर्व, सर्ग ४)। यह भी कहा है कि अजातशत्रु ने चम्पा को अपनी राजधानी वना लिया था (वही,

सर्ग ६)।

तीसरी पुत्री मृगावती कौशाम्बी के शतानीक से ब्याही थी। राजा और रानी दोनो ही भक्त-जैन थे और उनका मन्त्री और उसकी पत्नी भी इसी धर्म के थे (आवश्यक सूत्र)। राजा की बहन जयन्ती भी जैन थी (भगवती सूत्र, ४४१-३)। उसके और प्रद्योत के बीच मे युद्ध हुआ। प्रद्योत ने उसकी मृत्यु के बाद रानी मृगावती को महावीर के बीच मे पडने से भिक्षुणी बन जाने दिया। उसका पुत्र उदयन भी कौशाम्बी का राजा स्वीकार किया गया है (हेमचन्द्र, त्रिशष्टिशलाका, पर्व १०, पृ० १४२-५)। सस्कृत और बौद्ध अनुश्रुतियो के आधार पर भी वत्सराज उदयन की कथा हम ऊपर कह चुके है।

चौथी पुत्री शिवा का विवाह अवन्ति के राजा चण्ड प्रद्योत से हुआ था, जिसके विरुद्ध सौवीर के राजा उदायण ने, उसके द्वारा चुराई हुई जिन-प्रतिमा के उद्धार के लिए युद्ध ठान दिया था (मेयर, 'हिन्दू टेल्स', पृ० १०६-१०)।[1]

यो चेटक की पाँचो पुत्रियो ने अपने-अपने पतियो, सौवीर, अग, वत्स, अवन्ति और मगध के राजाओ पर जैन-धर्म का प्रभाव डाला। इसमे लिच्छवि-संघ के जन और उनके मुख्य चेटक की भी सम्मानित स्थिति और प्रतिष्ठित पद का पता चलता है। जब कि जैन-धर्म का उस पर इतना ऋण है और जैन-ग्रन्थ उसकी प्रशसा से भरे है, बौद्ध-ग्रन्थ उसके विषय मे अपेक्षाकृत चुप है।

संघो से सहायता—महावीर की मृत्यु के समय कासी और कोसल के १८ गण-राजाओ, ६ मल्लको और ६ लिच्छवियो ने मिलकर जो प्रकाशोत्सव किया था, उससे इन राज्यो पर उनके निजी तथा जैन-धर्म के प्रभाव का पता चलता है। उनका सबसे अधिक प्रभाव अपने ही जाति-सम्बन्धी लिच्छवियो पर था। उनके विषय मे 'घर का जोगी जोगडा आन गाँव का सिद्ध' यह लोकोक्ति चरितार्थ नही होती। महावीर स्वय उस सघ के सबसे प्रमुख नागरिक समझे जाते थे और जैन-ग्रन्थो मे उन्हे 'वेसालिए' या वैशालिक कहा है, और वैशाली को भी 'महावीर-जननी' या महावीर की जन्मभूमि कहा है (विमलाचरण लाहा, क्षत्रिय जातियाँ, पृ० ३१-३२)। महावीर का भी वैशाली-प्रेम इस बात मे सूचित होता है कि उन्होने अपने भिक्षु-जीवन के ४२ वर्षावासो मे बारह वहाँ बिताए। पहले कहा जा चुका है कि ज्ञातृक और वज्जि, दोनो जैन-धर्म से प्रेम करते थे। महावीर और मल्लो का सम्बन्ध इसमे प्रकट है कि वे उनके देश मे राजा हस्तिपाल के प्रासाद मे निर्वाण को प्राप्त

---

१ शाह लिखित 'आउटलाइन्स ऑफ जैनिज्म इन नार्दर्न इण्डिया' ग्रन्थ मे से इन तथ्यो और अवतरणो एव जैन-सामग्री और ग्रन्थो के सम्बन्ध मे मूल्यवान सहायता के लिए मै उसका आभार मानता हूँ।

हुए (स्टीवेन्सन, कल्पसूत्र, पृ० ९१)। महावीर के वाद भी वे जैन-धर्म के भक्त वने रहे। उग्र, भोग, क्षत्रिय और लिच्छवियो के साथ मिलकर मल्लको ने २२वें जिन का धूमधाम से स्वागत किया था (अन्तगडदसाओ, ८वां अग)। काशी का जैन-धर्म से सम्बन्ध पार्श्व के समय से चला आता था, जैसा पूर्व मे कहा गया है। कोसल की राजधानी श्रावस्ती भी महावीर का आतिथ्य करने मे वढी-चढी थी और वहां वे वहुधा जाते थे।

उनके प्रमुख शिष्य—वुद्ध की भाँति महावीर भी अपने भक्त शिष्यो के लिए प्रसिद्ध हैं, जिनमे से कुछ ने कैवल्य प्राप्त किया था। कल्पसूत्र मे उनके ११ प्रमुख शिष्य या गणधरो के नाम हैं, जो जैन-सघ के प्रमुख आचार्य थे और जिन्होने ९ गणो को धर्म का उपदेश किया। "जैन-सघ मे एक गणधर आचार्य के चरण या समस्त शिष्य-प्रशिष्य समुदाय को गण कहते हैं, कुल, एक आचार्य की शिष्य-परम्परा की सज्ञा होती है, और शाखा का तात्पर्य उन सव परम्पराओ से है जिनका उद्गम एक आचार्य से होता है" (जैकोवी, प्राचीन पु० मा० २२।२८८, पादटिप्पणी)। जैन-साहित्य मे और भी उल्लेखनीय शिष्यो के नाम हैं, जैसे गर्दभालि, जिसने काम्पिल्य के राजा सजय को भिक्षु वनाया (उत्तराध्ययन सूत्र, २८)। निम्नलिखित १० प्रधान उपासको का उवासगदसाओ मे वर्णन है

१ आनन्द, वाणियगाम के प्रमुख व्यापारी, जिनसे राजा और राजकुमार भी परामर्श करते थे,

२ कामदेव, जो वैसे ही धनी थे और चम्पा के राजा जियसत्तु के समय मे हुए, पुन्नभद्द नामक उद्यान मे उपासक वने,

३ चुलनीपिया (चुलनी का पिता) वाराणसी के पास कोट्ठगवन मे उपासक वना,

४ सुरदेव, ऊपर के स्थान मे ही उपासक वना,

५ चुल्लसयग, सावत्थी के राजा जियसत्तू (प्रसेनजित्?—उस दशा मे जियसत्तू नाम देवानापिय की तरह राजा की उपाधि होनी चाहिए) के समय मे सखवन मे उपासक वना,

६ कुण्डकोलिय, दक्षिण पचाल की राजधानी कम्पिल्लपुर के सहस्सम्बवन उद्यान मे उपासक वना,

यह रोचक है कि वह पहले मक्खलिपुत्त गोसाल के मत का अनुयायी था जो यह मानता है कि "उद्योग, परिश्रम, या वीर्य या पुरुषार्थ-जैसी कोई वस्तु नही, सव वाते पहले से ही नियत है, जिनमे कोई परिवर्तन नही हो सकता।" पर महावीर के मत मे ऐसी वात नही है, उनका मत इसके ठीक उलटा है।

७ सद्दालपुत्त, पोलासपुर के ५०० कुम्भकारो की कर्मशालाओ का स्वामी, यह

उनका अधिपति था, "जो भाँति-भाँति के छोटे-बडे पात्र और घट चाक (चक्र) पर उस मिट्टी से उतारते थे जो पहले पानी से मिलाकर गूँधी जाती थी और जिसमे बाद मे राख और गोबर मिलाया जाता था।" वह भी गोसाल के मत का अनुयायी आजीविक था। गोसाल ने फिर उसे अपने मत मे लाना चाहा, पर यह देखकर कि उसके प्रति अब रुख न था, उसने यह चाल चली कि महावीर को 'महान् माहण (=ब्राह्मण), गोप, पथ-प्रदर्शक, उपदेष्टा और जीवन-सागर का नाविक' कहकर उनकी प्रशसा की और कहा, कि वह उनके साथ शास्त्रार्थ मे असमर्थ था। कुम्भकार ने इससे प्रसन्न होकर उसके शिष्यो के लिए आसन, पीठ और शयन की व्यवस्था अपनी कुम्भकार कर्मशालाओ मे कर दी, किन्तु स्वय पक्का जैन बना रहा।

८ महासयग, जो ८ करोड स्वर्ण-कस और अन्य धन-सम्पत्ति का स्वामी था, और राजा सेनिय के समय मे रायगिह नगर के गुणसिल उद्यान मे जो उपासक बना,

९ नन्दिणीपिया, राजा जियसत्तु के समय मे सावत्थी के कोट्ठगवन मे उपासक बना,

१०. सालिहीपिया, जो उसी स्थान का था।

सम्भवत महावीर और उनके धर्म की सबसे बडी प्रशसा इन शब्दो मे मिलती है, जो मज्झिम निकाय (२।२१४) के अनुसार बुद्ध ने कहे थे

"भिक्षुओ! कुछ अचेलक, आजीविक, निगण्ठ आदि भिक्षु है, जो इस प्रकार उपदेश देते और मानते है—'जो कुछ व्यक्ति अनुभव करता है, चाहे वह सुख हो या दु ख हो, या इन दोनो से अतिरिक्त अनुभव हो, सब पूर्वकृत कर्मो का फल होता है। अतएव तप के द्वारा पुराने कर्मो का निराकरण करने से और नये कर्मों की निवृत्ति से, भविष्य मे जन्म-प्रवाह की गति नही होती, इस निवृत्ति से कर्म का नाश होता है, पाप का नाश होता है और भावना का नाश होता है, और इस प्रकार समस्त दु ख छूट जाता है।' ऐसा निगण्ठ कहते है . क्या यह सच है, मैंने उनसे पूछा कि आप इस तरह मानते और कहते है. .उन्होने उत्तर दिया.. 'हमारे नेता नातपुत्त सर्वज्ञ है. अपने ज्ञान की गम्भीरता से उन्होने हमे उपदेश दिया है, 'तुमने पूर्व मे पाप किए है। इस प्रकार कठोर और क्लेशदायी आचरण से तुम उनका क्षय करो. यो आगे चलकर सब कर्म और सब दु ख का क्षय हो जाएगा।' हम इसे स्वीकार करते है।" पहले आ चुका है कि बुद्ध के समय मे ही महावीर को सघी, गणी, गणाचार्य यशस्वी, तीर्थंकर, बहुसख्यक मनुष्यो द्वारा सम्मानित (साधु-सम्मत-बहुजनस्य), बुद्ध से आयु, अनुभव और परिव्राजक जीवन मे ज्येष्ठ माना गया।

उनकी जीवन-सम्बन्धी कुछ तिथियाँ—भगवती और कल्प-सूत्र की सामग्री

को मिलाकर देखने से ज्ञात होता है कि महावीर (अ) ३० वर्षों तक गृहस्थ-जीवन मे, (आ) १२ वर्षों तक साधक तपस्वी के रूप मे, और (इ) ३० वर्षों तक केवली या जिन के रूप मे जीवित रहे। अपने ३२वें वर्ष मे उनकी गोसाल से भेंट हुई, जिसके साथ वे छ वर्षों तक रहे। अपने ३८वें वर्ष मे वे उससे अलग हुए। इसके बाद गोसाल ने जिनत्व प्राप्त करने मे पहले की साधनावस्था मे दो वर्ष व्यतीत किए और सोलह वर्ष तक जिनावस्था मे रहे, जबकि महावीर की आयु छप्पन वर्ष की हुई। महावीर सोलह वर्ष तक और जीवित रहे। इस प्रमाण से महावीर का आयुकाल बहत्तर वर्ष निकलता है। अनुश्रुति के अनुसार यदि उनका निर्वाण ५४६ ई० पू० मे हुआ हो तो उनका जन्म ६१८ ई० पू० मे हुआ था।

जैन-धर्म की साधना-पद्धति—इतिहास के ग्रन्थ मे जैन-दर्शन या धर्म से हमारा उतना प्रयोजन नही। जीवन और अमृतत्व के सम्बन्ध मे उसके सिद्धान्त और दार्शनिक मत को अलग रखकर, व्यावहारिक जीवन मे जो उसकी साधना-पद्धति थी, उसका अच्छा परिचय उत्तराध्ययन-सूत्र के 'तप का मार्ग' शीर्षक अध्ययन से (१३ वाँ अध्याय) प्राप्त होता है। जैन-धम कर्म से आरम्भ करते हुए जन्म, मृत्यु या आवागमन के चक्र मे उस कर्म के अवश्यम्भावी परिणाम की व्याख्या करता है। अतएव तप द्वारा कर्म का क्षय करना और अशुभ कर्मो का आस्रव रोक देना (सवर कर देना), यही उद्देश्य है। उस धर्म की मुख्य बातें ये थी पाँच व्रत, जिनमे छठा और जोड दिया गया अर्थात् 'रात्रि के समय भोजन न करना', पाँच समितियाँ अर्थात् ईर्या (सयम से चलना), भाषा (सयम से बोलना), एषणा (विधि-पूर्वक भिक्षा माँगना), आदान-निक्षेप (वस्तु को लेना और उसे ढग से रखना), और प्रतिष्ठापना (मलमूत्र आदि का उचित प्रकार से विसर्जन करना), और तीन गुप्तियाँ अर्थात् मनोगुप्ति, वचोगुप्ति और कायगुप्ति, जिनके पालन से उन आस्रवो से छुटकारा मिलता है, जो कर्मो को उत्पन्न करने के (कर्मोपादान-हेतु) कारण हैं। इस मूल आधार पर बाह्य और आभ्यन्तर तप का विधान है। बाह्य तप ये है (१) अनशन (उपवास), (२) अवमोदरिका, ऊनोदरी वृत्ति अर्थात् भोजन से क्रमश निवृत्ति, यहाँ तक कि बत्तीस ग्रासो के पूरे आहार मे एक ग्रास तक पहुँचना, (३) भिक्षुचर्या, (४) रस-परित्याग, अर्थात् दूध, दही, घृत आदि विकृतियो (विकारजनक पदार्थो) का त्याग करना, (५) कायक्लेश, वीरासन आदि कठिन आसनो द्वारा शरीर को कष्ट पहुँचाना, (६) सलीनता अर्थात् इन्द्रियो का गोपन या वश मे रखना। आभ्यन्तर तप ये है (१) प्रायश्चित्त या व्रतो के दोषो की शुद्धि का साधन पापो को स्वीकार करके एव अन्य निर्दिष्ट उपायो से उनका क्षय करना, (२) विनय, (३) वैयावृत्य, सेवा, (४) स्वाध्याय, (५) ध्यान, और (६) व्युत्सर्ग, शरीर का त्याग, या उससे ध्यान

हटाकर हर आसन मे निश्चल रहना। इनमे से सख्या (३) और (४) की और भी रोचक व्याख्याएँ की गई है। निम्नलिखित व्यक्ति सेवा (वैयावृत्य) के अधिकारी है (१) आचार्य, (२) उपाध्याय, (३) स्थविर, (४) तपस्वी, (५) ग्लान (रोगी), (६) शैक्ष, नवदीक्षित शिष्य, (७) सार्वमिक (अपना सधर्मी), जैसे साधु साधु का सधर्मी है। ये सस्थाएँ भी सेवा की अधिक ऋणी हैं, जैसे (१) कुल, (२) गण और (३) सघ। सख्या (४) स्वाध्याय पाँच प्रकार का है (१) वाचना या पाठ दोहराना या कण्ठ करना, (२) पृच्छना या गुरु से उसके विषय मे प्रश्न पूछना, (३) परावर्तना या आवृत्ति करना, (४) अनुपेक्षा या उस पर विचार करना, एव (५) धर्मोपदेश या धार्मिक उपदेश देना। जो मुनि ये तप करता है, वह आवागमन से विलकुल मुक्त या केवली हो जाता है।

लोक मे जैन-धर्म अहिंसा और कायक्लेश के विषय मे अधिक जोर देने के लिए प्रसिद्ध है। अहिंसा का आधार यह विश्वास है कि समस्त प्रकृति, जो बिलकुल जड दीखती है, वह भी प्राण से युक्त है और जीवित हो सकती है। इस स्थिति के कारण जैन समस्त प्राणी, वीज, अकुर, पुष्प, अण्डे, माँद या गुफाएँ और ओस, कुहरा, ओले और नमी इत्यादि को सजीव मानता है (कल्पसूत्र, ४४-४५)। आत्मानुभव के लिए आवश्यक कायक्लेश के सम्बन्ध मे जैन शरीर को कठोर यातना पहुँचाते है और नगे रहना, प्रायोपवेशन (उपवास के द्वारा मृत्यु-प्राप्ति) को अच्छा समझते है। और बौद्धो की मज्झिम पटिपदा या बीच के मार्ग को सुख-भोग का रास्ता कहकर हेय समझते है। इस अतिशय अहिंसा का विचित्र फल यह हुआ कि व्यावहारिक जीवन मे इनमे मनुष्य-जीवन के प्रति उतनी रक्षा का भाव नही देखा जाता जितनी पशु, जीवाणु और वनस्पति एव बीजो के लिए।

महावीर के बाद जैन-धर्म, सघ-भेद—महावीर के वाद जैन-धर्म के इतिहास मे बहुत दिनो तक कोई ऐतिहासिक घटना नही हुई। उनके जीवनकाल मे सघ मे फूट उत्पन्न नही हुई, केवल उनके भानजे और जामाता ने कुछ विरोध किया, और बाद मे तीसगुत्त नाम के भिक्षु ने। पर उनकी मृत्यु के बाद शीघ्र ही भेद ने सिर उठाया। जब आनन्द ने चुन्द से उनकी मृत्यु का हाल सुना, उसके मुख से निकला, "मित्र चुन्द, भगवान् के सम्मुख चर्चा चलाने का यह अच्छा विषय है" (डायलॉग्स, ३-२०३ आदि)। यह लिखा है कि पावा मे महावीर की मृत्यु के बाद, "श्वेत वस्त्र धारण करने वाले श्रावक, जो नातपुत्त के अनुयायी थे, वडे क्षुब्ध, उद्विग्न और निगठो के प्रति आक्रुष्ट हुए" (शाह, जैनिज्म इन नार्दर्न इण्डिया, पृ० १०८)।

११ गणधरो मे सुधर्मा और गौतम के अतिरिक्त और सब पहले ही गत हो चुके थे और गौतम भगवान् के निर्वाण के दिन ही केवली हुए, अतएव सुधर्मा महावीर के बाद सघ-प्रमुख बने। अगले १५० वर्षों तक सघ का इतिहास प्राय घटनाशून्य है। अजातशत्रु के उत्तराधिकारी मगधराज उदायिन की जैन-धर्म पर कृपा थी, किन्तु उसे भिक्षु के वेश मे देखकर किसी राजकुमार ने उसका वध कर दिया। नन्द राजाओ का भी जैन-धर्म के प्रति कुछ अनुकूल झुकाव माना जा सकता है, यदि हम कलिंगराज खारवेल जैन के उस अभिलेख को सच मानें जिसमे आदि-जिन की प्रतिमा के राजा नन्द के पास होने का उल्लेख किया है। इसी अन्तर मे पहले गणधर सुधर्मा ५०८ ई० पू० मे गत हो गए और उनके उत्तराधिकारी जम्बु ४६४ ई० पू० मे, जिसके बाद ३ गण-स्थविर और हुए, और तब अन्तिम नन्द राजा के समय मे जैन-सघ के दो अध्यक्ष हो गए थे एक सम्भूतिविजय और दूसरे भद्रबाहु, जो कल्पसूत्र के कर्त्ता है। पहले का देहान्त चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यकाल मे हुआ और उनका शिष्य स्थूल-भद्र गद्दी पर बैठा। उनके ठीक बाद मगध मे १२ वर्ष का घोर अकाल पडा, जिसके कारण सघ की क्षति से रक्षा करने के विचार मे भद्रबाहु उसे लेकर दक्षिण की ओर चले गए और स्रवणबेलगोला नामक स्थान मे बस गए। किंवदन्ती तो यह है कि चन्द्रगुप्त मौर्य भी अपना राजपाट और ससार त्यागकर भिक्षु बनकर इस यात्रादल के साथ चले गय थे। जब दुष्काल बीत गया तो यात्री-दल लौट आया, किन्तु भद्रबाहु सघ की प्रमुखता स्थूलभद्र को सौपकर स्वय नैपाल चले गए। यह समय जैन-सघ मे भीतरी क्रान्ति का था। जो भिक्षु लौट-कर आए, उन्होने पीछे मगध मे टिक जाने वाले भिक्षुओ को विनय के नियमो मे शिथिल और धर्म मे अविश्वासी कहा, क्योकि उन्होने अचेलकत्व नियम का उल्लघन करके 'श्वेत वस्त्र' पहन लिये थे। पूर्वकालीन अगो के विस्मृत हो जाने से यह भेद और बढता गया। उस साहित्य का सग्रह करके उसे सुरक्षित रूप देने के प्रयत्न के लिए पाटलिपुत्र मे सभा बुलाई गई पर लौटकर आये हुए भिक्षुओ ने उसमे भाग नहीं लिया। इधर पुराना धार्मिक साहित्य, जिसमे गणधरो के बनाये हुए १२ अग थे, उनमे से बारहवे अग के अशभूत १४ पूर्व (पूर्वकालीन भाग) केवल भद्रबाहु को कण्ठ थे, और जब स्थूलभद्र उनसे नैपाल मे मिलने गए तो उन्होने केवल प्रथम १० पूर्व के प्रवचन की अनुमति दी। पाटलिपुत्र की सभा मे इस प्रकार आशिक रूप से जैन धार्मिक साहित्य को निबद्ध किया गया जो आगम कहलाया। उसमे कुछ नये ग्रन्थ भी थे। वही साहित्य वर्तमान श्वेताम्बर आगम का मूल है। जो भिक्षु लौटकर आए थे और अपने-आपको प्राचीनतर सघ का प्रतिनिधि मानते थे, वे दिगम्बरो के धार्मिक गुरु हुए। उनकी मान्यता

थी कि वास्तविक आगम सदा के लिए लुप्त हो गया था ।

मगध से बाहर उसके केन्द्र : उज्जैन और मथुरा—इस आन्तरिक फूट मे जैनो की शक्ति बहुत घट गई । पूर्व-भारत मे जो उनका प्रभाव था, जाता रहा, और वे पश्चिम मे अधिवासित होने लगे । अशोक ने निग्रन्थो को अपने समय का एक मुख्य सम्प्रदाय (पाषण्ड) कहा है, किन्तु उसके पौत्र और उत्तराधिकारी दशरथ का झुकाव उनके प्रतिपक्षी आजीविकों के प्रति था । अशोक के दूसरे पौत्र सम्प्रति को जैन अपना आश्रयदाता मानने लगे थे । इसका राज्य उज्जैन मे था जो अब जैन-धर्म का केन्द्र बन चुका था ।

जैनो का दूसरा केन्द्र मथुरा मे बन रहा था । यहाँ बहुसख्यक अभिलेख मिले हैं, और फूलते-फलते जैन-सघ के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है । इस सघ मे महावीर और उनके पूर्ववर्ती जिनों की मूर्तियाँ और चैत्यो की स्थापना दान द्वारा की गई थी । उनसे यह भी ज्ञान होता है कि मथुरा का सघ स्पष्ट रूप से श्वेताम्बर था, और वह छोटे-छोटे गण, कुल और शाखाओ मे बँटा हुआ था । इनमे सबसे पुराना लेख कनिष्क के ६वें (लगभग ८७ ई०) वर्ष का है, और इसमे कोटिक गण के आचार्य नागनन्दी की प्रेरणा मे जैन उपासिका विकटा द्वारा मूर्ति की प्रतिष्ठा का उल्लेख है । स्थविरावली के अनुसार इस गण की स्थापना स्थविर सुस्थित ने की थी जो महावीर के ३१३ वर्ष बाद, अर्थात् १५४ ई० पू० मे, गत हुए । इस प्रकार इस लेख से श्वेताम्बर सम्प्रदाय की प्राचीनता द्वितीय शती ई० पू० तक जाती है । मथुरा के कुछ लेखो मे भिक्षुणियो का भी उल्लेख है । इससे भी श्वेताम्बरो का सम्बन्ध सूचित होता है, क्योकि वे ही स्त्रियो को सघ-प्रवेश का अधिकार देते है ।

बाद के जैन-इतिहास मे ऐतिहासिक सामग्री का अभाव है । केवल स्थविरावली या आचार्यो की सूचियाँ और कालकाचार्य कथानक नामक एक कथा-ग्रन्थ मिलता है, जिसके अनुसार उज्जैन के राजा गर्दभिल्ल से अपमानित होकर कालक ने शक क्षत्रपो की सहायता ली, जिनका अधीश्वर शाहानुशाही (राजाओ का राजा, यह उपाधि कुषाण सिक्को पर 'श.ओनानो शाओ' के रूप मे मिलती है) था और गर्दभल्ल को राज्यच्युत कर दिया । किन्तु उसके पुत्र विक्रमादित्य ने शको को पराजित किया, अपना राज्य पुन प्राप्त किया तथा ५८ ई० पू० मे विक्रम सवत् की स्थापना की । इससे ज्ञात होता है कि कैसे उस प्राचीन काल मे जैन उज्जैन मे जाकर बसे और क्यो विक्रम सम्वत् से उनका सम्बन्ध हुआ ।

वलभी की सभा—इसके बाद की महत्त्वपूर्ण घटना गुजरात में वलभी की सभा थी, जिसके सभापति देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण थे । जिस सिद्धान्त को पाटलि-

पुत्र की सभा ने बहुत पहले स्थिर किया था, वह समय के फेर से अस्तव्यस्त हो गया था और लुप्त हो रहा था। अतएव उसे सुव्यवस्थित करके लिखित-ग्रन्थो के रूप मे उसका प्रामाणिक सस्करण निश्चय करने के लिए वलभी की वाचना हुई। इस वाचना के परिणाम से जैन-साहित्य का वह रूप स्थिर हुआ जो इस समय भी मिलता है।[1]

बौद्ध-धर्म का उदय शाक्य—बौद्ध आख्यानो के अनुसार बुद्ध राजा के पुत्र थे, और यदि उन्होने ससार न त्यागा होता तो वे चक्रवर्ती सम्राट् होते। उनके कुल को 'उत्तम और अविच्छिन्न क्षत्रिय-वश' कहा गया है (सुत्तनिपात, ४२२-३)। वह शाक्यो का कुल था जो कोसल की राजधानी साकेत (महावस्तु के अनुसार) से निर्वासित होकर हिमालय के तट प्रदेश मे चले गए और वहाँ उन्होने कपिल-वस्तु नगर की स्थापना की। अशोक-स्तम्भ और लुम्बिनी के पुरातत्त्व प्रमाणो से कपिलवस्तु स्थान की पहचान मे सहायता मिली है। शाक्य जनपद, जैसा पहले कहा गया है, एक सघ था, और उसका शासन कुछ कुलीन व्यक्ति करते थे जो राजा कहलाते थे। इसकी गणना उन छह बडे नगरो मे न थी जहाँ आनन्द ने बुद्ध के निर्वाण की कामना की थी। निर्वाण के वाद बुद्ध के शरीर-अवशेष का भाग माँगने वालो मे अजातशत्रु तो था किन्तु शाक्यो का कोई राजा न था, केवल शाक्य थे जो कोलिय, मल्ल, लिच्छवि आदि दूसरे सघ-राज्यो के समकक्ष थे।

शाक्यो का गौतम गोत्र था जैसे मल्लो का वसिष्ठ। बुद्ध को आगिरस कहा गया है (जो गौतम गोत्र का उपभेद था)।

उनमे कुछ अनार्य प्रथाएँ थी, जैसे उसी गोत्र मे या प्रतिषिद्ध सपिण्ड सम्बन्धियो के साथ विवाह कर लेना। वे वैदिक सभ्यता की भौगोलिक सीमा पर वसे थे। ई० जे० टॉमस (लाइफ ऑफ बुद्ध, पृ० २३) का अनुमान है कि उनका मूल कोल या मुण्डा वश का था।[2]

बुद्ध के माता-पिता—सिहली ग्रन्थो के अनुसार शाक्य राजा जयसेन और देवदह दोनो के एक-एक पुत्र और एक एक कन्या थी। उनके पुत्रो का एक-दूसरे की कन्या से विवाह हो गया। उनकी सन्तानो का भी इसी प्रकार विवाह हुआ। इस प्रकार जयसेन के पौत्र, सीहहनु के पुत्र शुद्धोदन ने देवदह के पुत्र अजन की दो पुत्रियो, माया और प्रजापति से विवाह किया। बुद्ध, जो उस समय सिद्धार्थ (और सर्वार्थसिद्ध भी) कहलाते थे, शुद्धोदन और माया के पुत्र और प्रजापती नन्द की माता थी।

---

१ देखिये 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री', भाग १, अध्याय ६।

२ मैने इस विषय के लिखने मे इस विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ से बहुत लाभ उठाया है।

जन्म और आरम्भिक जीवन—बुद्ध के जन्म की तिथि उनके निर्वाण की तिथि से निकाली जाती है जो सिंहली अनुश्रुति के अनुसार ५४३ ई० पू० है। वे ८० वर्ष की आयु तक जीवित रहे, अतएव उनका जन्म ६२३ ई० पू० मे हुआ। जैसा कहा जा चुका है, इस तिथि का समर्थन खारवेल के अभिलेख मे दिये हुए कुछ तथ्यो और तिथियो से होता है, किन्तु ६२३ ई० पू० की तिथि का सिंहली इतिहास-ग्रन्थो की इस बात से विरोध पडता है कि अशोक का राज्याभिषेक बुद्ध-निर्वाण के २१८ वर्ष बाद, अर्थात् ३२६ ई० पू० मे हुआ। अशोक के अभिषेक की ठीक ज्ञात तिथि २७० ई० पू० है।

'दस मास तक बोधिसत्व को गर्भ मे रखने के बाद जब प्रसव का समय निकट आया तो रानी महामाया की इच्छा अपने मातृ-कुल के नगर देवदह मे जाने की हुई। राजा ने अनुमति दे दी और कपिलवस्तु से देवदह का मार्ग साफ करके कदली से सुशोभित, मगल-कलश, ध्वजा-पताकाओ से अलकृत करके रानी को पालकी मे बिठाकर भेजा।" मार्ग मे लुम्बिनी उद्यान मे वे रुकी और शाल वृक्ष के नीचे उसकी शाखा पकडे खडी थी कि वे प्रसव-वेदना से व्याकुल हो गई। इस प्रकार बुद्ध का जन्म हुआ। किन्तु ७ दिन बाद उनकी माता का देहान्त हो गया (मज्झिम, ३।११८, निदान कथा), और उनका लालन-पालन उनकी विमाता और मौसी महाप्रजापती गौतमी ने किया जो 'उन्हे अपना ही स्तन्य-पान कराती थी।'

बुद्ध के निश्चित जन्म-स्थान की पहचान अशोक द्वारा २५० ई० पू० मे स्थापित स्तम्भ से हो सकी है, जिस पर यह लेख है—'हिद बुधे जाते सक्यमुनीत', यहाँ बुद्ध शाक्य मुनि का जन्म हुआ। इस स्थान को लेख मे लुम्बिनी (लुमिनी) कहा गया है और आजकल रुम्मिनदेई या रुपनदेहि कहते हैं। वह नौतनवा स्टेशन से लगभग १२ मील नैपाल के बिथरी जिले मे है।

पाँचवे दिन नामकरण सस्कार हुआ, जिसमे १०८ ब्राह्मण बुलाये गए।

भोग समृद्धि—वे भोग-विलास मे बडे हुए। काशी का चन्दन और काशी के सूक्ष्म कासेय्यक वस्त्र, उत्तरीय और अधोवस्त्र, एव ३ ऋतुओ के लिए ३ प्रासादो का उपभोग करते हुए (अगुत्तर १।१४५) १६ वर्ष की अवस्था को प्राप्त हुए। पिता ने उनके मनोविनोद के लिए गणिकाएँ भी नियुक्त की (जातक अट्ठकथा)। उनकी स्त्री के कई नाम मिलते है, जैसे भद्दकच्छा (बुद्धवस २६।१५), बिंबा (जातक अट्ठकथा, १२८१ और ४८५ और महापदानुसुत्त अट्ठकथा), गोपा (ललितविस्तर), और यशोधरा (उत्तरी भारत के बौद्ध ग्रन्थो मे)।

भोग-विलास और महलो के सुख के बीच मे रहकर भी जीवन के कुछ कठोर सत्यो, जैसे 'जन्म, जरा, रोग, मृत्यु दुख और अपवित्रता से वे अत्यन्त प्रभावित हुए' (मज्झिम, १।१६३)।

पुत्रजन्म और अभिनिष्क्रमण—तब उनके एक पुत्र का जन्म हुआ, पर उन्होंने सोचा कि 'इनसे बन्धन का जन्म हुआ'। इस कारण संसार त्यागने के उनके विचार को पुष्टि मिली। उसी रात जिस कमरे मे उनकी पत्नी बच्चे के मस्तक पर हाथ रखे शयन कर रही थी उसकी देहली पर खड़े होकर उन्होंने बालक की ओर अन्तिम बार देखा और महल का त्याग करके अपने घोड़े कथक पर सवार हो नगर से बाहर चले गए, और उनका सारथी छन्दक घोड़े की पूंछ पकड़े हुए पीछे-पीछे गया। यह घटना उनकी आयु के २९वें वर्ष में हुई। शाक्य, कोलिय और मल्ल के जनपदो से आगे निकलकर वे अनोमा नदी पार करके प्रात काल सूर्योदय होने पर मैनेयो के नगर अनवैनेय मे पहुँच गए। वहाँ उन्होंने अपने अलंकार और अश्व को छन्दक को सौंप दिया और केश काटकर राजसी वस्त्र के बदले मे गेरुआ वेष धारण कर लिया (ललितविस्तर)।

पालि-ग्रन्थ मज्झिम निकाय (१:२४०) मे अभिनिष्क्रमण का एक सरल रूप बुद्ध के मुख मे ही कहलाया गया है—'बोधि प्राप्त करने से पूर्व बोधिसत्त्व की दशा में ही मुझे विचार हुआ कि यह गृहस्थी का जीवन, जहाँ पूर्ण, शुद्ध धर्ममय जीवन का अभ्यास करता नहीं, वरन ही बाधक है जब मैं किशोर अवस्था मे जीवन के उठान पर कृष्ण केशों से युक्त नवयुवा था, जब अनिच्छा से युक्त मेरे माता-पिता अश्रुमलिन मुख से रुदन कर रहे थे, मैंने अपने केश-श्मश्रु काट डाले और काषाय वस्त्र धारण करके घर से बाहर हो अनिकेत जीवन में प्रविष्ट हो गया।"

उनके पहले गुरु—राजगृह के आलार और उद्रक—इस नये जीवन मे उनका पहला उत्तरदायित्व योग्य गुरु प्राप्त करना था। गुरु की आवश्यकता पर सर्वप्रथम उपनिषदो मे जोर दिया गया है। उनकी दृष्टि मे अपने-आपको शिक्षित करने का प्रयत्न अन्धे व्यक्ति की यात्रा के समान है। वे सर्वप्रथम आलार कालाम के पास गये और 'उत्तम, श्रेष्ठ और शान्तिमय जीवन' की जिज्ञासा की। आलार ऋषि अपने समाधिबल के लिए प्रसिद्ध थे, क्योंकि मार्ग के किनारे बैठे हुए भी उन्होंने ५०० शकटो के सार्थ को पास से जाते हुए न देखा और न सुना (महापरिनिब्बान सुत्त, ४।३५)। पहले गौतम ने उनके ज्ञान को इस रूप मे आत्मसात् किया कि वह उन्हें कण्ठ हो गया। किन्तु यह सत्य का अनुभव न था, वह बाद मे हुआ। जब वे शून्य अवस्था मे पहुच गए तब उनके गुरु ने शिष्य को अपने समकक्ष मान लिया, किन्तु शिष्य ने समझा कि यह प्राप्ति भी अपूर्ण है। निर्वाण की प्राप्ति वह नहीं थी। अतएव अपने गुरु से विदा होकर उन्होंने सत्य की खोज मे आगे की राह ली।

वही बात दूसरे गुरु उद्रक रामपुत्त के यहाँ हुई जिन्होंने गौतम को 'सज्ञा और

असंज्ञा से भिन्न' अवस्था की प्राप्ति का मार्ग बताया।

तप—तब वे मगध जनपद के सैनिक-सन्निवेश उरुवेला नामक स्थान मे गये और वहाँ नदी और ग्राम के समीप, जहाँ भिक्षा की सुविधा थी, रहकर उच्चतर ज्ञान के लिए प्रयत्न करने लगे। इस प्रयत्न का रूप उत्तरोत्तर कठोर होता हुआ तप था, जिसका जैन-धर्म मे उपदेश है,[1] जिसके करने से उनका शरीर अस्थि-पंजर और त्वचा मात्र रह गया। उन्होंने श्वास-प्रश्वास और भोजन दोनो का नियमन किया और केवल मूंग, कुलथी, मटर और हरेणुका का अपने अञ्जलिपुट की मात्राभर स्वल्पयूष लेकर निर्वाह करने लगे।

किन्तु यह कठोर काय-क्लेश भी उसी प्रकार निष्फल रहा। अतएव उन्होंने उसे भी छोड दिया और बोधि प्राप्त करने का दूसरा उपाय सोचा, जिसमे वे कामोपभोग और अपवित्र विचारो से बचते हुए अपना अभ्यास करे। वे भक्ष्य-भोजन, चावल, दही आदि फिर लेने लगे, जिससे उनके ५ ब्राह्मण साथियो ने यह सोचकर कि गौतम तप के मार्ग से विरत होकर भोग का मार्ग ग्रहण करना चाहते है, घृणा से उनका साथ छोड दिया।

श्रीमती राइस डेविड्स ने गौतम के इस आरम्भिक अभ्यास-काल की कथा का यह स्वरूप बताया है—"उन्होंने अपनी खोज का आरम्भ ५ परिव्राजको के साथ

---

१. जैन-लेखक देवसेनाचार्य (८वीं शती) ने अपने दर्शनसार (६-१०) ग्रन्थ मे वस्तुत. लिखा है कि बुद्ध आरम्भ मे जैन थे, और जैन आचार्य पिहिताश्रव ने सरयू नदी के तट पर स्थित पलाश नामक ग्राम मे श्री पार्श्व के संघ मे उन्हे दीक्षा दी और मुनि बुद्धिकीर्ति नाम रखा। कुछ समय बाद वे मत्स्य और मांस खाने लगे और रक्त वस्त्र पहनकर अपने धर्म का उपदेश देने लगे, और कहते थे कि इस प्रकार के भोजन मे कुछ हानि नहीं (विमलचरण लाहा कृत 'बुद्धिस्ट स्टडीज' मे कामताप्रसाद जैन का लेख, पृ० ११८)। मज्झिमनिकाय मे भी उनके सिर के केश और श्मश्रु नोचने का उल्लेख है (शीलाचार का अनुवाद २-५), जो केशलुंच क्रिया नामक जैन-प्रथा से मिलता है। वास्तविक बात यह ज्ञात होती है कि बुद्ध ने पहले आत्मानुभव के लिए उस काल मे प्रचलित दोनो साधनाओ का अभ्यास किया, आलार और उद्रक के निर्देशानुसार ब्राह्मण-मार्ग का, और तब जैन-मार्ग का और बाद मे अपने स्वतन्त्र साधना-मार्ग का विकास किया। श्रीमती राइस डेविड्स का भी मत है कि बुद्ध पहले गुरु की खोज मे वैशाली पहुँचे, वहाँ आलार उद्रक से उनकी भेंट हुई, फिर बाद मे उन्होंने जैन-धर्म की तपविधि का अभ्यास किया (गौतम द मैन, २२-५)।

किया जो पचवग्गीय भिक्खु (पाँच के गुट मे विचरने वाले भिक्षु) कहलाते थे, और जिनके नाम आञ्ञ, कोडञ्ञ, अस्सजि, वप्प, महानाम और भद्दिय थे, जिन्होने नैतिक और मानसिक जीवन मे उनकी बहुत प्रकार से सहायता की। उन्होने तप करना आरम्भ किया, जिसका वैशाली के जैनो मे बहुत प्रचार था। वे समकालीन सिद्धान्तो की भी चर्चा करते रहते थे, प्रकृति और कर्म के विषय मे जिसे निगठो से लिया, झान(=ध्यान) के विषय मे जिसे आलार और उद्दक से प्राप्त किया, एव ससार-विषयक ब्राह्मणेतर विचारो की पद्धति, जिनका सम्बन्ध साख्य से था और जिसकी आचार्य कपिल ने मथुरा या तक्षशिला मे सर्वप्रथम शिक्षा दी थी, तथा और भी बहुत-सी बातो का वे पारस्परिक विचार किया करते थे। इस सामग्री मे से गढकर गौतम ने अपना नया मार्ग निकाला (साक्य, पृ० १२३)।

ध्यान की क्रमिक अवस्थाएँ—उनकी उन्नति की क्रमिक अवस्थाएँ इस प्रकार कही गई हैं (१) प्रथम ध्यान, जिसमे विवेक से उत्पन्न प्रीति-सुख है और जो सवितर्क सविचार होता है, (२) वितर्क और विचारो का उपशम होने पर अवितर्क और अविचारयुक्त समाधि से उत्पन्न प्रीति-सुख का द्वितीय ध्यान, (३) प्रीति मे विराग भाव होने से सुखयुक्त तृतीय ध्यान, (४) चतुर्थ ध्यान, जिसमे सुख-दु ख तथा सौमनस्य और दौर्मनस्य का अभाव हो गया, (५) इस प्रकार समाहित, परिशुद्ध, पर्यवदात, निर्मल, विगत उपक्लेश चित्त से पूर्वभव की अनुस्मृति का ज्ञान प्राप्त किया, (६) अपने-अपने कर्मानुसार सत्वो का ऊँच-नीच गति मे जन्म और मृत्यु का ज्ञान, (७) मुझमे आस्रवो का क्षय हुआ है, इस प्रकार का ज्ञान होने पर मेरा चित्त कामास्रवो से, भवास्रवों से, और अविद्यास्रवो से विमुक्त हुआ, यह दु ख है, यह दु ख का समुदय है, दु ख का निरोध है, और यह दु ख-निरोध का मार्ग है, ऐसे मैंने यथाभूत ज्ञान पाया, (८) चित्त विमुक्त होने पर मैंने जाना कि मेरा पुनर्जन्म क्षीण हुआ (मज्झिम, १।२४० आदि)।

सुजाता और सोत्थिय—धार्मिक ग्रन्थो मे गौतम द्वारा सत्य की खोज का उपरोक्त वर्णन है। ग्रन्थो मे इसे छह वर्ष का सतत प्रयत्न कहा है, किन्तु बाद के लेखको ने इस अवधि को और भी अधिक घटनापूर्ण चित्रित किया है। जातक के अनुसार गौतम पहले राजगृह गये जहाँ बिम्बिसार ने अत्यन्त भक्तिपूर्वक उनका स्वागत किया, पर सत्य के जिज्ञासु और गुरुओ की खोज करने वाले गौतम ने उसे स्वीकार नही किया। महावस्तु के अनुसार वे पहले आलार से मिले, फिर बिम्बिसार से और तब उद्दक से, जिसके उपदेश के अनुसार उन्होने राजगृह मे अभ्यास किया। जब गौतम ने अद्रव भोजन लेने का निश्चय किया तो उरुवेला के सेनानी की पुत्री सुजाता ने उन्हे भोजन कराया, ऐसा जातक मे कहा गया है। वे उस समय न्यग्रोध या बोधिवृक्ष के नीचे ध्यान मे मग्न थे, पर धार्मिक ग्रन्थो मे इसका उल्लेख नही

मिलता। सोत्थिय नाम के घसियारे ने उन्हे आसन के लिए कई मुट्ठे घास दी जिस पर वे सम्बोधि प्राप्त करने के समय तक बैठे रहे।

उनके प्रथम शिष्य—बोधि प्राप्त करने के अनन्तर बुद्ध ने सोचा कि अपना ज्ञान पहले अपने दो गुरु आलार और उद्रक को बताऊँ, पर वे उस समय तक जीवित न थे। तब उन्हे उन पाँच भिक्षुओ का ध्यान आया जिन्होने उनकी बडी सेवा की थी और उस समय बनारस के इसिपत्तन के मृगदाव मे ठहरे हुए थे, अत उरुवेला से बनारस के लिए चले। बोधिवृक्ष और गया के बीच मे उन्हे आजीविक भिक्षु उपक मिला, जिसे उनके बोधि प्राप्त करने का विश्वास न हुआ और जो अपने रास्ते लम्बा पडा। इसिपत्तन मे उन पाँच भिक्षुओ से भेंट हुई जिनके सामने बुद्ध ने अपना पहला उपदेश दिया, जिसे धर्मचक्र-प्रवर्तन-सूत्र कहते है (सयुत्त, ५।४२०), जिसमे बौद्ध-धर्म के मौलिक सिद्धान्त पाए जाते है। वे इस प्रकार हैं

प्रथम उपदेश—भिक्षु को चाहिए कि दोनो अतिशय के मार्गों को अर्थात् (१) अतिकिलमथअनुयोग और (२) कामसुखल्लक अनुयोग (शरीर का क्लेश और काम-सुख) इन दोनो बातो को बचाए।

उसे मज्झिम पटिपदा या बीच के रास्ते पर चलना चाहिए और सत्य-चतुष्ठ्य को पकडना चाहिए (१) दु ख का सत्य, जो जन्म, जरा, रोग, मृत्यु, शोक, विलाप, चिन्ता, निराशा आदि के रूप मे प्रकट होता है, (२) दु ख के समुदय का सत्य, अर्थात् जन्म, राग, सुख-भोग की कामना जिससे पुनर्जन्म होता है, (३) दु ख से निवृत्ति का सत्य जिसमे त्याग के भाव मे आकर तृष्णा का अन्त हो जाता है, (४) उस मार्ग का सत्य जो दु ख की निवृत्ति कराता है अर्थात् मज्झिम पटिपदा, जो आर्य-अट्ठ गिक मार्ग का ही दूसरा नाम है, जिसमे सम्यक् दृष्टि, सम्यक् सकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्म, सम्यक् जीविका (आजीव), सम्यक् व्यायाम या उद्यम, सम्यक् ध्यान और सम्यक् समाधि सम्मिलित है।

उपदेश के बाद वे पाँचो ब्राह्मण कोडञ्ञ, वप्प, भद्दिय, महानाम और अस्सजि बुद्ध के शिष्य हो गए।

पहला सघ—इसके बाद के शिष्य ये थे—यश, जो बनारस के एक धनी श्रेष्ठी का पुत्र था, उसका पिता—जो पहला उपासक शिष्य बना, उसकी माता और उसकी पत्नी जो बुद्ध की पहली उपासिका-शिष्या बनी, और यश के चार मित्र एव उसके बाद उसके अन्य पचास साथी। यो साठ भिक्षुओ को लेकर बौद्ध-सघ ने अपना कार्य शुरू किया।

भद्रवर्गीय—वर्षा के बाद बुद्ध इसिपत्तन से उरुवेला लौट गए और मार्ग मे ३० धनी युवाओ को अपने मत मे दीक्षित किया, जिनके मुखिया का नाम भद्र था, अतएव वे भद्रवर्गीय कहलाते हैं।

१००० जटिल—उरुवेला मे ५०० जटिल अग्निहोत्री मुनि रहते थे, जिनमे मुख्य कस्सप थे, और वहा से कुछ नीचे नदी के पास उनके दो भाई रहते थे, एक नदीकस्सप ३०० शिष्यो के साथ, और दूसरा गयाकस्सप २०० शिष्यो के साथ। १००० जटिलो की इस मण्डली को बुद्ध ने अपने धर्म मे दीक्षित किया और उनको साथ लेकर राजगृह गये जहाँ राजा बिम्बिसार और जनता यह देखकर चकित हो गई कि कस्सप के सदृश महामुनि ने भी सार्वजनिक रूप से भगवान् बुद्ध के प्रति अपनी श्रद्धाजलि भेट की।

वेलुवन—बिम्बिसार ने वेलुवन नामक उद्यान बुद्ध और सघ के लिए प्रदान कर दिया।

सजय का सम्प्रदाय सारिपुत्त और मोग्गलान—राजगृह की दूसरी महत्त्व-पूर्ण घटना यह हुई कि २५० शिष्यो के साथ सजय का जो सघ था, वह टूट गया और वे सब-के-सब बौद्ध बन गए। सारिपुत्त और मोग्गलान इनमे अग्रणी थे और ये अतिशीघ्र बुद्ध के भी मुख्य शिष्य बन गए। टीकाकारो के अनुसार सारिपुत्त सारी के अथवा शारद्वती के पुत्र थे जिनका जन्म उपतिस्स नाम के ग्राम मे हुआ था। ये मोग्गलान मोग्गली नामक ब्राह्मणी के पुत्र थे और राजगृह के पास कोलित नाम के ग्राम मे जन्मे थे।

इन बहुसख्यक मत-परिवर्तनो से मगध मे खलबली मच गई और लोगो ने शिकायत की कि भिक्षु गौतम उनके मध्य मे सन्तान का अभाव, वैधव्य और परि-वारो का नाश करके छोडेगे।

कपिलवस्तु मे राहुल और नन्द—इनके धर्म-प्रचार-काल मे इसके बाद की महत्त्वपूर्ण घटनाएँ उनकी जन्मभूमि कपिलवस्तु मे घटी। वहाँ उन्होने अपने पिता को, अन्त पुर की स्त्रियो को, जिनमे उनकी पत्नी भी थी, धर्म का उपदेश दिया और अपने पुत्र राहुल और मौसी गौमती के पुत्र अपने मौसेरे भाई नन्द को भिक्षु बनाया। नन्द की दीक्षा उसी दिन हुई जो दिन उसके युवराज्याभिषेक और जनपद-कल्याणी नाम की अति सुन्दरी स्त्री के साथ विवाह के लिए नियत था। इन दोनो राजकुमारो के भिक्षु बन जाने से राजा शुद्धोदन के राज्य का कोई उत्तराधिकारी न बचा। अत्यन्त शोक मे भरकर वे बुद्ध से बोले, "भगवन्, पुत्र का प्रेम त्वचा, माँस, अस्थि को भेदता हुआ मज्जा तक पहुँचता है।" इस घटना के बाद बुद्ध ने यह नियम कर दिया कि कोई भी व्यक्ति उसके माता-पिता की अनुमति के बिना भिक्षु न बनाया जाए।

भद्रिक, अनुरुद्ध, आनन्द, उपालि और देवदत्त की अनुपिय मे दीक्षा—कुछ महत्त्वपूर्ण दीक्षाएँ अनुपिय मे दी गई। जब बुद्ध कपिलवस्तु से राजगृह लौटते हुए मार्ग मे आ रहे थे, तो शाक्य राजाओ मे से भद्दिय (भद्रिक) नाम के एक राजा

अनुरुद्ध, आनन्द, उपालि नापित और अपने चचेरे भाई देवदत्त को साथ लेकर से मिलने आए। ये सब भिक्षु बन गए और बौद्ध-धर्म के इतिहास मे उन्होने प्रसिद्धि प्राप्त की। केवल देवदत्त बुद्ध का विरोधी बना रहा, जैसे ईसाई म जूडास ईसा का था। बुद्ध ने आनन्द को अपना अग-परिचारक बनाया।

सुदत्त, अनाथपिण्डिक . उनके द्वारा श्रावस्ती मे जेतवन का दान—रा मे बुद्ध सीतवन मे ठहरे हुए थे जहाँ श्रावस्ती के श्रेष्ठी सुदत्त ने, जो कार्यवश आए थे, उनसे दीक्षा प्राप्त की। उनकी बहन, राजगृह के श्रेष्ठी की पत्नी, ने और सघ की जो आवभगत की, उससे सुदत्त बहुत प्रभावित हुए। श्रावस्ती ल कर उनकी इच्छा हुई कि राजकुमार जेत का उद्यान मोल लेकर बुद्ध के नि के लिए अर्पित करे। किन्तु जेत ने कहा कि सिवाय उतनी मुद्राओ के बद जितनी उसके फर्श पर बिछ जाएँ, वे उस उद्यान को न बेचेंगे। श्रेष्ठी ने तु बात पकड ली और जेत ने उससे हटना भी चाहा, किन्तु न्यायालय ने उसके वि निर्णय दिया। तब सुदत्त ने छकडो मे कार्षापण भरवाकर १८ कोटि मूल्यस्व उद्यान-भूमि पर बिछा दिए। इस श्रद्धाजनित कार्य से प्रभावित होकर जेत ने स एक द्वारतोरण और भण्डार वहाँ बनवाया। सुदत्त अपने विरुद अनाथपिण्डक नाम से भी प्रसिद्ध है (चुल्लवग्ग, पृ० १५६, जातक १।६२-३)।

भरहुत स्तूप की एक मूर्ति मे इस विलक्षण दान का दृश्य अकित है और पर यह उत्कीर्ण है—'जेतवन अनधपेडिको देति कोटि सथतेन केता—अना पिण्डिक कोटि धन से क्रय करके जेतवन का दान करता है। यह बौद्ध-ग्रन्थो इस वाक्य पर आश्रित है, "अनाथपिण्डिको गहपति सकटेहि हिरञ्ञ निब्बाहा जेतवण कोटिसथार सथरापेसि" (वही), —अनाथपिण्डिक गृहपति शकटो हिरण्यधन लदवाकर जेतवन मे कोटि मुद्राओ की तह बिछा रहे है।

शिल्प मे अकित दृश्य मे इस वर्णन की ये बातें दिखाई गई हैं: (अ) ए गाडी जिसके बैल खोल दिए गए हैं और उस पर से उतरे हुए (चौकोर) सिव धरती पर बिछाए जा रहे हैं, (आ) वेदिका के भीतर एक बोधिवृक्ष है जो बु की उपस्थिति का सूचक है, जिसके सामने अनाथपिण्डिक कमण्डल से दानसक का जल छोड रहा है और दूसरी ओर ३ अन्य वृक्ष उद्यान के सूचक हैं जिन चारो ओर मुद्राएँ बिछाई जा रही है, (इ) २ कूटागार है जिनमे ऊपर वाले समीप गन्धकुटि लेख उत्कीर्ण है और निचले के पास कोसम्बकुटि (सम्भव कुसुम्भ पुष्पो के सान्निध्य से इसका यह नाम पडा)।

विशाखा और उसके द्वारा पूर्वाराम का दान—बौद्ध-आख्यानो मे (धम्मप अट्ठकथा, १।३०४, अगुत्तर अट्ठकथा, १।४०४) सघ की एक अन्य सरक्षिका क उल्लेख है, जिसका नाम विशाखा था। वह अग जनपद के भद्दिय ग्राम के श्रेष्ठ

की पुत्री थी। भद्दिय को राजा बिम्बिसार ने राजा प्रसेनजित् के पास भेजा था कि कोसल मे श्रेष्ठी का कार्य करे। श्रावस्ती की ओर जाते हुए मार्ग मे उसने एक सुन्दर स्थान मे सायकाल बिताया, जिसके कारण वह स्थान साकेत कहलाता था। प्रसेनजित् ने उसे वही निवास करने की अनुमति दे दी। विशाखा का विवाह पुण्यवर्द्धन से हुआ था जो साकेत के महाश्रेष्ठी मिगार का पुत्र था। मिगार अचेलक साधुओ का शिष्य था और उन्ही के भडकाने से उसने विशाखा को निकलवाने के लिए उस पर दोषारोपण किया, किन्तु उसने उन्हे असत्य सिद्ध कर दिया। वह उसे त्यागकर चली जाना चाहती थी, जबकि बुद्ध ने वहाँ पहुँचकर उसे अपने मत मे दीक्षित कर लिया। एक बार विशाखा अपनी मूल्यवान् शिरोभूषा बिहार मे भूल आई जहाँ वह बुद्ध का उपदेश सुनने गई थी। आनन्द ने उसे सुरक्षित रख लिया किन्तु विशाखा ने उसे वापस लेना स्वीकार नही किया और बेच देने के लिए कहा। वह इतना मूल्यवान् था कि कोई ग्राहक न मिला, अतएव श्रावस्ती मे एक विहार बनवाने के लिए उस धन का उपयोग किया गया। इस विहार का नाम पूर्वाराम था। बुद्ध कभी वहाँ और कभी जेतवन मे टहरा करते थे। उसने भिक्षुओ के लिए आठ प्रकार के दानो के सदावर्त की व्यवस्था की, अर्थात् वर्षावास के लिए चीवर, आगन्तुक भिक्षु और जाने वाले भिक्षु के लिए भोजन, उसके परिचारक के लिए भोजन, रोगी भिक्षु और उसके परिचारक के लिए भोजन, रोगी भिक्षु के लिए औषध और पथ्य, एव भिक्षुणियो के लिए स्नान-शाटी।

इस दान से विदित होता है कि बौद्ध धर्म के आरम्भिक दिनो मे मान, प्रेम और समाज-सेवा का कितना व्यक्त भाव था, जिसके कारण उसके भक्तो की नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति हुई।

धर्मोपदेश के दो वर्षो के भीतर ही इस प्रकार राजगृह, कपिलवस्तु और श्रावस्ती मे तीन अति महत्त्वपूर्ण विहारो की स्थापना हो गई।

भिक्षुणी-सघ—धर्म-प्रचार के पाँचवें वर्ष मे एक महत्त्वपूर्ण घटना हुई। यह भिक्षुणी-सघ की स्थापना थी। बुद्ध उस समय वैशाली की कूटागारशाला मे ठहरे हुए थे जब उन्हे अपने पिता शुद्धोदन की मृत्यु का समाचार मिला और वे घर लौटे। वहाँ उन्हे शाक्यो और कोलियो मे रोहिणी नदी से सिंचाई का पानी लेने के बारे मे झगडे का निपटारा करना था। उस समय उनकी विधवा विमाता महाप्रजापति ने उपस्थित होकर उनसे भिक्षुणी बनने की आज्ञा चाही। बुद्ध ने अनुमति देने से तीन बार इन्कार किया और वैशाली लौट आए, पर वह उनके पीछे-पीछे 'सूजे पैरो से, धूल मे लथपथ और रोती हुई द्वार के बाहर' वहाँ भी पहुँची। तब आनन्द ने बीच मे पडकर उसे इस शर्त पर आज्ञा दिलाई कि वह आठ नियमो का कड़ाई से पालन करेगी, जैसे भिक्षुणी अपने पद का विचार न

करते हुए सदा भिक्षु का अभिवादन करे, कभी किसी कारणवश भी भिक्षु की भर्त्सना न करे या उसे अपशब्द न कहे, जहाँ भिक्षु न हो वहाँ वर्षावास न करे, इत्यादि। किन्तु बुद्ध ने सावधानी वरतते हुए यह कह दिया था कि ये कठोर नियम उसी प्रकार आवश्यक हैं जैसे तडाग के जल को रोकने के लिए बाँध की आवश्यकता होती है, पर स्त्रियो के सघ मे आ जाने से सघ उस घर की तरह हो जाएगा जहाँ पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक होने से लुटेरो के घुस आने की आशका हो, और जहाँ पहले सघ दीर्घजीवी होता और १००० वर्ष तक रहता वहाँ अब ५०० वर्ष चलेगा, अधिक टिकाऊ न रहेगा।

प्रसिद्ध भिक्षुणियाँ—भिक्षुणी-सघ के विषय मे उनका सक्षिप्त इतिहास देना यहाँ उचित होगा। गोतमी के बाद उसकी पुत्री नन्दा और भद्दा कच्चाना (बुद्ध-पत्नी यशोधरा) भी सघ मे प्रविष्ट हुई। थेरी गाथा मे भिक्षुणियो के नाम उल्लिखित हैं जिनमे १२ प्रसिद्ध और ऐतिहासिक हैं। बिम्बिसार की पत्नी खेमा राजा प्रसेनजित् को उपदेश देने के योग्य थी। धम्मदिन्ना ने एक पूरे सुत्त की रचना की थी (मज्झिम, १।२९९)। श्रावस्ती की किसा (=कृष्ण) गोतमी एकमात्र सन्तान के गत हो जाने पर भिक्षुणी हुई और पीछे अर्हत् बनी।

बौद्धेतर स्त्री परिव्राजिकाएँ—टीकाओ मे कुछ अबौद्ध स्त्री परिव्राजिकाओ के उल्लेख हैं। जैनकुमारी पटाचारा सारिपुत्त से दीक्षा लेकर भिक्षुणी बनी। कुछ विरोधी तीर्थिको ने भिक्षुणी माणविका चिचा को बुद्ध के चरित्र पर कलक लगाने के उद्देश्य से षड्यन्त्र मे सम्मिलित किया। सुन्दरी नामक एक अन्य परिव्राजिका को भी विरोधियो ने इसी प्रकार बुद्ध के विरुद्ध बहकाया।

उनके धर्म-प्रचार की कथा का फिर से वर्णन करते हुए हम देखते हैं कि पहले पाँच वर्षों मे बुद्ध बनारस, राजगृह, कपिलवस्तु, श्रावस्ती और वैशाली इन पाँच प्रसिद्ध केन्द्रो मे गये। पर उनके ४५ वर्ष के धर्म-प्रचार की घटनाओ का ठीक-ठीक तिथिक्रम वर्तमान प्राप्य सामग्री के आधार पर निश्चित करना कठिन है, क्योकि ये उल्लेख मूल पालि साहित्य मे न होकर प्राय अट्ठकथाओ मे आए हैं। उनमे से कुछ महत्वपूर्ण घटनाओ का वर्णन यहाँ किया जाता है।

वैशाली का विहार—ऊपर उनकी वैशाली-यात्रा का उल्लेख हो चुका है। यह भी कहा जा चुका है कि वैशाली की इस प्रथम यात्रा के लिए समस्त लिच्छवि सघ ने उन्हे आमन्त्रित किया था, जिससे उनके पुण्य-दर्शन से उनका नगर उस महामारी से मुक्त हो जाए जो तब वहाँ फैली हुई थी। उस समय असख्य हाथी और रथो का जुलूस बनाकर लिच्छवियो ने उनका बिलकुल सम्राट् की तरह स्वागत किया था। वैशाली ने बुद्ध के निवास के लिए महावन की कूटागार-शाला और आठ अन्य उद्यानो की व्यवस्था की थी, जैसा ऊपर आ चुका है, और जैसा

श्रावस्ती मे विशाखा थी, वैसे ही वैशाली ने भी बौद्ध सघ के लिए गणिका अम्बपाली और वालिका जैसी सरक्षिका स्त्रियाँ उत्पन्न की। इन दानो की चर्चा हो चुकी है।

चमत्कारो की निन्दा—एक वार जव बुद्ध राजगृह मे थे, उनके एक शिष्य ने कुछ अतिमानवी सिद्धियाँ दिखाकर अबौद्ध-सम्प्रदायो के छह प्रमुख आचार्यों को नीचा दिखाना चाहा। बुद्ध ने उसकी कडी भर्त्सना की और आदेश दिया कि भिक्षु ऐसी चमत्कार-सम्बन्धी कोई वात न करें क्योकि इससे न तो उनका कोई लाभ होगा जो बौद्ध-धर्म स्वीकार कर चुके है और न उनका जो अभी परिवर्तित नही हुए हैं।

भर्ग जनपद के राजकुमार बोधि—बुद्ध का आठवाँ वर्षावास भर्ग जनपद मे भेसकला वन के मृगदाव के पास सुसुमारगिरि पर हुआ। वहाँ के राजकुमार बोधि ने बुद्ध और सघ को अपने नये राजप्रासाद मे निमन्त्रित किया, पर बुद्ध ने तब तक उसमे प्रवेश न किया जब तक प्रासाद की सीढियो पर बिछाया हुआ श्वेत वस्त्र, जिस पर बुद्ध पैर न रख सकते थे, हटा न दिया गया। वही उन्होने धर्मात्मा गृहपति नकुलपिता और उनकी पत्नी से भेंट की जिन्हे वे उन सबमे प्रमुख मानते थे जो उनके विश्वासपात्र थे (विस्सासिकान अग्गट्ठाने ठपेसि)।

कौशाम्बी मे वत्सराज का दान . घोसिताराम पारिलेय्यकवन—नवाँ वर्षावास कौशाम्बी के घोसिताराम विहार मे हुआ जिसे वत्सराज उदयन के तीन मन्त्रियो मे से एक ने प्रदान किया था। उस समय दो महत्त्व की बातें हुई। किसी ब्राह्मण ने अपनी मानवती कन्या मागदिया का विवाह बुद्ध से करना चाहा, क्योकि उसकी दृष्टि मे वे ही उसके लिए उपयुक्त वर थे। बुद्ध को यह स्वीकार न था और तब वह राजा उदयन की पत्नी बनी। उसकी एक अन्य पत्नी सामावती थी जो बौद्ध-उपासिका थी। मागदिया ने अपने तिरस्कार का बदला राजमहल के एक अग्नि-काण्ड मे सामावती की मृत्यु कराकर लिया (सुत्तनिपात, ४।६, धम्मपद अट्ठ-कथा १।१६६-२२२, उदान ४।१०)। दूसरी घटना सघ मे पहली फूट थी जो एक भिक्षु के कारण पैदा हुई जिसने अपना अपराध स्वीकार करने से इन्कार किया। वह नियमो के अनुसार सघ से निकाल दिया गया लेकिन उसने नियमों को भी चुनौती दी। जब बुद्ध इस मतभेद को शान्त न कर सके, तब वे भिक्षुओ को वही छोडकर पारिलेय्यकवन मे एकान्तवास करने के लिए चले गए। अपने इस व्यवहार से भिक्षुओ ने नगर की सहानुभूति खो दी और फिर बुद्ध की खोज करने लगे जो उस समय श्रावस्ती मे अपना १०वाँ वर्षावास बिता रहे थे। वही उन्होने उनसे क्षमा-याचना की (विनय १।३३७, जातक ३।४८६, धम्मपद अट्ठ-कथा १।५३)। उदान (४-५) के अनुसार बुद्ध कौशाम्बी छोडकर चले गए थे क्योकि वहाँ भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक और अन्य तीर्थिको का भम्भड हो गया था।

वेरंजा में अकाल—वेरजा मे, जहाँ बुद्ध ने १२वाँ वर्षावास किया, वहाँ के ब्राह्मण वेरज ने दीक्षित होने के बाद बुद्ध और उनके भिक्षुओ को चातुर्मास मनाने के लिए आमन्त्रित किया था, किन्तु वह उनका आवश्यक आतिथ्य न कर सका, क्योकि वह अकाल का समय था और उसे अपने घर-गृहस्थी की बहुत-सी बाते देखनी थी। उस समय ५०० अश्व वणिजो पर भिक्षुओ के भोजन का भार आया। तब मोग्गलान ने सोचा कि कुछ सिद्धियो की सहायता से आहार सग्रह किया जाए। जैसा स्वाभाविक था, बुद्ध ने उसको आज्ञा न दी (विनय ३।१-११, जातक ३।४९४, धम्मपद अट्ठकथा २।१५३)।

रोगी भिक्षु की परिचर्या—श्रावस्ती के न्यग्रोधाराम मे १५वाँ वर्षावास विताते हुए बुद्ध ने महानामान् को, जब वह भद्दिय के भिक्षु हो जाने पर शाक्य-सघ का प्रमुख उत्तराधिकारी बना, एक सूत्र का उपदेश दिया। इस समय भद्दिय के ससुर (सुप्रबुद्ध शाक्य) ने बुद्ध के उपदेश से भद्दिय द्वारा अपनी पुत्री के छोडे जाने के कारण क्रोधित हो बुद्ध का अपमान किया और मद्यपान करके उनके शरीर-विघात करने का प्रयत्न किया, किन्तु तुरन्त ही उसका देहान्त हो गया (धम्मपद अट्टकथा ३।४४)। राहुल उस समय बीस वर्ष का था, उसे पूरी उपसम्पदा दी गई।

एक अन्य हृदयग्राही कथा कही जाती है जिससे बुद्ध की जन-सेवा और मानव-प्रेम सूचित होता है। इसके अनुसार बुद्ध ने श्रावस्ती के तिस्स नाम भिक्षु की, जो दुर्गन्धपूर्ण त्वचारोग से पीडित था, स्वय परिचर्या की। बुद्ध ने अपने हाथ से गरम जल से उसे नहलाया और नये कपडे पहनाकर भिक्षुओ से कहा, "तुम लोगो के माता-पिता नही है, अतएव तुम परस्पर एक-दूसरे के पिता-माता बनो" (धम्मपद अट्ठकथा १।३१९)।

अगुलिमाल—उनका २०वाँ वर्षावास श्रावस्ती मे हुआ जहाँ कई महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हुई। पहली बात अगुलिमाल डाकू का परिवर्तन था। वह जिसे पकडता था, उसकी 'अँगुलियो की माला' बनाकर पहनता था, जिससे उसका यह नाम पडा। बुद्ध उससे चालिका के पास वन मे मिले और तत्काल उसके हिंस्र स्वभाव मे परिवर्तन कर दिया। वह भिक्षु हो गया, और जब राजा प्रसेनजित् आए थे, वह बुद्ध के पास बैठा था। राजा यह जानकर कि वह डाकू वहाँ है, भयभीत हो गए, पर बुद्ध ने उन्हे आश्वस्त किया। तब राजा ने उसको वस्त्र और अन्य वस्तुएँ देनी चाही, पर अगुलिमाल ने कहा, "बस, हे राजन्, मेरे पास अपने तीन चीवर हैं (ये ही पर्याप्त है)" (मज्झिम २।९८, धम्मपद अट्ठकथा ३१।६९)।

आनन्द—दूसरी बात यह हुई कि बुद्ध ने आनन्द को अपना निजी शरीर परिचारक नियुक्त किया। अब तक भिक्षु बारी-बारी से बुद्ध का चीवर पात्र लेकर परिचर्या करते थे। एक बार नागसमाल नामक परिचारक एक चौराहे पर पहुँचकर

जिधर बुद्ध की इच्छा थी उधर न जाकर अपने मन से दूसरी ओर चला गया और उनके पात्र और चीवरो को वही फेंक गया जिन्हे लुटेरे झपट ले गए। दूसरे समय एक परिचारक ने भी उनकी आज्ञा न मानकर आम्रोद्यान मे ध्यान लगाना चाहा, जिसके लिए वह अपने पापी विचारो के कारण अभी योग्य न बना था। अतएव बुद्ध ने कहा कि अपनी वृद्धावस्था के लिए उन्हे विश्वसनीय परिचारक की आवश्यकता है। सारिपुत्त ने तुरन्त खडे होकर अपनी सेवाएँ अर्पित की, पर बुद्ध ने स्वीकार नही किया, क्योकि उसे और भी काम करना था। तब मोग्गलान उठे और बारी-बारी से ८० प्रमुख शिष्यो ने अपनी सेवाएँ अर्पित की, परन्तु बुद्ध ने आनन्द को चुना जो आज्ञा की प्रतीक्षा मे चुपचाप बैठा था। आनन्द ने कुछ शर्तों के साथ इसे स्वीकार किया, जिन्हे बुद्ध के प्रति अपनी भक्ति के कारण ही उसने प्रकट किया। ये शर्तें इस प्रकार थी, वह उन वस्तुओ को अपने लिए कभी स्वीकार न करेगा जो स्वय बुद्ध के निमित्त दी गई थी, जैसे सूक्ष्मवस्त्र, विशेष भिक्षा, गन्धकुटी, व्यक्तिगत आमन्त्रण के समय उसे बुद्ध के साथ जाने का अधिकार होगा, वह भेंट के लिए आये हुए व्यक्तियो को बुद्ध के पास पहुँचाया करेगा, बेरोकटोक बुद्ध के पास पहुँच सकेगा और बुद्ध जो उपदेश उसकी उपस्थिति मे देंगे, उसे वह उनकी सन्निधि मे दोहरा सकेगा।

श्रावस्ती—धर्म-प्रचार की कहानी यहाँ आकर खण्डित हो जाती है। जैसा बुद्धवस की अट्ठकथा मे लिखा है, जिसमे इन वर्षावासो का उल्लेख आता है, बुद्ध इसके बाद स्थायी रूप से श्रावस्ती मे रहने लगे। वे कभी जेतवन विहार मे और कभी पूर्वाराम विहार मे ठहरते थे।

देवदत्त—सम्भवत बुद्ध के जीवन का एक ही अप्रिय प्रसग है जिसका सम्बन्ध उनके चचेरे भाई देवदत्त के विरोध और ईर्ष्या से है। देवदत्त की कहानियाँ पृथक्-पृथक् प्रकार से पाई जाती हैं। कुछ का कहना है कि उन दोनो मे प्रेम और बल-प्रदर्शन की क्रीडाओ को लेकर यौवनोचित स्पर्द्धा उत्पन्न हो गई थी। पालि उल्लेखो के अनुसार वह आरम्भ मे बुद्ध का अनुगत था और वे प्रमुख ११ शिष्यो मे उसकी गिनती करते थे। केवल एक बार इनमे उस भावो की ओर सकेत किया गया है (सयुक्त २।१५६)। उसके धर्म अलग हो जाने की बात विनय मे (२।१६६) और बाद के ग्रन्थो ५।३३३, धम्मपद अट्ठकथा १।१३३) एव अगुत्तर मे अश रूप मे ७३, ३।१२३, ४०२, ४।१६०)।

देवदत्त का विचार था कि तप द्वारा उपार्जित सिद्धियो का अजातशत्रु को अपने पक्ष मे लाया जाए। दूसरे, उसे आशा थी के कारण सघ के नेतृत्व से अलग हो जायेंगे और वह सघ का

समय ७२ वर्ष के थे, पर सारिपुत्त और मोग्गलान जैसे शिष्यो को भी वे सघ का भार सौंपने को तैयार न थे, देवदत्त जैसे दुष्ट की तो बात ही क्या थी। इससे देवदत्त उनका प्रकट विरोधी बन गया और तब बुद्ध ने यह घोषणा कराई कि उनका और उनके सघ का देवदत्त के किसी कार्य से कुछ भी सम्बन्ध न रहेगा। तब देवदत्त ने बुद्ध के मार डालने का षड्यन्त्र रचा और अजातशत्रु ने अपने पिता बिम्बिसार के वध का। पहला षड्यन्त्र कई बार प्रयत्न किए जाने पर भी असफल रहा, पर दूसरा सफल हो गया। दीघनिकाय (२।७२) मे अजातशत्रु पश्चात्तापपूर्वक कहते हैं, "राज्य के लिए मैंने अपने धर्मात्मा पिता और धर्मात्मा राजा के प्राण लिए!" किन्तु विनय के अनुसार बिम्बिसार ने यह जानकर, कि उनका पुत्र उनके प्राण लेना चाहता था, स्वय उसे राज्य दे दिया। तब देवदत्त ने खुलेग्राम सघ मे फूट डालने की कोशिश की। उसका आग्रह था कि भिक्षुओ के लिए और भी कडे नियम बनाए जाएँ, जैसे भिक्षु केवल वन मे रहें, वे वृक्षमूल मे आश्रय लें, छत के नीचे नही, भिक्षा से निर्वाह करें, निमन्त्रण स्वीकार न करें, वे चीथडो (पासुकूल) का चीवर पहने, उपासको के दिये हुए वस्त्र नही, माँस या मत्स्य का भोजन न करे। बुद्ध ने कहा कि ये नियम ऐच्छिक थे, आवश्यक नही। इससे देवदत्त ने बुद्ध की निन्दा फैलाई कि वे विलासी जीवन के पक्षपाती हैं। इसने अपने सहयोगी कोकालिक के साथ वैशाली से ५०० नये भिक्षुओ का समुदाय इकट्ठा किया और सघ बनाकर उपदेश देने लगा। बुद्ध ने सारिपुत्त और मोग्गलान से वहाँ जाकर सुनने को कहा। जब वह थक गया तब सारिपुत्त से सघ के समक्ष उपदेश करने की बात कहकर स्वय सो गया। जागने पर उसने देखा कि उसके सब भिक्षु सारिपुत्त के पक्ष मे चले गए थे।

अजातशत्रु—अजातशत्रु के विषय मे हम पहले देख चुके हैं कि अपने पिता के वध का पश्चात्ताप करते हुए उसने छह अन्य तीर्थिक आचार्यों से शान्ति प्राप्त करनी चाही, जिनमे गोसाल और महावीर भी थे, पर अन्त मे राजवैद्य जीवक की सलाह से बुद्ध की शरण मे आने पर उसे शान्ति मिली।

जीवक—अपने आयुर्वेद के ज्ञान और बुद्ध के प्रति निष्ठा के कारण जीवक सघ का आभूषण था। वह बाल-रोगो का विशेषज्ञ था और कोमारभच्च कहलाता था। उसकी माता राजगृह की गणिका सालावती ने जन्म के बाद उसे घूरे पर फेंक दिया था, वहाँ से बिम्बिसार के पुत्र राजकुमार अभय ने उसे प्राप्त कर उसका लालन-पालन किया और अध्ययन के लिए तक्षशिला भेजा। सात वर्ष तक उसने तक्षशिला मे आयुर्वेद का अध्ययन किया और नगर के चारो ओर एक योजन तक स्वय घूमकर औषधियो का साक्षात् ज्ञान प्राप्त किया। उसके अध्ययन-काल की समाप्ति का निर्देश करते हुए आचार्य ने कहा, "प्रिय जीवक! तुम विद्याध्ययन कर

चुके, जीविकोपार्जन के लिए इतना यथेष्ठ है।" तव उसने घर के लिए प्रस्थान किया। मार्ग मे उसने साकेत मे एक धनी व्यापारी की स्त्री की चिकित्सा की और वृत्ति के १६,००० कार्षापण लिए। फिर उसने भगदर रोग से राजा विम्विसार की चिकित्सा एक वार के लेप से की। राजा विम्विसार ने उसे अपना राजवैद्य और वुद्ध एव सघ का वैद्य नियुक्त किया। उसने शल्य-क्रिया द्वारा राजगृह के एक महाधनी व्यापारी को भी रोगमुक्त किया और उसे एक-एक सप्ताह तक एक-एक करवट से लिटाए रखा और फिर एक सप्ताह तक पीठ के सहारे सीधा लिटाए रखा। वृत्ति मे उसे २ लाख कार्षापण मिले। वनारस के एक व्यापारी के पुत्र के आन्त्रसमूर्च्छन (जिसमे आँतें उलट जाती हैं) रोग की चिकित्सा के लिए उसे वुलाया गया। शल्य से उसने आँतो को ठीक कर दिया और उसे १६,००० कार्षापण मिले। राजा पज्जोत (प्रद्योत) के पाण्डुरोग की चिकित्सा के लिए उसे उज्जैनी वुलाया गया। वहाँ से उसके लिए वहुमूल्य सिवेय्यक (शिविजन-पद का वना हुआ वस्त्र) आया जिसे उसने वुद्ध को दे दिया। इसी समय वुद्ध उदर रोग से पीडित हुए। पहले उसने वसा का उपचार वताया जिसे आनन्द ने कुछ दिन तक वुद्ध के शरीर पर मला, और तव उसने विरेचक औषधि-परिभावित[1] तीन कमल वुद्ध के सूँघने के लिए दिये, और उन्हे तव तक द्रव भोजन पर रखा जव तक वे रोग-मुक्त न हो गए (विनय, प्राचीन पु० भा० १७।१७१-१९५)।

अन्तिम समय और बीमारी—अपने जीवन के अन्तिम दिनो तक वुद्ध अपनी विहार-यात्रा और उपदेशो के कार्यक्रम का पूरा निर्वाह करते रहे। अपने ७९वे वर्ष मे वे राजगृह मे थे और वहाँ से अम्बलट्ठिका, नालन्दा होते हुए पाटलिग्राम को चले जहाँ अजातशत्रु गगा के उस पार लिच्छवियो को जीतने के विचार से एक दुर्ग की नीव रख रहा था। यहाँ वुद्ध ने भविष्यवाणी की, 'जहाँ तक आर्यजनो का आयतन है, जहाँ तक वणिक-पथो का विस्तार है, यह पाटलिपुत्र सवमे अग्र नगर होगा" (महापरिनिव्वान सुत्त)। इसके वाद वे नगर के वाहर एक द्वार से होकर निकले जिसका नाम गौतम द्वार रखा गया और गौतमतित्थ नामक घाट पर गगा पार करके वैशाली पहुँचे। वहाँ पास के वेलुगाम मे वे कठिन रोग से पीडित हुए और भविष्यवाणी के रूप मे वोले, "आज से तीन महीने वाद तथागत का अन्त हो जाएगा।" वैशाली से चलकर भण्डगाम, हत्थिगाम, अम्बगाम, जम्बुगाम और भोगनगर होते हुए पावा आए और वहाँ चुन्द कम्मारपुत्त (लुहार)

---

१. चरक मे कल्पस्थान मे यह योग दिया हुआ है कि सायकाल बन्द होने से पूर्व कमल मे विरेचक औषधि रख दी जाए, जिसे प्रातःकाल सूँघने से रोगी को विरेचन हो जाता है (चरक कल्पस्थान १।१९)।

के अम्बवन मे ठहरे। वहाँ चुन्द ने अनेक प्रकार की खाद्य भोजनीय सामग्री तैयार कराकर बहुत-सा सूकरमद्दव भी भगवान् के सामने रखा, वही उनका अन्तिम भोजन हुआ। भगवान् ने कहा, 'हे चुन्द! सूकरमद्दव मुझे परोसो और खादनाय भोजनीय सामग्री भिक्षु-सघ को दो!' प्राचीन टीकाकारो के अनुसार सूकरमद्दव सूअर का मुलायम स्नेह मिला हुआ माँस था, पर अन्य के अनुसार वह एक प्रकार की वनस्पति थी, जिसे सूअर खोदकर खाते है, या छत्रक (कुकुरमुत्ता) का नाम था जो सूअरो की माँद के पास उगता था,या कोई उपसेचन (भोजन मे स्वाद उत्पन्न करने के लिए मिलाया जाने वाला) पदार्थ था (उदान अट्ठकथा १।३६६)। भोजन के बाद बुद्ध के पेट मे कडी पीडा होने लगी, रक्त के दस्त होने लगे और उन्हे मरणान्तक वेदना सताने लगी। उसे सहनकर वे कुसिनारा की ओर चले।

पावा से कुसिनारा—मार्ग मे एक वृक्ष के नीचे रुककर उन्होने आनन्द से कहा—"आनन्द, इस सघाटी की चार तह करके बिछाओ, मैं थक गया हूँ बैठूंगा। आनन्द, मेरे लिए पास की ककुत्था नदी से पानी ले आओ, मैं प्यासा हूँ, पिऊँगा।" उसी समय ५०० शकटो ने नदी पार करके उनके पानी को गँदला और मैला कर दिया था। आनन्द कुछ देर करके नदी पर गये, तब तक पानी निथर गया था। यहाँ मल्लपुत्त पुक्कुस, जो आलार कालाम का शिष्य था, उनसे मिलने आया और उनका शिष्य हो गया। उनको बुद्ध ने यह कथा सुनाई—"हे पुक्कुस, एक बार मैं आतुमा ग्राम मे बिहार कर रहा था, उस समय मेह बरसने लगा, बादल गडगडाने लगे और बिजली चमकने लगी। बिजली गिरने से कई किसान और बैल मर गए। लोगो की भीड इकट्ठी हो गई, पर मुझे किसी चीज का भी भान न हुआ, इस प्रकार की मेरी समाधि थी।"

नदी मे स्नान करके बुद्ध ने एक अम्बवन मे फिर विश्राम किया और सोचा कि उनका अन्त होने पर कही लोग चुन्द को दोष न दे कि उसने ही रोग उत्पन्न करने वाला भोजन बुद्ध को खिला दिया, अतएव उन्होने आनन्द से कहा कि चुन्द का दिया हुआ भोजन ही तथागत के भौतिक शरीर का अन्तिम भोजन होना निश्चित था, और उससे उन्हे कष्ट का विपाक भी मिलना था।

अन्तिम शब्द—बुद्ध उठे और हिरञ्ञवती नदी पार करके कुसिनारा पहुँचे जहाँ मल्लो के सालवन मे उन्होने अन्तिम विश्राम किया। उन्होने कहा, "आनन्द, आओ, मेरे लिए उत्तर की ओर सिर करके मच तैयार करो, मैं क्लान्त हूँ,लेटूंगा।" भिक्षु उपवाण उन्हे पखा झलने लगे। तब बुद्ध ने आनन्द से कहा कि जाकर कुसि-नारा के मल्लो को हमारे अन्त समय की सूचना दे दो। उसे सुनकर मल्ल अपने स्त्री-पुत्रो सहित ठट्ठ-के-ठट्ठ सालवन मे जमा हो गए और आनन्द ने एक-एक व्यक्ति का परिचय न कराकर एक-एक कुल का परिचय कराया, क्योकि वे बहुत

थे। इसी बीच कुसिनारा के परिव्राजक सुभद्द ने बुद्ध से दीक्षा लेकर अन्तिम उपदेश ग्रहण किया। तब बुद्ध ने उपस्थित भिक्षुओ से कहा, "हो सकता है भिक्खुओ, किसी भिक्खु के मन मे कोई शका या सन्देह रह गया हो। भिक्खुओ, उसे पूछ लो, किसी के मन मे पीछे ऐसा न हो कि हम शास्ता के रहते न पूछ सके।" ऐसा कहने पर सब भिक्षु चुप रहे। दूसरी बार फिर, तीसरी बार फिर भी पूछा, और तब अन्तिम बार बोले, "हे भिक्खुओ, इस समय आज तुमसे इतना ही कहता हूँ, जितने सस्कार (सयोजित पदार्थ) है, सब नाश होने वाले है, प्रमाद-रहित होकर अपना-अपना कल्याण करो (हद दानि भिक्खवे, आमतयामि वो, वयधम्मा सखारा, अप्पमादेन सम्पादेथा ति)।"

अन्तिम दृश्य—उपस्थित भिक्षुओ मे अनुरुद्ध भी थे, जो विलाप करते हुए समुदाय को सान्त्वना देने लगे। महाकस्सप पावा से अपने भिक्षु सघ के साथ आ रहे थे, मार्ग मे एक आजीविक भिक्षु से उन्होने बुद्ध की मृत्यु का समाचार सुना।

मल्ल लोग गन्धमाला, सगीत और वस्त्रो के साथ भगवान् के शरीर के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिए आए। चितादाह के बाद उन्होने फूलो पर सुगन्धित जल छिडका और एक सप्ताह तक अपने सथागार मे धनुषो का प्राकार और शक्तियो का पजर रचकर उनके मध्य मे भगवान् की शरीर-धातुओ को रखा।

तब भगवान् की शरीर-धातुओ का भाग लेने के लिए आठ दावेदार आए और प्रत्येक ने उन पर स्तूप रचने की बात कही। उनके नाम पहले दिए जा चुके हैं।

बुद्ध के वास्तविक अवशेष—पुरातत्त्व की खुदाई मे कुछ ऐसे स्तूप मिले है जिनमे बुद्ध के अवशेष प्राप्त हुए है जिससे ग्रन्थो मे वर्णित बातो की सत्यता सूचित होती है। १८९८ ई० मे पिपी साहब ने नेपाल की सीमा के समीप पिपरहवा ग्राम के स्तूप की खुदाई की, और उसके भीतर पत्थर की मजूषा मे रखी हुई कई छोटी मजूषाएँ प्राप्त की जिनमे रत्न-पुष्प आदि के अतिरिक्त कुछ फूल या अस्थियाँ भी थी। और उससे भी रोचक बात यह है कि पत्थर की एक मजूषा के ढक्कन के किनारे के चारो ओर अशोककालीन ब्राह्मी लिपि मे यह लेख लिखा था, "सुकिति भतिन सभगिनिकन सपुतदलन इय सलिलनिधन बुधस भगवते सकियन"=भगवान् बुद्ध की शरीर-धातुओ का यह निधान सुकृति (सुन्दर कीर्ति) शाक्यो के भ्राता, भगिनिपुत्र और स्त्रियो के द्वारा स्थापित किया गया, जिसका अर्थ है कि वह स्तूप समस्त शाक्य-सघ

के स्त्री-पुरुष और बालको की ओर से बुद्ध के पवित्र अवशेपो पर बनाया गया था।

लेख के अर्थ और काल के विपय मे मतभेद है, जो उसकी लिपि के आधार पर अशोककालीन हो सकता है, किन्तु उन शरीर-धातुओ के बुद्ध के होने मे सन्देह नही करना चाहिए।

पेशावर के पास शाहजी की ढेरी स्थान पर एक स्तूप की खुदाई हुई थी, जिसमे एक धातु-गर्भ मजूपा प्राप्त हुई थी जिसके भीतर स्फटिक की पट्कोण डिब्बी निकली थी। उसमे तीन छोटी अस्थियाँ थी, जिनके विपय मे माना गया है कि वह कनिष्क द्वारा स्तूप मे रखा हुआ असली अवशेप है। श्युआन चुआङ ने लिखा है वे बुद्ध की शरीर-धातुएँ थी (भारतीय पुरातत्त्व वार्षिकी, १६०८-०६, पृ० ४६)। मजूपा के ऊपर कनिष्क का नाम उत्कीर्ण है।

श्री जॉन मार्शल को १६१३-१४ मे तक्षशिला मे कुछ और भी अवशेष मिले थे जो उन्होने सिंहल के भिक्षुओ को प्रदान कर दिए। अवशेष-सदन स्तूप की नीव से भी छह फुट नीचे मिला था। उस सदन मे राजा मोअम और एजस प्रथम के ४ सिक्के और सेलखडी की एक मजूषा मिली थी। मजूषा के भीतर तक्षशिला के प्राचीन स्तूपो के आकार की सोने की छोटी डिब्बी थी और उस डिब्बी मे अस्थिधातु रखी मिली।

वाद मे श्री मार्शल को तक्षशिला के चीर-डेरी नामक टीले के धर्मराजिक स्तूप से सम्बन्धित कुछ स्थानो मे और भी अवशेप प्राप्त हुए। इनमे से एक मे सेलखडी पत्थर का एक पात्र मिला जिसमे चाँदी के एक बरतन मे चाँदी की एक पतली कुण्डलित पट्टी और सोने की डिब्बी मे छोटी अस्थियाँ मिली थी जो कि (एजस प्रथम के १३६वे वर्ष के) लेख के अनुसार भगवान् (बुद्ध) की ही शरीर-धातुएँ थी।

अभी हाल मे गुटूर जिले के नागार्जुनी कोडा के स्तूप मे बुद्ध के कुछ अवशेष मिले थे। नागार्जुन माध्यमिक सम्प्रदाय के सस्थापक और महायान बौद्ध धर्म के माननेवाले थे जो द्वितीय शती ई० के लगभग हुए। अस्थियाँ सोने की पौन इच गोल डिब्बी मे रखी थी। स्तूप के इर्द-गिर्द बने हुए अन्य हिस्सो मे उत्कीर्ण लेखो मे उस स्तूप को 'महाचेतिय' कहा गया है, जो भगवान् बुद्ध की श्रेष्ठ शरीर-धातुओ से सुरक्षित (धातुवर-परिगहित) था, अतएव अवश्य ही वह स्तूप भगवान् बुद्ध की शरीर-धातुओ की प्रतिष्ठा के लिए बनवाया गया था (एपिग्रेफिया इण्डिका, २०, १-३७)। वे अवशेप उसी ज़िले मे भट्टिप्रोलु नामक स्थान के समीप पाये गए थे जहाँ के स्तूप मे बहुत पहले १८६२ ई० मे कुछ अन्य अवशेष मिले थे।

सांख्य, जैन, योग आदि प्राक्कालीन दर्शनो का बौद्ध-धर्म पर ऋण—धर्म और दर्शन के रूप मे बौद्ध धर्म के जो सिद्धान्त, क्रियाएँ और अभिमत है उनका विवेचन इतिहास-ग्रन्थ के क्षेत्र मे बाहर है। फिर भी सामान्य रूप से इतना कहा जाता है कि बौद्ध धर्म अपनी पूर्ववर्ती ब्राह्मण-विचारधारा का बहुत अशो मे परिणाम था। कर्मकाण्ड से पृथक् जीवन पर इतना गौरव देने के कारण इसे नया समझा जाता था, किन्तु इस विषय मे भी कुछ उपनिषदो मे पहले ही इस प्रकार के विचार आए है, जिनके अनुसार, जैसा कहा जा चुका है, आत्मा का ज्ञान, जो कि एकमात्र अन्तिम तत्त्व है, वेद और यज्ञो से ऊपर है। विशेषत याज्ञवल्क्य ऋषि के उपदेश पूर्वकालीन होते हुए यही प्रतिपादन करते हैं और उनके अनुसार न केवल आत्मा और ब्रह्म अभिन्न हैं, वल्कि उस एकता या आत्मज्ञान को पुनर्जन्म या आवागमन के लोको मे फैले हुए क्रमिक मार्ग या यान के रूप मे अंकित किया गया है (बृ० उप० ४-४।८)।[1]

बौद्ध-धर्म की कुछ बाते जैन-धर्म मे पहले ही आ चुकी थी जो उससे लगभग एक पीढी पहले हुआ, जैसा पहले कहा जा चुका है। जैन-धर्म और बौद्ध-धर्म दोनो इस विषय मे एकमत हैं कि जान-बूझकर किये कर्मो मे नियत कर्म-फल को बदला जा सकता है और बदलना चाहिए, एव अहिंसा के सिद्धान्त मे भी दोनो एकमत हैं। यह समझा जाता है कि बौद्ध-धर्म ब्राह्मण-विचारो की उस धारा से बहुत प्रभावित हुआ जिसे सांख्य कहते हैं, जिसके संस्थापक मथुरा के कपिल मुनि थे। जैकोबी का तो यहाँ तक कहना है कि बौद्ध-दर्शन सांख्य[2] से ही निकला है। पूर्व-

---

१. अणुपन्था वितत पुराणो · तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविद स्वर्ग लोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ता।

२. यह अतिरजित मत है। दोनो दर्शनो मे साम्य और भेद की बातें हैं। साम्य की मुख्य बातें हैं, १ मूल तत्त्व का तर्काश्रयी शैली की रीति से प्रतिपादन, जैसे बौद्धो का पटिच्चसमुप्पाद सिद्धान्त,और सांख्यो का विकासवाद सिद्धान्त, जिसके अनुसार प्रकृति से तन्मात्राओ तथा महाभूतो आदि का विकास कहा जाता है, २ दुःख और अनित्यता का सिद्धान्त (जैसे सांख्य का दुःखत्रयाभिघातात् जिज्ञासा तदवघातके हेतौ", और बौद्धो के "अनिच्च दुःख अनत्ता", ३ मोक्ष का मार्ग, जो आन्तरिक साधना पर निर्भर है, न कि देवता की कृपा और न किसी अदृष्टफल के सिद्धान्त पर। उनमे मुख्य भेद ये हैं कि सांख्य पुरुष और प्रकृति को दो मानता है पर बौद्ध-धर्म के अनुसार वे एक हैं। रूप वेदना आदि स्कन्धो की भी एकता नही है जिन्हे बौद्ध मानते हैं और सांख्य-दर्शन मे जिनकी कल्पना नही है।

कालीन परिस्थितियो की, जिन्होने बौद्ध-धर्म को प्रभावित किया, एक विशेषता योगमत या ध्यान (पालि मे झान) की साधना भी थी।

सस्कृत और पालि ग्रन्थो मे श्रमण—बौद्ध-धर्म का मोक्ष-मार्ग अन्य मोक्ष-मत का उपदेश देने वाले शास्त्रो मे पूर्वकल्पित हो चुका था, जिसके विषय मे भारतवर्ष मे उस समय भी वैसी ही विशेष रुचि थी जैसी अब है। बौद्धो के पूर्वज अचेलक, निगण्ठ और आजीवक थे जिन सबका उद्देश्य मुक्ति या मोक्ष या विमुक्ति की प्राप्ति थी। जो व्यक्ति उसे प्राप्त कर लेने पर शान्ति-लाभ करता था वह श्रमण (पालि मे समण) कहलाता था, जिसका मूल अर्थ था श्रम करने वाला, पर पीछे जिसका अर्थ हुआ 'जिसने श्रम किया है, और फल-प्राप्त किया है।' समाज मे श्रमण-सस्था बौद्ध-धर्म से पहले विद्यमान थी। यह शब्द सर्वप्रथम बृहदारण्यक मे आता है (४-३।२२)। पालि-ग्रन्थो मे उसका बहुत प्रयोग हुआ है, विशेषत समण-ब्राह्मण इस पद मे जो उस समय के धार्मिक जगत् का पूरा चित्र खीचता है। बुद्ध को प्राय' समण गोतम कहा है। यह शब्द साधारण भिक्खु या माँगने वाले का वाचक बन गया। उसी से निकले हुए सामणेर शब्द का अर्थ था नौसिखिया भिक्खु। किन्तु ब्राह्मण-ग्रन्थो मे पहले जिस श्रमण का उल्लेख है, वह सच्ची त्यागवृत्ति मे कही अधिक बढा हुआ था, जैसा पूर्व मे कहा गया है। वह दर-दर भीख माँगने वाला और भिक्षा से पेट पालने वाला भिखारी न था। वह वन के कन्द-मूल-फल खाकर बस्ती से दूर रहता था और उसके लिए ग्राम-प्रवेश निषिद्ध था। ऐसे भिक्षु के लिए बहुत ठण्डे प्रदेश मे जीवित रहना सम्भव न था। उसे ऐसी जलवायु की आवश्यकता थी जहाँ वह प्राणि-हिंसा के बिना अपना पालन कर सके और वस्त्रो तथा आवास के अभाव मे क्षीण न हो।

पालि पिटको मे समण इस प्रकार का तपस्वी-भिक्षु न रहकर भिक्षा माँगने वाले का रूप ग्रहण कर लेता है। फिर भी उसे अपने आत्म-त्याग के लिए जनता से सम्मान और पोषण मिलता था, ब्राह्मण-पद्धति की तरह यह त्याग समय और काल की प्रतीक्षा न करता था। इस प्रकार 'सुत्त' और 'विनय' मे उपासक द्वारा समण को दान देने की प्रथा एक सस्था ही बन गई थी, पर ब्राह्मण समाज पात्र लेकर भिक्षा माँगने वाले ऐसे लोगो को अच्छा न समझता था, क्योकि समय के पूर्व से ही ये अपने समग्र जीवन और उत्तरदायित्व का त्याग कर देते थे। सावत्थी के एक ब्राह्मण गृहपति ने बुद्ध को भी, जब वे उसके यहाँ भिक्षा माँगने आए, इन शब्दो से धिक्कारा, "ओ मुण्डक, वही ठहरो! हे समणक, वही ठहरो! हे वसलक (वृषक-पतित), वही ठहरो!" (सयुक्त १।१६२)।

ब्राह्मण-धर्म का कम प्रचार होने से प्राच्य भारत मे बौद्ध-धर्म की वृद्धि—सत्य यह है कि बौद्ध-धर्म का प्राच्य भारत मे अधिक प्रचार हो रहा था क्योकि

वहाँ ब्राह्मण-धर्म का उतना प्रभाव न था, अथवा उस प्रदेश मे ब्राह्मण-सस्कृति का मानदण्ड और प्रभाव उत्तर-भारत के पश्चिमी भागो की अपेक्षा हीनतर था। इसलिए हम उस खण्डन को मान सकते है जो, उदाहरण के लिए, तेविज्ज सुत्तन्त (दीघ, १३) मे ब्राह्मणो के सामान्य नीति-विषयक आचार के विषय मे किया गया है, या सगाथवग्ग (सयुत्तनिकाय) मे दक्षिणा को लेकर उनके मन्त्र-जप के विषय मे कहा गया है। सम्भवत पूर्व मे भी थोडे ही लोग इस प्रकार आचार मे शिथिल और अयोग्य थे। सयुत्तनिकाय (४।१७१) मे उल्लेख है कि कई ब्राह्मण खेत जोतते और कृषि का प्रबन्ध करते थे, जो वैश्यो का काम था। पर इसके लिए उन्हे निन्दित न माना जाता था (बौद्ध-ग्रन्थो मे और अशोक के लेखो मे भी आदर्श सदाचारी पुरुष को ब्राह्मण कहा गया है और यह शब्द अभी तक अपना प्रतिष्ठित अर्थ बनाए हुए था। इसके मुकाबले उधर उच्चगामुता का वाचक अर्हत् शब्द भी व्यवहार मे आने लगा था।[1])

बुद्ध का मानव-रूप—अन्त मे हम मानव-रूप मे बुद्ध की महत्ता का कुछ अनुमान करें, न कि बौद्ध-धर्म के सस्थापक के रूप मे, जिसका मानव-जाति का पचमाश अनुयायी है। उस महत्त्वशालिनी मानवता की कल्पना का आधार उनकी कुछ उक्तियाँ और वे कहानियाँ हैं जो उनकी मृत्यु के पीछे ग्रन्थ-रूप मे सकलित हुई।

जीवनचर्या—बुद्ध का विवाह १६ वर्ष की आयु मे हुआ था। इनके एकमात्र पुत्र का जन्म वैवाहिक जीवन मे १२ वर्ष के बाद हुआ। जब वे सब भाँति सुखी थे, तब २६ वर्ष की आयु मे उन्होने ससार त्याग दिया। छह वर्ष तक उन्होने कठोर तपश्चर्या की और ३५ वर्ष की आयु मे बुद्धत्व या सम्बोधि प्राप्त की। ३५ की आयु से ८० वर्ष की आयु तक, जब उनकी मृत्यु हुई, ४५ वर्ष निरन्तर उन्होने अपने-आपको पूर्णत सक्रिय समाज-सेवा और धर्म-प्रचार मे लगाया।

आरम्भिक निर्बलताएँ—मानव-जीवन की साधारण कमजोरियो से ऊपर उठकर बुद्ध कमल के समान पूर्णत्व मे विकसित हुए। आरम्भ मे ही वे उन निर्बलताओ से, जो शरीरधारियो मे होती हैं, ऊपर न थे। साधारण मनुष्यो की भाँति त्याग और तप की स्थिति सरलता से ही उन्हे प्राप्त नही हो गई। उन्होने स्वय स्वीकार किया—"भिक्खुओ! सम्बोधि प्राप्त करने से पहले मैं भी जन्म, वृद्धि, जरा, रोग और मृत्यु, दु ख और आस्रवो के वशीभूत था, मैं भी उन्ही वस्तुओ को ढूंढता था जो इन्ही के वशीभूत हैं जैसे कि स्त्री और बच्चे, दास और दासियाँ, भेड और बकरियाँ, कुक्कुट, शूकर, हाथी, पशु, अश्व, बडवा, सोना और चाँदी!

---

१. श्रीमती राइस डेविड्स-कृत 'शाक्य और बुद्धिस्ट रिलिजन', अध्याय २।

मैंने सोचा, *क्या ही अच्छा हो यदि मैं जन्मरहित, जरारहित, रोगरहित, मृत्युरहित और पापरहित अनुपम उस स्थिर वस्तु को प्राप्त कर लूं जिससे अविद्या का नाश हो सके ? और हे भिक्षुओ ! कुछ समय बाद मैं जब आयु के उठान पर ही था,* दीप्तवर्ण, भौराले केशो से भद्र यौवन का उपभोग कर रहा था, प्रथम यौवन के उन वर्षों मे मैं रोते-विलखते माता-पिताओ की इच्छा के विरुद्ध केशश्मश्रु काटकर, चीवर पहनकर घर से अनागरिक अवस्था को प्राप्त हुआ।" और पुन, "पूर्ण सम्बोधि प्राप्त करने के पहले मैंने स्पष्ट ही कामनाओ से उत्पन्न होने वाला दु ख समझ लिया था, पर कामनाओ से पृथक् किसी उच्चतर सुख को न पाने से मैं नही समझता था कि कैसे उनका पीछा छोडूं ?" (मज्झिम, १।९१ आदि)।

भिक्षु का भोजन—भिक्षु होने के बाद जो पहला भोजन उन्हे मिला, वे उसे मुश्किल से खा सके। "जान पडता था कि उनकी आँतें उलटी होकर मुख से बाहर निकल आएँगी, क्योकि उस प्रकार का भोजन उन्होने कभी देखा तक न था।" पर अपने को समझा-बुझाकर ऐसे निन्द्य भोजन के विरुद्ध मानसिक क्लेश को उन्होने किसी प्रकार जीत लिया।

एकान्तवास का भय—इस नये जीवन मे उनके सामने दूसरा प्रश्न एकान्तवास और उसमे लगने वाले भय का था। उन्होने स्वय उसका वर्णन यो किया है, "जगल मे रहने वाले के लिए एकान्त जीवन विताना और उस एकान्त देश मे सुखी होना कितना कठिन है ! अवश्य ही वे एकान्त-वनखण्ड उस भिक्षु के लिए बहुत भारी होते हैं, जिसने अभी तक अपने मन को एकाग्र करना नही सीखा। ...उसे मृत्यु का भय और दारुण त्रास ग्रस लेते हैं।" जिनसे छुटकारा पाने के लिए " उसे वन के एकान्त श्मशानो मे पेडो के नीचे अत्यन्त भयकर और डर के स्थानो मे रात बितानी चाहिए . और जब मैं वहाँ ठहरता, कभी कोई हिरन आ निकलता, कभी किसी पक्षी के कारण शाखा टूटकर सामने गिरती और कभी हवा से पत्तियाँ खड-खड करने लगतीं और मैं चौककर सोचता, 'वह देखो अब आया—वह डरावना, भयकर भय . आना ही चाहता है', किन्तु ऐसी स्थिति मे न तो मैं चुप खडा होता, न बैठता, और न लेट जाता। अन्त मे बराबर टहलते हुए मैंने उस भय और भयावने त्रास को जीतकर ही छोडा।"

पॉल डाह्लके ('बुद्धिस्ट एसेज', पृ० १५) ने ठीक कहा है, ' पहले कभी किसी धर्म-सस्थापक ने ऐसे वचन नही कहे। जो ऐसी बात कह सकता है, उसके लिए आवश्यक नही कि वह स्वर्ग-सुख के प्रलोभन देकर दूसरो को अपनी ओर खीचे। वह, जो अपने बारे मे ऐसी खरी बातें कह सकता है, सत्य के वेग से ही उन लोगो को अपनी ओर खीच लेता है जो मुग्ध होकर उसकी शरण मे आते है।"

नित्य की दिनचर्या—लगभग अर्धशती तक धर्म-प्रचार का उनका जीवन घोर

परिश्रम का जीवन था, जिसमे वे नियमित दिनचर्या का पालन करते थे। प्रातःकाल उठकर वे स्नान करते और वस्त्र पहनकर ध्यान मे लग जाते थे, और तब हाथ मे पात्र लेकर अकेले या अनुयायियो के साथ भिक्षा के लिए निकलते थे। किसी आतिथेय गृहस्थ के यहाँ भिक्षा करके वे उपदेश देते और अपने स्थान पर लौट आते थे, और इस बात की जिज्ञासा करते थे कि और सब भिक्षुओ ने भोजन किया या नही। तब वे ध्यान के लिए विषय बताकर स्वय भी "मध्याह्न की उष्णता मे ध्यान के लिए" एकान्त मे चले जाते। (सयुत्त, १।१४६-८)। तीसरे पहर का समय वे सार्वजनिक उपदेश के लिए देते थे। उसके बाद सायकाल फिर स्नान-ध्यान और भिक्षुओ को उपदेश देकर ध्यान के लिए एकान्त मे चले जाते और शयन करते (बुद्धघोष-कृत वर्णन जैसा राइस डेविड्स ने अपने 'अमेरिकन लेक्चर्स' मे दिया है)।

भिक्षु, जिसके सामने राजा सिर झुकाते थे—उन्होने जीवन-भर साधारण भिक्षु की भाँति व्यवहार किया। "उन दिनो मे जब उनका यश चोटी पर पहुँचा हुआ था और सारे देश मे उनके नाम की गिनती सर्वोच्च महापुरुषो मे होती थी, जिनके सामने राजा भी मस्तक झुकाते थे, कोई भी उन्हे प्रतिदिन हाथ मे भिक्षा-पात्र लिए सडको और गलियो मे द्वार-द्वार भिक्षा मांगते देख सकता था और बिना कुछ कहे, दृष्टि नीचे किए वे चुपचाप प्रतीक्षा करते रहते जबकि कोई उनके उस पात्र मे भोजन के कुछ कौर डाल देता था" (ओल्डेनबर्ग)। एक बार सिंसपावन के आलवी ग्राम मे लोगो ने उन्हे गायो के आने-जाने के मार्ग पर पर्णशैया पर गम्भीर ध्यान मे बैठे हुए देखा जबकि अत्यन्त शीत और पाला पड रहा था। "पशुओ के खुरो मे क्षुण्ण भूमि विषम हो गई है, पत्तियो की शैया भी विरल है, भिक्षु का कषाय चीवर भी हल्का है, जाडे की वायु हड्डियो के पार भेदती है," और इस पर भी बुद्ध ने कहा, "मै सदा विशिष्ट समवृत्ति रखता हूँ और प्रसन्न रहता हूँ" (अगुत्तरनिकाय का एक सुत्त)।

अतिमानवी विनय—उनकी अत्यन्त हार्दिक नम्रता अतिमानवी थी। एक बार भिक्षुओ की अन्तिम वार्षिक सभा मे विहार-यात्रा पर निकलने से पूर्व भगवान् ने तूष्णीम् भाव मे बैठे हुए सघ को देखा और भिक्षुओ से कहा, "भिक्षुओ। मै तुम्हारा आह्वान करता हूँ, यदि मुझमे, मेरे वचन और कर्म मे कोई त्रुटि तुम देखते हो तो मुझसे कहो" (सयुत्त १।१९०)। पुन जब एक ब्राह्मण ने उनसे पूछा, "क्या भदन्त गौतम दिन मे सोने की आज्ञा देते हैं ?" तो बुद्ध ने स्पष्ट उत्तर दिया, "ग्रीष्मकाल के अन्तिम मास मे, भोजन के उपरान्त, भिक्षाचरण से लौट कर मै स्वीकार करता हूँ कि मैं भी सघाटी की चार तह करके दाहिने पार्श्व से उस पर लेटकर और इन्द्रियो को सयत कर सो लेता हू।" वे सदा इस बात का

ध्यान रखते कि वे अपने मे किसी अतिमानवी गुण होने का निराकरण करे। एक वार उन्होने अपने शिष्यो से कहा, "भिक्खुओ! चार आर्य सत्यो के विषय मे प्रज्ञा और सूक्ष्म-दृष्टि मे कमी होने की त्रुटि मे ही तुम और मैं दोनो इतने दीर्घ-काल तक ससार के इस घोर मार्ग मे भटकते रहे। हमारे भीतर यह दुर्निवार्य भाव उत्पन्न होता है, यही सबसे उत्तम है, इससे आगे कोई व्यक्ति नही जा सकता!" (डाह्वके)।

फल-कथन से घृणा—जैसा कि हम देख चुके हैं, अपने शिष्यो द्वारा सिद्धियो के प्रदर्शन की वे अनुमति न देते थे। उनका कहना है, "मैं चमत्कारो के प्रदर्शन को भयावह समझता हूँ, इसलिए मैं उन्हे बिलकुल पसन्द नही करता, उन्हे घृणा की दृष्टि से देखता हूँ और उनकी बात से मुझे लज्जा आती है" (केवट्टसुत्त)। सब प्रकार के अगनिमित्त शकुन या भविष्य-कथन को उन्होने 'तिरच्छानविज्जा' (=कुत्सित विद्या, ब्रह्मजालसुत्त) कहकर उनकी निन्दा की है।

शिष्यो की अपेक्षा सत्य के लिए अधिक चिन्तित—वे इस बात के लिए चिन्तित थे कि सत्य का प्रचार हो, न कि उनके शिष्यो की सख्या बढे। इस बात के इच्छुक थे कि 'बुरी वस्तुओ का निराकरण हो, उन वस्तुओ का जो विकार उत्पन्न करती हैं, पुनर्जन्म का कारण हैं, कष्टदायक है, दुःखो का कारण हैं और जन्म, जरा और भविष्य मे मृत्यु का कारण बनती है, इसके विपरीत जिन वस्तुओ से पवित्रता होती है, उनकी वृद्धि हो जिनसे पूर्ण, बहुलप्रज्ञा तत्काल यही प्राप्त की जा सके', और 'यह सब इसलिए नही कि मेरे शिष्यो की सख्या बढे'। उन्होने एक मन-परिवर्तन के इच्छुक व्यक्ति से कहा था, "जो तुम्हारा आचार्य है, वही अब भी तुम्हारा आचार्य बना रहे।" उन्होने उरुवेला कस्सप से जो अग और मगध के सब लोगो से सम्मानित थे और राजगृह के ४०० जटिलो के नेता थे, कहा कि वह बौद्ध-धर्म ग्रहण करने मे पहले अपने शिष्यो को अपने सकल्प की सूचना दे दे (महावग्ग १।१८-२०)। लिच्छवि सेनापति सीह को अपना शिष्य बनाने की आज्ञा देने से पूर्व उन्होने उससे कहा कि अपने पूर्व धर्म-साथियो नाथपुत्त या निग्रथ जैनो को वह अपना दान-सरक्षण देना न छोडे, अन्यथा वे असहाय हो जाएँगे (वही ६।३१-११)।

शिष्यों द्वारा प्रशसा के असहिष्णु—अपने शिष्यो से अपनी प्रशसा वे न सह सकते थे, चाहे वह कितनी भक्तिपूर्ण हार्दिक हो। एक बार उनके प्रिय शिष्य सारिपुत्त कह उठे, 'भगवान्, मेरे अन्दर ऐसी श्रद्धा है कि मेरे विचार मे आपसे बढकर ज्ञानी और महान् कोई न पहले कभी हुआ, न आगे कभी होगा, न इस समय है।' बुद्ध ने इस भावावेश का उत्तर अपने स्वाभाविक, शान्त और विनोद के ढग से दिया, 'अवश्य सारिपुत्त, तुम भूतकाल के सब बुद्धो को जान गए हो?'

'नही, भगवन्', सारिपुत्त ने कहा। 'तुम उन्हें जानते हो जो भविष्य मे होगे ?' 'नही, भगवन् !' 'तो कम-से-कम मुझे तो तुम जानते हो और मेरे मन की भली प्रकार थाह ले चुके हो ?' 'वह भी नही, भगवन् !' 'तो सारिपुत्त, तुम्हारे शब्द इतने भव्य और साहसपूर्ण क्यो हैं ?' (महावीर निब्बान, १।६१)

निन्दा से अविचल—वे उसी प्रकार अपनी निन्दा और दोषारोपण से अविचल रहते थे। लिच्छवि मुख्य सुनक्खत्त बुद्ध के नियमन मे सदाचार का जीवन विताने मे असमर्थ होकर सघ छोडकर चला गया और वैशाली मे लोगो से कहता फिरा कि भगवान् को उन बातो का कुछ भी पता न था जो साधारण मनुष्यो की दृष्टि से बाहर हैं, और उनका सिद्धान्त केवल बुद्धि की कतर-ब्योत और तर्कजाल मे उत्पन्न हुआ था (मज्झिम)। सारिपुत्त ने यह बात बुद्ध से कही तो भगवान् ने कहा कि 'सुनक्खत्त ने आवेश मे आकर ही ऐसा कहा'। उनका कहना था, "निन्दा किए जाने पर जो प्रतिनिन्दा नही करता, उसे दुहरी विजय प्राप्त होती है," "जिस निन्दा का उत्तर नही दिया जाता, वह उसी अन्न की तरह है, जो अतिथि द्वारा स्वीकार न किए जाने पर फिर देनेवाले के पास लौट आता है।" उनका एकमात्र ध्यान इस बात पर था कि लोगो को उस सत्य का अनुभव कैसे कराए जिससे सब दु खो का अन्त होगा। वह कहा करते थे, "कोई बुद्धिमान व्यक्ति, जो सच्चा, स्पष्टवक्ता और ऋजु स्वभाव का हो मेरे समीप आए तो मैं उसे उपदेश करूगा और यदि वह उपदेश के अनुसार आचरण करेगा तो अपने-आपको जानने के लिए और उस उत्तम धर्म तथा लक्ष्य को जानने के लिए, जिसकी प्राप्ति के अर्थ मनुष्य घर छोडकर अनागरिक जीवन मे प्रवेश किया करते हैं, उसे केवल सात दिन लगेंगे" (दीघ, ३।५६)।

परिषदों मे उनका प्रभाव—बुद्ध की महिमा इससे भी सूचित होती है कि अपने धर्म-प्रचार मे प्रतिदिन वह सवाद और उपदेशो मे अत्यन्त प्रभावशाली भाषण करते थे। इन परिषदो मे पूर्ण व्यवस्था रहती थी। राजवैद्य जीवक जब सम्राट् अजातशत्रु को पूर्णिमा की रात मे एकत्र ऐसी ही एक परिषद् मे ले गया, तो वहा की नि शब्दता से आशकित होकर उसने पूछा, "जीवक, कही मेरे साथ धोखा तो नही कर रहे हो ? कही मुझे शत्रुओ के हाथ मे तो नही सौंप रहे हो ? यह कैसे हो सकता है कि १२५० भिक्षुओ की इस बडी परिषद् मे कोई शब्द न हो, अथवा कोई छीके या खांसे भी नही ?" तूष्णीम्भाव से बैठी हुई निर्मल पुष्करिणी की तरह शान्त उस परिषद् को देखकर, राजा ने नि श्वास लेकर कहा, "आह,मेरा पुत्र उदायिभद्र भी कही ऐसा ही शान्त होता !" (दीघनिकाय, २)।

वादविवाद मे श्रेष्ठता—उनका वादविवाद का ढग यह था कि वह विरोधी को अपने पक्ष का समर्थन करने की स्थिति मे डाल देते थे। निग्रोध ने, जो ३००० शिष्यो

का नेता था, उन्हे बुद्धिकौशल मे पछाडने का यत्न किया। उसने सोचा कि एकान्त मे रहने के कारण बुद्ध की सूक्ष्म-दृष्टि का ह्रास हो गया था, वह परिषद् के सचालन मे चतुर न थे और बातचीत मे भी उनकी बुद्धि स्फुरित न होती थी, वह वस्तुओ के केवल बाहरी रूप मे व्यस्त रहते थे। उसने बुद्ध से अपने मत की व्याख्या करने को कहा। बुद्ध ने उत्तर दिया कि दूसरे मतावलम्बी के लिए बिना अभ्यास या शिक्षा के उनका मत समझना कठिन था, परन्तु "निग्रोध! आओ, मुझमे अपने ही मत के विषय मे प्रश्न पूछो"। इस कथन से निग्रोध हक्का-बक्का रह गया। बुद्ध ने स्वय कहा, "किसी के साथ भी वादविवाद करते हुए मैं भ्रान्ति या घबराहट मे पड जाऊ—इस बात की कोई सम्भावना नही देखता। अतएव मैं शान्त और धीर बना रहता हूँ," और वह सारिपुत्त से कहने लगे, "एव जब मेरी रुग्णावस्था के कारण मुझे शैया पर डालकर भी यहाँ लाओगे तो हे सारिपुत्त, मेरी प्रज्ञा-शक्ति मे किसी प्रकार की कमी न आएगी।"

मृत्यु के समय बड़प्पन—ऊपर के वाक्य की सचाई उन घटनाओ से प्रकट होती है जो उनकी मृत्यु-शैया के समीप हुई। आनन्द के रुदन करने पर उन्होने शान्त-भाव से कहा, "आनन्द! प्रसन्नता रखो, रोओ, नही, क्या मैंने प्राय तुम्हे यह नही सिखाया है कि ससार का यही नियम है, कि हमे उस सबसे बिछुडना होगा जिसे हम मूल्यवान और प्रिय समझते है?"

अन्तिम शब्द—जीवन मे महान् बुद्ध अपनी मृत्यु मे उससे भी महान् थे। सघ के सस्थापक होने पर भी उन्होने अपने लिए उसमे कोई स्थान न रखा। उनके अन्तिम क्षणो मे जब आनन्द ने सघ के विषय मे आदेश पूछा तो बुद्ध ने कहा, "तथागत ऐसा नही मानते कि वे ही भिक्षुओ का पथ-प्रदर्शन कर सकते है, अथवा सघ उनके ऊपर ही निर्भर है। फिर सघ के विषय मे किसी प्रकार का निर्देश छोडने की क्या आवश्यकता है?" और तब उनका यह महान् कथन (पच्छिमावाचा) आता है

"अतएव हे आनन्द! अपने लिए स्वय दीप बनो। अपने लिए स्वय शरण बनो, किसी बाहर की शरण मे न जाओ। सत्य को दीपक की भाँति दृढता से पकडे रहो। सत्य की शरण लिये रहो। अपने से बाहर किसी से शरण की आशा न करो।"

और जब उनकी पूजा के लिए स्मारक बनाने की बात उठी, उसी भाव से उन्होने कहा, "जो भिक्षु या भिक्षुणी, उपासक या उपासिका बडे छोटे धर्मों का ठीक निर्वाह करता हुआ (धम्मानुधम्म पटिपन्नो) समीचीन जीवन मे लगा है, जो शिक्षाओ का पालन करता है (समीचि पटिपन्नो अनुधम्मकारी) वही तथागत का सत्कार करता, गौरव करता, मान करता और परमपूजा से पूजित करता है।" जब आनन्द ने निर्वाण के समय उनसे प्रश्न किया, "भगवन्, तथागत की शरीर-

धातुओ का हम क्या करे ?" उन्होने उत्तर दिया, "आनन्द ! तथागत की शरीर-पूजा मे तुम अपने कार्य की वाधा न करो। आनन्द ! मै कहता हूँ कि तुम अपने विषय मे उत्साहपूर्वक लगो। अपने कल्याण मे अनुरक्त होओ। अपने लिए अप्रमाद और श्रमनिरत और ध्यानपरायण होओ। जब मै न रहूँगा, तब सत्य और सघ के जो नियम मैंने बताए हैं और जिनका मैंने उपदेश किया है, वे तुम सबके लिए मार्गदर्शक, शिक्षक की भाँति रहेगे।"

एक तुल्यकालीन सम्मति—उनके विषय मे जो उस काल के लोगो की धारणा थी, उसे ब्राह्मण सोणदण्ड ने एक सार्वजनिक भाषण मे इस प्रकार निवद्ध किया है—"सत्य ही, भिक्खुओ ! भदन्त गौतम माता-पिता दोनो ओर से कुलीन हैं, शुद्ध वश के हैं और जन्म के सम्बन्ध मे कोई कलक उनमे नही है।

"उन्होने अपने सम्बन्धियो के महान् परिवार के धन, स्वर्ण और कोष की बडी राशि को त्यागकर धार्मिक जीवन मे प्रवेश किया है।

"वह सुन्दर हैं, रूपवान हैं, देखने मे सौम्य है, आश्वस्त करने वाले हैं, उनका वर्ण अत्यन्त रोचिष्मान् है, वे अवदात वर्ण के हैं, आकृति के मनोहर और अत्यन्त प्रभविष्णु दर्शन वाले हैं।

"उनकी वाणी सुन्दर व मधुर है और बोलने का ढग भी सुन्दर है, वह विनम्र और स्पष्ट भाषण करते हैं, अस्पष्ट नही, और जिस विषय को लेते है उसकी स्पष्ट व्याख्या करते हैं।

"वह अनेकमस्यक मनुष्यो के आचार्यों के भी आचार्य हैं, जो ब्राह्मणो के सम्मुख किये हुए अपने उपदेशो को धर्म मे प्रमुख स्थान देते हैं।

"उनसे प्रश्न पूछने के लिए लोग दूर देशो मे सीधे चलकर आते है और वह सब मनुष्यो का स्वागत करते हैं। सबके प्रति अनुकूल हैं, सबका अनुरजन करते हैं। किसी के प्रति उद्धत व्यवहार नही करते, सबके लिए सुप्राप्य हैं और सवाद करने मे पीछे नही रहते।

"जबकि कुछ श्रमण और ब्राह्मणो ने नाना भाँति की तुच्छ बातो से (जैसे विशेष ढग के वस्त्र पहनकर, इत्यादि) अपने को यशस्वी बनाया है, उनका यश आचार और धर्म की पूर्णता से उत्पन्न हुआ है।

"और मगध के राजा सेनिय बिम्बिसार, कोसल के राजा पसेनदि और प्रमुख ब्राह्मण आचार्य पोक्खरसादिय भी अपने पुत्र और दारा के साथ, अपने परिचारक और सभासद या सम्बन्धियो के साथ, उनका विश्वास करते हैं, सम्मान करते है और पूजा करते हैं" (सोणदण्ड सुत्त)।

अजातशत्रु के बाद मगध—अजातशत्रु के बाद के राजाओ के नाम और उनका राज्यकाल सिंहली (दीपवस और महावस), बरमी, नेपाली (अशोकावदान), जैन

(हेमचन्द्रकृत परिशिष्टपर्वन्), और ब्राह्मण साहित्य (पुराण) सम्बन्धी स्रोतों में भिन्न-भिन्न है। गायगर (महावंश, अंग्रेजी अनुवाद, भूमिका, पृष्ठ ४०-४६) ने बौद्ध स्रोत को अधिक विश्वसनीय माना है। हम उसी सूची के अनुसार यहाँ राजाओं का वर्णन करेंगे। अजातशत्रु के निम्नलिखित उत्तराधिकारी थे

(१) उदायिभद्द, जिसने महावंश के अनुसार १६ वर्ष, अर्थात् ५०३ ई० पू० तक, राज्य किया। जैन-ग्रन्थ (कथाकोश, पृष्ठ १७७) उसे रानी पद्मावती के गर्भ से कुणिक का पुत्र मानते हैं। बौद्ध अनुश्रुति अजातशत्रु के पुत्र उदायिभद्द को उसके पिता की भाँति पितृघाती बताती है, किन्तु जैन अनुश्रुति ठीक इसके उलटी है और यहाँ तक कहती है कि पिता की मृत्यु का समाचार सुनकर उदायिभद्द को अत्यन्त शोक हुआ था। उस समय वह अपने पिता के निर्देश से चम्पा का राजा था (हेमचन्द्र, परिशिष्टपर्वन्, श्लोक ३२-१८०, त्रिपष्टिशलाका, १० श्लोक ४२६, टॉनी कथाकोश, पृ० १७७, आवश्यक सूत्र, पृ० ६८७, कोणिक मृत.·· तदा राजान उदायिन स्थापयन्ति)। उसने अपने-आपको चम्पा से पाटलिपुत्र में स्थानान्तरित किया, जिसके विकास के लिए उसने महत्वपूर्ण कार्य किया। वायुपुराण के अनुसार उदायि ने नये पाटलिपुत्र का निर्माण किया, जिसका नाम कुसुमपुर रखा गया (पार्जिटर, 'डाइनेस्टीज', पृ० ६९)। जैसा प्राय देखा जाता है, जैन अजातशत्रु और उदायिभद्द दोनों को अच्छे चरित्र का बतलाते हैं, क्योंकि दोनों जैन-धर्म को मानने वाले थे। यही कारण है कि बौद्ध ग्रन्थों में उनके चरित्र पर कालिख पोती गई है। आवश्यक सूत्र (पृ० ६८९) में कहा है कि उदायि ने अपनी राजधानी के ठीक बीच में (नगरनाभौ) एक जैन चैत्यगृह बनवाया था, और वह अष्टमी और चतुर्दशी के दिन जैनधर्म के कट्टर भक्त की तरह उपवास करता था। ऐसे ही एक दिन एक उपाध्याय महल में उपदेश देने आए। उनके साथ एक नवकर्मा शिष्य आया, जिसने अपनी छिपी हुई कटार से राजा को मार डाला। यह अवन्ति के राजा द्वारा आयोजित षड्यन्त्र का परिणाम था। उदायि ने किसी राजा को पराजित करके मरवा डाला था। उसी के पुत्र के लिए अवन्तिराज ने यह कुचक्र कराया। यों मगध और अवन्ति के राजाओं में पुश्तैनी शत्रुता थी। अवन्ति का यह राजा पालक था, जो उदायि के पिता के शत्रु प्रद्योत का, जिसने कौशाम्बी का राज्य हथियाकर अपनी शक्ति बढ़ाई थी, पुत्र था (कथासरित्सागर, टॉनीकृत अनुवाद, २।४८४)। जैन-ग्रन्थों में लिखा है कि उदायि ने अनेक बार उज्जैन के राजा को हराया था (आवश्यक सूत्र, पृ० ६९०)।

(कलकत्ता के इण्डियन म्यूजियम में पटना से प्राप्त एक मूर्ति है, जिसे श्री जायसवाल ने उसके लेख के आधार पर उदायि की मूर्ति माना था। उन्होंने लेख को इस प्रकार पढ़ा "भग अचो छोनिधिषे"। अचो=अज (य) भागवत पुराण में

उदार्य का नाम है। यह पाठ सदिग्ध है। कनिंघम ने उसे "यक्षे अचु सनिकिक", और रमाप्रसाद चन्दा ने "भ (?) गे अच्छनीविक" पढा था, अर्थात् भगवान् अक्षत नीविक, अक्षय निधि के देवता या धन के अधिपति कुवेर वैश्रवण।)

पुराणो के अनुसार अजातशत्रु का उत्तराधिकारी दर्शक था। उसका राज्यकाल पच्चीस वर्ष दिया है।

(२) अनुरुद्ध और

(३) मुड, जिसने ८ वर्ष, अर्थात् ४६५ ई० पू० तक, राज्य किया। अगुत्तर (३।५७-६३) के अनुसार वह अपनी स्त्री भद्दा के साथ पाटलिपुत्र मे रहता था। स्त्री की मृत्यु पर शोक से वह उसका दाह नही कर रहा था, जबकि कुक्कुटाराम मे रहने वाले नारद थेर ने उसे समझाकर शान्त किया। कुक्कुटाराम का उल्लेख ग्युआन चुआड् ने किया है (वाटर्स, २।६८, ६६, सयुत्त, ५।१७१, अगुत्तर, ५।३४२, मज्झिम, १।३५०)।

(४) नागदसक, जिसने २८ वर्ष (४७१ ई० पू०) तक राज्य किया, उसकी पहचान पुराणो मे उल्लिखित राजा दर्शक से की जा सकती है, जिसका अस्तित्व भासकृत 'स्वप्नवासवदत्ता' नामक सस्कृत-नाटक से प्रमाणित होता है।

(५) सुसुनाग, जिसने १८ वर्ष (४५३ ई० पू०) तक राज्य किया।

सिंहली इतिहास-ग्रन्थो के अनुसार वह अमात्य था जिसे जनता ने अजातशत्रु से लेकर नागदसक तक के पितृहन्ता राजाओ के विरुद्ध विद्रोह करके सिंहासन पर विठा दिया था।

पुराणो मे उसे शिशुनाग नाम दिया है और उसके सम्बन्ध मे दो महत्त्व की बातें कही हैं। उसने अवन्ति के प्रद्योतो के गौरव का नाश करके अपने-आपको गिरिव्रज मे प्रतिष्ठित किया था और अपने पुत्र को वाराणसी मे। जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, अवन्ति और मगध के घरानो मे ऐतिहासिक वैर अजातशत्रु के समय से ही चला आ रहा था (मज्झिम, ३।७), पर बिम्बिसार के समय मे अज्ञात था। इसी प्रकार पुराण जिस वाराणसी के विषय मे कहते हैं कि उसे शिशुनाग ने मगध का अग वनाया, उसे तो अजातशत्रु ने ही जीतकर मगध मे मिला लिया था। इन दो कारणो से पुराणो की यह भ्रान्ति है कि वे शिशुनाग को बिम्बिसार और अजातशत्रु से पहले ले जाते हैं। मगध की प्राचीन राजधानी राजगृह से शिशुनाग का सम्बन्ध था, इसलिए वह प्राचीनतर होना चाहिए। इस मत का समाधान यह है कि उसने अवन्ति के आशकित आक्रमण से मगध के उस भाग की रक्षा करने के लिए राजग्रह को अपना अड्डा बना लिया था, जैसे कि उसने अपने पुत्र को वाराणसी मे रख दिया था कि अपने साम्राज्य की पश्चिमी सीमा की रक्षा कर सके। सम्भवत मगध के राजा उस

काल मे राजगृह और पाटलिपुत्र, इन दो राजधानियो मे बारी-बारी से जमे रहे थे, जिसमे वे अवन्ति और लिच्छवियों से अपना बचाव कर सकें।

पुराणो मे पाँच प्रद्योतो का नामोल्लेखन है प्रद्योतन, पालक (एक पाठ गोपालक), विशाखयूप, जनक (वायु मे अजक, मत्स्य मे सूर्यक, भागवत मे राजक), और नन्दिवर्धन (वर्तिवर्धन भी नाम का एक रूप है) जो शिशुनाग का प्रतिपक्षी था। पालक के एक पुत्र का नाम अवन्तिवर्धन (=नन्दिवर्धन ?) था (कथासरित्सागर, टॉनी, २।४८५)।

(६) कालाशोक, जिसने २८ वर्ष (४२५ ई० पू०) तक राज्य किया। पुराणो मे उसे काकवर्ण और अशोकावदान मे काकवर्णिन् कहा है।

(७) उसके दस पुत्र, जिन्होने एकसाथ २२ वर्षों तक, अर्थात् ४०३ ई० पू० तक, राज्य किया। इस समय राजान्त पुर मे कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ, जिसका कुछ बीज सस्कृत और यूनानी सामग्री मे पाया जाता है। बाण के 'हर्षचरित' मे कहा है कि काकवर्णी शैशुनागि का नगर के उपकण्ठ मे निस्त्रिंश से किसी ने कण्ठ निकृन्तन कर दिया। इस घटना का उल्लेख कर्तिअस के इस कथन मे देखा जा सकता है कि "अग्रम्मेस का पिता, जो राजनापित था, रानी का जार होने के कारण अपना प्रभाव बनाकर राजा का अत्यन्त विश्वासपात्र बन गया" और उसने कपट से राजा का वध कर डाला, "और तब राजकुमारो का अभिभावक बनने के व्याज से सारी शक्ति हथियाकर उसने कुमारो को भी मरवा डाला और रानी के गर्भ से वर्तमान राजा को उत्पन्न किया।"[1]

इस उल्लेख के 'बालक राजकुमार' कालासोक-काकवर्णी के दस पुत्र ज्ञात होते हैं।

कालासोक का घातक ही इसके बाद के राजवश, अर्थात् नव नन्द-वश का सस्थापक बना। महाबोधिवस मे उसे उग्रसेन कहा गया है जिसे कर्तिअस ने 'अग्रम्मेस का पिता' कहा है। अतएव अग्रम्मेस उग्रसेन का पुत्र था, अर्थात् औग्रसैन्य यूनानी 'अग्रम्मेस' का रूप है।[2]

---

१ दिओदोरस ने इस घटना का कुछ भिन्न वर्णन किया है—"गंगरिदाई का राजा (अर्थात् नन्द) बिलकुल निकम्मे चरित्र का था और उसका कुछ सम्मान न था, क्योंकि लोग उसे नापित-पुत्र समझते थे। राजा का जनक वह नापित देखने मे सुन्दर था और उसके रूप पर रानी रीझ गई थी। रानी ने विश्वासघात से वृद्ध राजा का वध कर डाला तो सिंहासन वर्तमान राजा के हाथ लगा।" (१७।९३)।

२ श्री हेमचन्द्रराय चौधरी ने पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐंशेंट इण्डिया'

इस यूनानी उल्लेख का, कि प्रथम नन्दसम्राट् नापित था, समर्थन जैन और ब्राह्मण-धर्म की अनुश्रुति से भी होता है। परिशिष्टपर्व (पृष्ठ ४६) के अनुसार नन्द किसी गणिका के गर्भ से नापित का पुत्र था, पर पुराण उसे शूद्रा का गर्भ-सम्भव मानते हैं।

महावोधिवस मे कालासोक के दस पुत्रो के नाम ये हैं (१) भद्रसेन, (२) पोरण्डवर्ण,(३) मगुर,(४) सर्वञ्जह,(५) जालिक,(६) उभक, (७)सञ्जय, (८) कोरव्य, (६) नन्दिवर्धन और (१०) पञ्चमक।

इनमे नन्दिवर्धन (सख्या ६) के विषय मे इधर हाल ही मे कुछ वादविवाद चला है। पुराणो मे उसे नन्दो का पूर्ववर्ती कहा है।

उसके ऐतिहासिक अस्तित्व के समर्थन मे पटना से प्राप्त मूर्ति पर उत्कीर्ण लेख की दूसरी पक्ति के पाठ का प्रमाण दिया गया है, जिसके विषय मे ऊपर कहा जा चुका है। श्री जायसवाल ने उसे इस प्रकार पढा था—"सप (या सव) खते वट नन्दि।" वे वटनन्दि का सम्बन्ध नन्दिवर्धन और वनिवर्धन (वायुपुराण के अनु-सार नन्दिवर्धन प्रद्योत का नाम) से जोडते हैं। श्रीहरप्रसाद शास्त्री ने यह विचित्र सुझाव और दिया कि वटनन्दि का अर्थ है व्रात्यनन्दि, और इसके समर्थन मे यह बात कही कि मूर्ति का वेश वही है जो कात्यायन ने व्रात्यक्षत्रियो के लिए लिखा है। पुराण भी शिशुनाग राजाओ को 'क्षत्रवन्ध' अर्थात् व्रात्य क्षत्रिय कहते हैं।

श्रीरमाप्रसाद चन्दा ने लेख को दूसरी तरह पढा है "यख स (?) वंट नदि", उनका कहना है कि यह सर्वत्र-नन्दि यक्ष की मूर्ति है।

(८) नवनन्द, जिन्होने २२ वर्ष अर्थात् ३८१ ई० पू० तक राज्य किया। पुराण भी नवनन्दो के विषय मे सहमत है, पर उनका राज्यकाल १०० वर्ष बताते हैं। यदि, जैसा सिद्ध किया गया है, प्रथम नन्द वीस वर्ष की आयु मे, अर्थात् ४०३ ई० पू० मे राजा बना तो नवनन्दो ने अस्सी वर्ष राज्य किया, अर्थात् ३२३ ई० पू० तक। आश्चर्य है कि यह वही तिथि है जो चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्याधि-

---

नामक ग्रन्थ मे यह सुझाव दिया है। इस अध्याय के लिए लेखक उस ग्रन्थ का ऋणी है। "कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया" (भाग १, पृष्ठ ४६६) मे अभी वही पुराना मत दिया हुआ है कि अग्रम्मेस की, या जिसे दिओदोरस ने सान्द्रमेस् कहा है, पहचान नन्दवश के अन्तिम राजा धननन्द से की जानी चाहिए। जुस्टिन के ग्रन्थ मे नाम का रूप ठीक 'नन्द्रुस्' मिलता है। किन्तु इस मत मे इस अनुश्रुति का ध्यान नहीं रखा गया है कि अग्रम्मेस का पिता राजा का वध करके राज्य का अपहरण करने वाला था।

रोहण की तिथि के बिलकुल भिन्न प्रमाणो के आधार पर निकलती है।

महाबोधिवस मे नवनन्दो के नाम ये है (१) उग्रसेन, (२) पण्डुक, (३) पण्डुगति, (४) भूतपाल, (५) राष्ट्रपाल, (६) गोविषाणक, (७) दशसिद्धक, (८) कैवर्त, और (९) धननन्द।

पुराणो मे केवल पिता का और उसके आठ पुत्रो मे से एक पुत्र, अर्थात् सुमाल्य या सुमात्य, का नाम आया है। पिता का नाम महापद्मनन्द है। भागवत पुराण मे उसे महापद्मपति, 'महापद्म का स्वामी' कहा है, टीकाकार की दृष्टि से उसका अर्थ था, 'असख्य सेना का स्वामी या अपरिमित धनराशि का स्वामी', क्योकि महापद्म सख्या १००,००० करोड की वाचक है (विल्सन, विष्णुपुराण, ४।१८४)।

उसकी सेना के विषय मे यूनानी वर्णन से इसका मेल मिल जाता है। कर्तिअस ने प्रथम नन्द राजा अग्रम्मेस की सेना की सख्या मे २०,००० घुडसवार, २००,००० पैदल, २००० चार घोडो के रथ और ३००० हाथी लिखे हैं।

पुराणो मे उसे "द्वितीय परशुराम या भार्गव कहा गया है जो पृथ्वी मे सब क्षत्रियो का अन्त करने वाला (सर्वक्षत्रान्तक) एकराट् होगा और समस्त भूमि को एक छत्र के अधिकार मे करेगा।"

इस युग के तुल्यकालीन क्षत्रिय-वश पुराणो के अनुसार ये थे ऐक्ष्वाकु, पञ्चाल, काशी, हैहय, कलिंग, अश्मक, कुरु, मिथिला, शूरसेन और वीतिहोत्र।

यूनानियो को भी पता चला था कि व्यास नदी के उस पार सशक्त जातियो के ऊपर एक चक्रवर्ती सम्राट् का शासन था जो 'गगरिदाई और प्रासाई' का शासक था और जिसकी राजधानी पाटलिपुत्र थी। मेगस्थने के अनुसार गगरिदाई गगा के मुहाने की समतल प्रदेश की जाति थी और प्रासाई प्राच्यो का नाम था जो मध्यदेश के निवासी पचाल, शूरसेन, कोसल आदि वशो के पूर्व मे बसे थे।

जैन-ग्रन्थो को भी नौ नन्दो का परिचय है (आवश्यक सूत्र, पृ० ६९३, नवमे नन्दे)। उनमे भी नन्द को वेश्या के गर्भ से उत्पन्न नापित-पुत्र कहा है (वही, पृ० ८९०, नापितदास 'राजा जात) परन्तु उदायि और नौ नन्दो के बीच के राजा उन्होने छोड दिए। सम्भवत उन्हे नगण्य समझकर नही लिखा।

जैन-धर्म के प्रति नन्दो के झुकाव का कारण सम्भवत उनकी जाति थी। पहले नन्द को छोडकर और नन्दो के विरुद्ध जैन-ग्रन्थो मे कुछ नही कहा है। नन्द राजाओ के मत्री जैन थे। उनमे पहला कल्पक था जिसे बलात् यह पद सँभालना पडा। कहा जाता है कि इसी मत्री की विशेप सहायता पाकर सम्राट् नन्द ने तुल्यकालीन क्षत्रिय-वशो के अन्त करने के लिए अपनी सैनिक विजय की योजना की। उत्तरकालीन नन्दो के मन्त्री उसी के वशज थे (वही, ६९१-३)। नौवे नन्द का मन्त्री

शाक्टाल था। उसके दो पुत्र थे स्थूलभद्र और श्रीयक। पिता की मृत्यु के बाद स्थूलभद्र को मन्त्रिपद दिया गया, पर उसने स्वीकार न किया। वह छठे जिन से दीक्षा लेकर जैन-साधु हो गया (वही, ४३५-६, ६६३-५)। तब वह पद उसके भाई श्रीयक को दिया गया।

नन्दो पर जैनो के प्रभाव की अनुश्रुति—नन्दो पर जैनो के प्रभाव की अनुश्रुति को बाद के सस्कृत-नाटक 'मुद्राराक्षस' मे भी माना गया है। वहाँ चाणक्य ने एक जैन को ही अपना प्रधान गुप्तचर चुना है। नाटक की सामाजिक पृष्ठभूमि पर भी कुछ अश मे जैन प्रभाव है।

खारवेल के हाथीगुम्फा लेख से कलिंग पर नन्द की प्रभुता ज्ञात होती है। एक वाक्य मे उसे नन्द-राजा कहा गया है जिसने एक प्रणाली या नहर बनाई थी जो ३०० (या १०३ ?) वर्षों तक काम मे न आई। तब अपने राज्य के पाँचवें वर्ष मे खारवेल उसे नगर मे लाया। दूसरे वाक्य मे कहा गया है कि नन्द राजा प्रथम जिन की मूर्ति (या पादुका), जो कलिंग राजाओ के यहाँ वश-परम्परा से चली आ रही थी, विजय के चिह्न-रूप मगध उठा ले गया।

नन्द-राजा अपनी धनराशि, लालची प्रकृति और निन्दित जन्म के कारण या शूद्र-तुल्य होने के कारण अप्रिय और बदनाम थे। उनके धन और बलपूर्वक कर ग्रहण की बौद्ध-अनुश्रुति टर्नर ने इस प्रकार लिखी है (महावस, भूमिका, पृ० ३६), "सबमे छोटा भाई धननन्द कहलाता था, क्योकि उसे धन बटोरने का व्यसन था उसने ८० कोटि धन गगा के भीतर एक पर्वत-गुफा मे छिपाकर रखा। एक सुरग बनवाकर उसने वह धन वहाँ गाडा। वस्तुओ के अतिरिक्त पशु चर्म, वृक्षो के गोद और खानो के पत्थरो पर भी कर लगाकर उसने और भी अधिक कोष सचित किया और इसी प्रकार ठिकाने लगाया।" इस कहानी का सकेत एक तमिल काव्य मे भी आया है जहाँ नन्दो की धनराशि का उल्लेख करते हुए लिखा है कि "पहले पाटिल मे उसका सचय किया गया और पीछे गगाजी की धारा मे उसे छिपा दिया गया" (अय्यगर, 'बिगिनिंग ऑफ द साउथ इण्डियन हिस्ट्री', पृ० ८९)। नन्दो की सम्पत्ति के बारे श्युआन चुआङ् ने भी कुछ वर्णन किया है। वह लिखता है कि पाटलिपुत्र मे पाँच स्तूप थे जो राजा नन्द के "सप्त मूल्यवान् पदार्थों के सचित पाँच कोषागारो के प्रतिनिधि थे" (वाटर्स, २।९६), 'कथा-सरित्सागर' मे राजा नन्द के ९९ कोटि हिरण्य-धन का उल्लेख है (टॉनी, २।२१)।

नन्द राजा की सैनिक शक्ति और अप्रियता की वार्ता फेगियस या फेगेलस (स० भगल) नामक भारतीय राजा के द्वारा सिकन्दर के पास तक पहुँची थी। पजाब के राजा पोरस ने भी इसका समर्थन करते हुए इतना और कहा था, "गगरिदाई का राजा बिलकुल निकम्मे चरित्र का व्यक्ति है जिसकी कुछ कदर नही, और

लोग उसे नापित-पुत्र समझते है" (दिओदोरस, पूर्वोल्लिखित)। प्लूटार्क के अनुसार अन्द्रोकोट्टस, अर्थात् चन्द्रगुप्त मौर्य, ने भी यह सूचना दी थी, "प्रजाएँ नन्द-राजा को उसके दुष्ट स्वभाव और नीच जन्म के कारण घृणा से देखती और हेय समझती है।"

पुराणो मे नन्दों को अधार्मिक कहा है।

देश को कुशासन की बुराइयो से मुक्त करने के लिए एक नई क्रान्ति को उभारने वाली परिस्थितियाँ इस प्रकार बन रही थी।

विदेशी आक्रमण—इस युग मे भारतवर्ष मे दो विदेशी आक्रमण हुए एक ईरानी, दूसरा यूनानी या मकदूनिया से, यद्यपि उनमे दो शताब्दियो का व्यवधान था।

ईरानी आक्रमण—इतिहास के आरम्भ से ईरान और भारत के घनिष्ठ सम्बन्ध थे, जैसा कि उन दोनो के धार्मिक ग्रन्थो 'अवस्ता' और 'ऋग्वेद' मे प्रतिबिम्बित है, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। दोनो ग्रन्थो मे भारतीय-ईरानी क्षेत्र की समस्त सीमाओ के भौगोलिक उल्लेख आते है। कुभा, क्रुमु और गोमती नदियो तथा गधार और मूजवन्त लोगो के विषय मे ऋग्वैदिक उल्लेख इसी प्रकार के हैं। कुछ विद्वान् पर्शिया का भी उल्लेख इन शब्दो मे मानते हैं जैसे ऋग्वेद मे पार्थव (६-२७।८) और पर्शव (१०-३३-२) या बाल्हीक जो अथर्ववेद (५-२२-५-७-९) मे आया है। अवस्ता मे भी इसी प्रकार भारत के सम्बन्ध मे जानकारी है जिसे वहाँ हिन्दु कहा गया है। यह शब्द सस्कृत सिन्धु से निकला था और सिन्धु से नदी एव उस देश का भी बोध होता था जिसकी वह सीमा थी। उसमे हप्त-हिन्दु नामक पजाब के प्रदेश पर भी अधिकार होने का कुछ सकेत है। यह ऋग्वेद (८-२४-२७) का सप्त-सिन्धव (सात नदियो का प्रदेश) था जिसे वेन्दीदाद के प्रथम अध्याय मे ईरानी जगत् के १६ जनपदो मे माना है। एक अन्य उल्लेखयश्त (१०।१०४) मे अवस्था के देवता मिथ् के लिए कहा गया है कि वह 'पश्चिमी हिन्द' से 'पूर्वी हिन्द' तक के पातकी जनो का नाश करने वाला है। एक तीसरे अवतरण (यस्न, ५७।२९) मे वही अधिकार स्रओष देवता को दिया गया है जो मनुष्यो का रक्षक देवता था।

दोनो देशो के ये पूर्वकालीन सम्बन्ध व्यवसाय-वाणिज्य के सम्बन्धो से और भी दृढ होते गए।

छटी शती ई०पू० मे उन दोनो के बीच मे निश्चित राजनीतिक सम्बन्धो का प्रमाण मिलता है। उनका कारण ईरानी सम्राट् कुरुष् (साइरस, ५२८-५३० ई०पू०) द्वारा पूर्वी देशो की विजय थी, जिनमे गन्दारितस् या गन्धार भी सम्मिलित था (हिरोदोतस, १।१५३ और १७७)। कहा तो यहाँ तक जाता है कि 'भारतीयो'

के साथ युद्ध मे लगे हुए घावो से कुरुष् की मृत्यु हुई (टेसियस, उद्धरण ३७, गिल्मोर द्वारा सम्पादित)। जीनोफन (साइरोपीडिया, १।१-४) के अनुसार कुरुष् ने 'बाख्त्री और भारत के लोगो (बैक्ट्रियन्स और इण्डियन्स) का अपने शासनाधिकार" मे किया और अपना राज्य एरीथ्रियन सी अर्थात् भारतीय महासागर तक फैलाया। उसका यह भी कहना है (वही, ६।२, १-११) कि किसी भारतीय राजा ने दूतमण्डल के द्वारा कुछ धन, सम्भवत उपायन रूप मे, कुरुष् के पास भेजा था।

अगले राजा कम्बुज (कमबाइसेस) के राज्यकाल मे भारतवर्ष मे ईरानी अभियान का कोई उल्लेख नही मिलता, किन्तु सम्राट् दारयवहु (यूनानी डेरियस, फारसी दारा, ५२२-४८६ ई० पू०) के राज्यकाल मे ऐसे लेख मिले हैं जिनसे उसके भारत पर आक्रमण और विजय की सीमा ज्ञात होती है। उसके बहिस्तून (सस्कृत भगस्थान, प्राचीन ईरानी बगस्तान) शिलालेख मे (लगभग ५२०-५१८ ई०पू०) दी हुई २३ देशो की सूची मे भारत का नाम नही है, पर बाद के दो लेखो मे जो पर्सिपोलिस (५१८-५१५ ई० पू०) और नक्शेरुस्तम (५१५ ई० पू०) नामक स्थानो मे उत्कीर्ण है, 'हिन्दु' या पजाब उसके साम्राज्य का एक प्रदेश कहा गया है। इसलिए दारा ने इस भाग की विजय ५१८ ई० पू० के आस-पास की होगी।

हिरोदोतस (३।९४) का यह भी कहना है कि भारत दारा के साम्राज्य का बीसवाँ प्रान्त गिना जाता था, और साम्राज्य की आय का तृतीयाश भारत से ही आता था। यह ३६० टैलेंट के बराबर रवेदार सोना होता था, जिसका मूल्य १ करोड ४० लाख रुपये से अधिक था।[1] यह स्वर्ण सिन्धु नदी की बालुका के धोने से निकलता होगा, क्योकि भूगर्भशास्त्रियो के मत मे सिन्धु नदी के कुछ भाग उस काल मे अवश्य ही स्वर्णोत्पादक थे (वी० बॉल, 'इण्डियन ऐन्टीक्वेरी', अगस्त, १८८४)। हिरोदोतस ने सोना खोदने वाली 'चिउटियो' का भी उल्लेख किया है जिन्हे कुछ लोग सोना खोदकर लाने वाले तिब्बती कुत्ते समझते है। महाभारत मे इसे पैपीलिक स्वर्ण कहा है।[2]

हिरोदोतस (४-४४) ने समुद्री मार्ग से भेजे गए एक अभियान का उल्लेख किया है, जिसे ५१७ ई० पू० मे दारा ने स्काइलेक्स की अध्यक्षता मे सिन्धु के

---

१ टैलेंट प्राचीन यूनानी तौल की सज्ञा थी, ६००० द्रख्मा = १ टैलेंट = ५७ पौंड, जिसका मूल्य २१३ से २३५ पौंड के लगभग था।

२ महाभारत उपायन पर्व (सभा पर्व) मे पैपीलिक स्वर्ण का उल्लेख है। नदी-बालुका से धोया हुआ स्वर्ण इससे भिन्न था और कलधौत कहलाता था। (अनुवादक)

मुहाने का पता लगाने के लिए भेजा था। यह तभी सम्भव था जब दारा ने सिन्धु प्रदेश पर पहले अधिकार कर लिया हो।

अगले सम्राट् क्षयार्ष (यूनानी जरकसीज, ४८६-४६५ ई० पू०) ने अपने भारतीय प्रदेश से भारतीयो की एक फौजी टुकडी जमा करके यूनान के विरुद्ध अपने युद्धो मे लडने के लिए भेजी। इसमे गन्धार (गन्धारियन) और हिन्दू (इण्डियन) इन दो प्रदेशो के सैनिक थे। गान्धारि लोगो के पास बाँस के धनुष और छोटे भाले थे जिनसे वे निकट की मार करते थे और हैन्दव लोगो के पास उसी प्रकार के धनुष और अयोमुखी बाण थे। भारत के ये सैनिक यूरोप की भूमि पर युद्ध करने वाले प्रथम भारतीय थे, जो थर्मापाइली की रक्तरंजित अधित्यका मे होकर गए होगे। विदेश के इस युद्ध मे वे इतने सफल रहे कि क्षयार्ष के प्रति निवृत्त होने पर भी ईरानी सेनापति मरदोनियस ने ब्रिस्तिया के युद्ध मे भाग लेने के लिए उन्हे रोक लिया (एबट, 'हिस्ट्री ऑफ ग्रीस', भाग २)। पदाति सेना के अतिरिक्त क्षयार्ष को भारत से अश्वारोही सेना, रथ, सवारी के घोडे एव रथ्य अश्व और गर्दभ तथा बहुसख्यक कुत्ते भी प्राप्त हुए थे।

भारत के कुछ प्रदेशो पर ईरानी अधिकार ३३० ई०पू०तक रहा जबकि हखामनि वश के अन्तिम सम्राट् दारा तृतीय ने अरबेला के युद्ध मे सिकन्दर से लडने के लिए भारत से सैनिक टुकडियाँ मँगा भेजी। अरिअन के अनुसार (अनाबासिस, ३।८।३-६) भारतीयो का एक सैनिक दस्ता बाख्त्री के क्षत्रप की नायकता मे बाख्त्री और सुग्ध देशीय सैनिको के साथ गया था और पर्वताश्रयी या पर्वतीय आयुधजीवियो का दूसरा दस्ता अर्खोसिया अर्थात् हरह्वैति (सस्कृत सरस्वती, अरगदाब, पश्चिमी अफगानिस्तान) के क्षत्रप की अधिनायकता मे लडा था। भारतवर्ष से हाथियो की भी छोटी सेना भेजी गई थी।

सिकन्दर का अभियान—दारा तृतीय को हराकर ईरान जीत लेने के बाद और ३३० ई० पू० मे हखामनि साम्राज्य की राजधानी पर्सिपोलिस को अग्निसात् कर देने के बाद सिकन्दर ने भारत का अभियान किया।

पार्ष्णिभाग की रक्षा के लिए नगर—सिकन्दर की युक्ति यह थी कि वह अपनी विजय के मार्ग मे नगरो की एक शृखला बनाता चलता था जो एक प्रकार से उसके पार्ष्णिभाग की रक्षा के लिए यूनानी छावनियाँ थी। इसी तरह से इन नगरो का निर्माण हुआ, 'अर्खोसिया देश मे सिकन्दरिया' अर्थात् कन्धार, 'काकेशस के पादमूल मे सिकन्दरिया' अर्थात् हिन्दूकुश पर्वत के पादमूल मे बसाया हुआ नगर कर्पिन (बेग्राम), कदरुधि (पीरतम) काकेशस या हिन्दूकुश के निकट निविष्ट नगर, और निकाइया जो सिकन्दरिया और कुभा नदी के बीच मे बसाया गया।

निकाइया मे आगमन—३२७ ई० पू० की ग्रीष्म ऋतु के पूर्व तक सिकन्दर

पूर्वी ईरान, वाख्त्री और वह प्रदेश जो इस समय बुखारा कहलाता है, जीतने मे व्यस्त था, एव हिन्दूकुश के उस पार सीर दरिया तक अपना अमल वैठा रहा था। वहाँ से खावक दर्रे मे होकर पजसीर घाटी मे उतरा। कुषण दर्रे मे होकर लौटते हुए वह सिकन्दरिया पर, जो हिन्दूकुश के पादमूल मे बनाई गई थी, एक एक पहुँचा। वहाँ से वह निकाइया आया और वहाँ आकर पूर्वी गन्धार मे तक्षशिला के राजा के पास एव सिन्धु नदी के पच्छिम मे बसे हुए पश्चिमी गन्धार के अन्य राजाओ के पास उसने अपने दूत भेजे कि वे राजा उससे कुभा नदी की दून मे भेट करें।

तक्षशिला से सहायता—तक्षशिला के वृद्ध राजा और उसके पुत्र आम्भि[1] (ओम्फिस) ने बुखारा मे ही सिकन्दर के पास दूत भेजकर भारतीय आक्रमण के समय सहायता का वचन दिया था[2] और बदले मे अपनी रक्षा की माँग की थी। प्रतीत होता है कि उसने देश के साथ द्रोह करके विदेशी आक्रान्ता को यहाँ आने का न्यौता दिया, जिससे उसकी सहायता लेकर वह अपने पडोसी राजा पौरव (पोरस) की बढती हुई शक्ति को कुचल सके। पौरव का राजा झेलम (हाइडेस-पीस) और रावी (हाइड्रावतीस) के बीच मे था। वह अपना साम्राज्य बढाने के लिए रावी के उस पार पूरब के सघ-राज्यो की ओर अपने हाथ-पाँव फैला रहा था, एव पच्छिम मे तक्षशिला की सीमा पर धमक रहा था। तक्षशिला के राजा का मार्ग न ग्रहण करके पौरव ने अपने पडोसी अभिसार देश के राजा (कश्मीर के आधुनिक पुछ और नौशेरा के जिले) और अनेक सघ-राज्यो को अपनी ओर मिलाकर युद्ध मे सामूहिक शक्ति सगठित करने के लिए एक बलशाली सेना एकत्र कर ली। केवल रावी के उस पार के कठ क्षत्रियो (यूनानी-कठिओई[3]) को वह अपने सगठन मे सम्मिलित करने मे असफल रहा। यो इस राष्ट्रीय सकट के समय पौरव भारतीय शक्ति और राष्ट्रीय भावना का प्रतीक बना।

शशिगुप्त—आरम्भ मे ही एक अन्य भारतीय ने, जिसका नाम शशिगुप्त (सिसिकोट्टस) था, फूटकर सिकन्दर का साथ दिया और वह उसके साथ रहा। शायद वह सीमान्त की पहाडी रियासतो अर्थात् पर्वताश्रयी आयुधजीवी सघो मे से किसी का शासक था जो सिकन्दर के विरुद्ध ईरानी सेना की सहायता के

---

१ पाणिनीय गणपाठ, ४।२।६५।

२ कर्तिअस के अनुसार उसने सिकन्दर को "६५ हाथी, बहुत अधिक संख्या मे मोटी तगडी भेडें, ३,००० बढिया नस्ल के बैल" देकर सहायता की थी। मैक्रिण्डल, 'इनवेजन ऑफ इण्डिया बाई अलैक्जेंडर', पृ० २०२।

३. इसकी पहचान वेबर ने सस्कृत कठो से की थी, 'इण्डियन ऐण्टीक्वेरी' २-१४३, आदि।

लिए वाल्त्र की ओर गया था। सिकन्दर की विजय के बाद अब वह उसकी ओर आ गया था (मैक्रिण्डल 'इनवेज़न ऑफ इण्डिया बाई अलेक्ज़ेंडर', पृ० ७६)।

सिकन्दर की सेना—सिकन्दर की सेना की मर्यादित सख्या का अनुमान ३०,००० मनुष्य किया जाता है। यह एक खिचडी सेना थी, जिसमे कितने ही प्रकार के सैनिक थे, जैसे मकदूनिया की पदाति सेना, भारी अस्त्रो से लैस और लम्बा भाला या शक्ति लिए हुए, मकदूनिया की अश्वारोही सेना, यूनानी नगरो से बटोरी हुई आयुधजीवी श्रेणियाँ,[1] वालकन, अग्रियानेस (थ्रेस के पास इसी नाम की नदी की दून मे रहने वाले कबीले) और थ्रेस के पर्वताश्रयी आयुधजीवी[2] जो भिन्दिपाल (अग्रेज़ी स्लिग), प्रास (अग्रेजी जैवलिन), और धनुष चलाने मे निपुण थे, पूर्वी देशो के लोग, ईरान, परतून और हिन्दूकुश के अश्वारोही, मध्य एशिया के सैनिक जो अश्व-चालन और वाण चलाने मे चतुर थे, फिनीशिया देश के निवासी जो जहाजी वेडा बनाने मे चतुर थे, और मिश्र देश के लोग भी जो अपनी प्राचीनता की ऐठ रखते थे (अरियन, ४।१७।३, ५।११।३, ४।२४।१, 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' १।३५, मे उद्धृत)।

अस्तेस (अष्टकराज्य) और सजय—अब सेना के दो भाग किये गए—एक टुकडी मकदूनिया के दो कुलपुत्र हिफैस्टियन और पर्डिकस की कमान मे कबुल नदी के दाहिने किनारे पर बहती हुई खैबर दर्रे में होकर (होल्डिच, 'गेट्स ऑफ इण्डिया', पृ० ९४) सिन्धु नदी की ओर बढी और पेशावर के मैदान मे उतरी। इसके साथ तक्षशिला का राजा था। लेकिन यहाँ पहुँचने पर एक देशभक्त भारत-वासी राजा ने सिकन्दर की सेना का मार्ग छेका और युद्ध के लिए ललकारा। यूनानियो ने उसका नाम अस्तेस और उसकी प्रजा का अस्तकेनोई और उसकी राजधानी का पिउकेलावतिस लिखा है। भारतीय भाषा मे उसे अष्टकराज[3] कहा

---

१ लगभग इसी काल मे भारतवर्ष मे भी आयुधजीवी श्रेणियो का उल्लेख व्याकरण, साहित्य और महाभारत मे आता है। सैनिको की यह प्रथा यूनान मे भी प्रचलित ज्ञात होती है। (अनुवादक)

२. अग्रेज़ी मे इन्हे हाईलैंडर्स कहा गया है, जो भारतीय पारिभाषिक शब्दा-वली मे पर्वताश्रयी आयुधजीवी कहे जाएँगे। भारतवर्ष मे भी इस प्रकार के पर्वतीय आयुधजीवियो का उल्लेख पाणिनि ने किया है (आयुधजीविभ्यश्छ पर्वते, ४।३।९१)। भारत के पर्वताश्रयी आयुधजीवियो की भाँति, ज्ञात होता है, यूनान मे भी पर्वतीय आयुधजीवी सैनिक विशेष रूप से प्रसिद्ध हो गए थे। (अनुवादक)

३ उसका सम्बन्ध उस स्थान से ज्ञात होता है जिसे कनिंघम ने हश्तनगर कहा

जा सकता है जो अष्टकों का राजा था और जिसकी राजधानी पुष्कलावती थी। पूरे ३० दिन तक अपने प्राकारवेष्टित दुर्ग से उसने यूनानी घेरे का मुकाबला किया और अन्त में युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुआ। तक्षशिला के राजा के एक पिछलग्गू को, जिसका नाम यूनानियों ने सजय लिखा है, यह जीता हुआ राज इनाम में दे दिया गया।

अश्वकों का प्रतिरोध—सेना का दूसरा भाग, जिसका नेतृत्व स्वयं सिकन्दर कर रहा था, काबुल के बाएँ किनारे की उपरली पहाड़ियों की ओर कुनड़, पच-कोरा और स्वात की नदी के दूनों की ओर बढ़ा। इस प्रदेश में कुछ स्वतन्त्र कबीले रहते थे, जिनके नाम यूनानियों ने अस्पेसिओई (ईरानी अस्प=अश्व), अस्सके-नोई या अस्सक लिखे हैं, जो कि संस्कृत के अश्वक थे (=अश्मक[1], पाणिनि सूत्र, ४।१।१७३) और जो अपने पहाड़ी दुर्गों में डटे हुए सिकन्दर के प्रतिरोध के लिए तैयार बैठे थे। एक स्थान में नगर की भीतरी-बाहरी प्राकारों पर चढ़ने के प्रयत्न में सिकन्दर अपने साथी टालेमी और लिओनेटस के साथ घायल हो गया। अन्दक नामक अन्य नगर में गहरा प्रतिरोध हुआ। ४०,००० बन्दी बना लिये गए। इससे प्रकट होता है कि इन जातियों में सब-के-सब युद्ध में आ गए थे। आश्वायनों के छोटे राज्य की आर्थिक समृद्धि का पता इससे भी लगता है कि उनसे लूटे हुए पशुओं में २,३०,००० बैल थे। बटाश्वक नामक मुद्राएँ इन्हीं

है। यह स्वात की निचली धारा के पूर्वी किनारे पर ८ नगरियों का समूह था, जिनमें गंधार की राजधानी पुष्कलावती भी एक थी (मेक्रिण्डल 'इन-वेजन ऑफ इण्डिया', पृ० ५०)। वस्तुतः यूनानी अस्तेस हस्तीश और अस्तकेनोई पाणिनीय सूत्र ६।४।१७४ के हास्तिनायन थे जिनके साथ सिकन्दर की पहली भिड़न्त हुई, और पीछे स्वात की उपरली दून के निवासी आश्वयनों के साथ। (अनुवादक)

२ वस्तुतः यूनानी अस्सकेनोई पाणिनि के आश्वकायन हैं (नडादिगण ४।१।९९) जो गौरी नदी, पचकोरा और सुवास्तु के बीच में बसे थे। इनके दो नगर थे, एक मशकावती, जो गौरी और स्वात के संगम से कुछ ऊपर की ओर थी, और दूसरा अजेय पहाड़ी दुर्ग, जिसका नाम यूनानी इतिहास-लेखकों ने एओर्नस लिखा है और जिसकी पहचान पाणिनि-भूगोल के वरणा नगर (४।२।८२) से की जानी चाहिए। यूनानी अस्पेसिओई की ठीक पह-चान पाणिनीय आश्वायन है (४।१।११०), पाणिनीय अश्मकों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं जो गोदावरी तट पर बसे थे। आश्वायन कुनड़ या काश्कर या चित्राल नदी की दून में आबाद थे। (अनुवादक)

अश्वको की समझी जाती है ('जर्नल ऑफ रॉयल एशिआटिक सोसायटी, १६०० ई० पू०, ६८-१०६)।

अश्वक रानी के नेतृत्व मे मस्सग की रक्षा—पूर्वी अश्वको ने सिकन्दर से लोहा लिया। उनकी सेना मे ३०,००० अश्वारोही, ३८,००० पदाति (कर्तिअस के अनुसार, मैक्रिण्डल 'इनवेजन ऑफ इण्डिया', पृ० २०४) और ३० हाथी थे जिनकी सहायता के लिए नीचे से ७,००० आयुधजीवी भी आ गए थे। वे सब-के-सब स्वर्गीय राजा की माता रानी क्लिओफिस् (सस्कृत सम्भवत कृपी) की नेतृत्व मे मस्सग दुर्ग मे चारो ओर से सुरक्षित होकर डट गए (यूनानी मस्सग का सस्कृत रूप मशक था जो मशकावती नदी के तीर पर बसा हुआ था, पाणिनीय सूत्र, ४।२।८५, ६।३।११६ पर 'काशिका' मे उदाहरण, सम्भवत बाबर के आत्म-चरित मे उल्लिखित स्वात के तट पर मशनगर, मैक्रिण्डल 'इनवेजन', पृ० ३३४ पर उद्धृत)। यह दुर्ग बहुत ऊँची चोटी पर बना था और चारो ओर से दुर्गम था। उसके दो ओर खतरनाक दलदल था, तीसरी ओर पहाडी नदी और चौथी ओर ईंट-पत्थर और लकडी की बनी हुई मजबूत प्राचीर थी जिसके ४ मील के लम्बे घेरे के सब ओर गहरी खाइयाँ थी।

स्त्रियो ने भी दुर्ग की रक्षा मे भाग लिया (दिओदोरस, वही, पृ० २७०), और आयुधजीवी सैनिको ने, जो पहले कुछ ढिलमुल थे, अपमान की अपेक्षा मृत्यु का आलिंगन ही पसन्द किया। दुर्ग की रक्षा-पक्ति को एक सैनिक सधि से और भी बल मिला (मैक्रिण्डल 'इनवेजन', पृ० ६६, ७७, ६२) जो आश्वकायन और उनके पडोसी पर्वतीय प्रदेश के भारतीय अभिसार के राजा के बीच हुई और जिसमे अभिसार के राजा ने आश्वकायनो की सहायता के लिए अपनी सेना भेजी। कई दिनो के युद्ध के बाद आश्वकायनो के राजा मारे गए, उनके परिवार के लोग माता और पुत्री बन्दी बना ली गई, और नगर ने हथियार रख दिए।

नाइसा का मित्र-भाव—विरोधियो से भरे हुए उस प्रदेश मे नाइसा नामक नगर के मित्र-भाव प्रदर्शित करने से सिकन्दर को कुछ राहत मिली। नगर के

---

१. नाइसा को सघ-राज्य कहा गया है जिसकी राजसभा मे ३०० सदस्य थे। उसका सभापति अकौफिस या अकूफिस (सस्कृत अकुभि) था जिसने अपने पुत्र और नाती को सिकन्दर के सैनिक अभियान मे साथ कर दिया था (वही, ७६-८१)। जायसवाल के अनुसार अकूफिस=आकोभि जिसका सम्बन्ध कोफेन या कुभा नदी से था ('हिन्दू पालिटी', पृष्ठ १४८, भाग १)। मेक्रिण्डल का सुझाव है कि नाइसा=नगरहार या जलालाबाद था ('इनवेजन', पृष्ठ ३३८)। नाइसा महाभाष्य का नैश जनपद ज्ञात होता है। (अनुवादक),

३०० अश्वारोही व्यक्ति उसकी सेना मे आ मिले।

नये क्षत्रपो की नियुक्ति—सिकन्दर ने इस पर्वतीय प्रदेश और काबुल नदी की निचली दून को क्षत्रप निकेनर की अधीनता मे एक नये प्रान्त का रूप दे दिया और इसे सिन्धु के पश्चिम का भारतीय प्रान्त कहा गया। इसके भी और पश्चिम मे परोपनिस्दायी का पहले ही प्रान्त था जो क्षत्रप तारियस्पेस की अधीनता मे रखा गया और जिसकी राजधानी हिन्दूकुश के पादमूल मे बसाई हुई सिकन्दरिया नगरी थी।

भारतीय राजाओ से सहायता—इसके बाद वह पुष्कलावती (चारसद्दा) आया जहाँ उसने फिलिप की अधीनता मे एक यूनानी सैनिक छावनी स्थापित की। पुष्कलावती और सिन्धु के बीच मे कई छोटे नगरो को जीतकर उसने काबुल नदी की निचली दून को और अधिक सुरक्षित बनाया। इस काल मे दो भारतीय राजाओ ने सिकन्दर की सहायता की—एक को फियस (अर्थात् कुभेश) ने, जो कुभा या काबुल नदी की दून का स्वामी था, और दूसरे अस्सगेतेस[1] ने, जो अस्सकेनोइ या अश्वकायनो का राजा था और मस्सग के युद्ध मे पहले राजा के काम आने पर उसका उत्तराधिकारी बना था।

एओर्नस (वरणा) का घेरा—इसके बाद एओर्नस दुर्ग का घेरा डाला गया, जिसकी अभी ठीक पहचान नही हुई[2]। यह सम्भवत पर्वतीय दुर्ग था जिसके भीतर आश्रय लेकर पर्वताश्रयी जातियो ने अन्तिम मोर्चा लिया। उसे जीतकर सिकन्दर ने यहाँ भी एक सैनिक टुकडी भारतीय नेता शशिगुप्त की अधीनता मे रख दी।

अश्वको द्वारा पुन प्रतिरोध—एओर्नस दुर्ग के रक्षको ने विजय के बाद अपने-आपको पहाडो मे हटा लिया। अब की बार उनका नेता आश्वकायनो के राजा का भाई था, जिसके पास २०,००० सैनिक और १५ हाथी थे। सिकन्दर

---

१ मैक्रिण्डल के अनुसार अस्सगेतेस का सस्कृत रूप अश्वजित् होना चाहिए ('इनवेजन', पृ० ७२, टिप्पणी ४)।

२ श्री आरेल स्टाइन ने एओर्नस दुर्ग की निश्चित पहचान ऊण (पश्तो ऊणरा) के पहाडी स्थान से की है जो सिन्धु नदी के पश्चिम मे कुछ मील दूर एक पहाडी के ऊपर स्थित है और अब भी अत्यन्त दुर्गम है। श्री स्टाइन ने यूनानी शब्द का मूल-सस्कृत-रूप आवर्ण सुझाया था। अब पाणिनि की अष्टाध्यायी मे वरणा (४।२।८२) नगर का नाम मिला है जो यूनानी एओर्नस का मूल सस्कृत रूप है ('आर्केयॉलाजिक सर्वे मेमायर' स० ४२, पृ० ८९-९०)।—अनुवादक।

ने एग्रोर्नस के उत्तर दयर्ता नामक नगर तक[1] उनका पीछा किया, पर वह नगर भी वीरान मिला। अतएव वह सिन्धु की ओर लौट आया और दो छोटी सैनिक टुकडियाँ पहाडो के छानने के लिए छोड दीं[2]।

मार्ग मे उसने हाथियो का शिकार किया और भारतीय वनपालो की सहायता से अपनी सेना के लिए हाथी पकडे।

नावो का निर्माण—सिकन्दर सिन्धु नदी की ऊँची दूनो मे ऐसे स्थान पर पहुँच गया था जहाँ कि जगलो मे नाव बनाने योग्य लट्ठे उपलभ्य थे। उनसे नावें तैयार कराई गई और उनके ऊपर सेना का एक भाग नदी के बहाव की ओर उस स्थान पर आया जहाँ नावो का पुल अटक से १६ मील उपर ओहिन्द नामक स्थान मे हिफैस्टियन ने पहले से ही तैयार करवा लिया था, और ३० डाँडो वाले दो बडे पटेले भी बनवा लिये थे।

सिन्धु नदी का पार करना, ३२६ ई० पू०—३२६ ई० पू० के वसन्तकाल मे सिकन्दर ने सिन्धु नदी पार करके भारत मे इस ओर की सीमा मे प्रवेश किया। सारी यूनानी सेना, तक्षशिला के ५,००० सैनिको की टुकडी, और दूसरे राजा, भारतीय घुडसवार सेना और ३० हाथियो ने सिन्ध उतरकर इस पार की भूमि पर पैर रखा, जहाँ तक्षशिला का नया अधिपति आम्भि सिकन्दर की पूर्ण अधीनता स्वीकार कर उसे अपना स्वामी मानने के लिए तैयार था।

तक्षशिला मे अनस्थान, कलनोस—सिन्धु से चलकर सिकन्दर तक्षशिला की ओर बढा जो उस समय भारतीय सस्कृति का विख्यात केन्द्र था। यहाँ वह भारतीय साधुओ की ओर आकृष्ट हुआ। नगर के समीप उनमे से १५ का पता चला। सिकन्दर ने ओनेसिक्राइतस द्वारा उन्हे बुलवा भेजा, परन्तु एक के अतिरिक्त कोई न आया। कलानोस (सस्कृत कल्याण) नाम का साधु उपस्थित हुआ। साधुओ ने यूनानी विलासप्रियता के प्रति अपनी घृणा प्रकट की।

छोटे प्रमुखो से भेंट-सामग्री—सिकन्दर ने तक्षशिला मे एक दरबार किया और पडोस के छोटे राजाओ से प्रणामाञ्जलि एव भेट स्वीकार की, और बदले मे उसने भी सोने-चाँदी के बरतन और ईरानी किमखाब के वस्त्र इन राजाओ को उपहार मे भेजे। इन राजाओ मे इस प्रदेश के अधिपति डोक्सारेस का नामोल्लेख है (मैक्रिण्डल 'इनवेज़न', पृ० ६२)।

१ इसकी पहचान पाणिनीय धार्तेय से की जा सकती है (सूत्र ५।३।११)। —अनुवादक।

२ अरिअन (वही, पृ० ६६, ७०) के अनुसार मस्सग लेने से पीछे बजिर एव ओर नामक नगरो का घेरा डाला गया और यह सब एग्रोर्नस या वरणा जीतने से पहले हुआ था।

पोरस द्वारा युद्धाह्वान का सन्देश—वहाँ उसे पौरव[1] का, जो भारतीय इतिहास का एक शूरवीर नेता है, भेजा हुआ युद्धाह्वान का सन्देश मिला।

तक्षशिला मे स्थानीय प्रबन्धक—आम्भि के राज्य मे एक यूनानी टुकडी और फिलिप नाम के क्षत्रक को स्थानीय प्रशासक नियुक्त करके सिकन्दर झेलम के किनारे पौरव के राज्य की सीमा की ओर बढा। उसकी यात्रा का मार्ग अस्पष्ट है।

झेलम पार करना—उस ऋतु मे (मई ३२६ ई० पू०) झेलम पार करना टेढा काम था, क्योकि ऊपर बरफ के गलने से नदी मे बाढ आ ही रही थी और शत्रु भी अपनी पूरी शक्ति से पार उतरने वालो के मुकाबले के लिए डटा था। यूनानी नदी के उजान और भाटी की[2] ओर आ-जाकर सुविधापूर्वक उतराई की जगह खोज रहे थे। उनके निरन्तर गमनागमन से भारतीय कुछ फेर मे पड गए और उनके उद्देश्य को ठीक-ठीक न समझ सके। अन्तत एक दिन प्रात काल जब रात मे मूसलाधार वृष्टि और तूफान आ चुका था, यूनानी लोग नावो के पुल को पडाव से १७ मील ऊपर की ओर ले गए जहाँ उसे जगल से भरे हुए एक टापू के पीछे छिपा दिया गया। उसी अदृश्य मार्ग से यूनानी सेना नदी पार उतरी। एक नाव मे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति सवार थे—सिकन्दर, पर्दिकस, उसका भावी शास्ता, तॅलेमी, मिस्र का भावी राजा, और थ्रेस का लिस्सीमाकस, जो रूमानिया का भावी विजेता था और सबसे अन्त मे सेल्युकस, जो सिकन्दर के एशियायी साम्राज्य का उत्तराधिकारी होने वाला था और चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ जिसका बाद मे सघर्ष होना था।

पौरव के पुत्र द्वारा प्रतिरोध और उसकी मृत्यु—सिकन्दर ने अपनी सेना के एक भाग, लगभग ११,००० सैनिको, के साथ जैसे ही नदी पार की, वैसे ही भारतीय सेना की एक टुकडी ने, जिसमे २,००० घुडसवार और १२० रथ थे, और जिसे पौरव ने अपने पुत्र के नायकत्व मे भेजा था, उनका मुकाबला किया। वे यूनानी अश्वसेना के, जिसका सचालन सिकन्दर स्वय कर रहा था, हमले के सामने न टहर सके और युवक पौरव मारा गया।

पौरव की सेना—अब यह पौरव का उत्तरदायित्व था कि वह अपनी समस्त सेना को सजाकर यूनानियो का प्रतिरोध करे। अर्रिअन के अनुसार उसकी सेना मे ३०,००० पैदल, ४,००० घोडे, ३०० रथ और २०० हाथी थे। उसने अपनी

---

१ यूनानी मे पोरस। जायसवाल ने पाणिनि सूत्र ४।१।१५१ के गणपाठ मे पढे हुए पुर शब्द की ओर ध्यान दिलाया है जिससे यूनानी 'पोरस' का सम्बन्ध जोडा जा सकता है।

२ नदी के बहाव के ऊपर की ओर जाना उजान और नीचे की ओर जाना भाटी कहलाता है।—अनुवादक।

सेना का इस प्रकार व्यूह बनाया—सबसे आगे हाथी, जो किले की दीवार की बुर्जियो की तरह डटे थे, हाथियो के दोनो पार्श्वों मे पैदलो की पक्ति, पदाति सेना के दोनो पक्षो मे घुडसवार, जो पार्श्वों की रक्षा करते थे, और अश्वारोही सेना के सामने रथो की पक्ति। पौरव अपने महाकाय राजकुञ्जर की पीठ पर सवार होकर बीचो-बीच डट गया।

भारतीय सेना को देखते ही सिकन्दर के मुँह से निकल पडा, "अन्तत मेरे सम्मुख वह भय उपस्थित है जो मेरे साहस के समकक्ष है। अब मेरा सघर्ष जगली जानवरो से और असाधारण जीवट के व्यक्तियो से पडा है" (कर्तियस, वही, पृ० २०९)।

भारतीयो के लिए प्रतिकूल दुर्दिन—किंतु युद्ध का परिणाम भाग्य ने तय किया। प्रकृति ने ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न की जो भारतीय सेना के विविध अगो के कार्य-क्षम होने के प्रतिकूल थी। पहले ही मेघ और तूफान, वृष्टि और बिजली की आड मे यूनानी चुपचाप अनदेखे नदी पार कर चुके थे। अब युद्धभूमि मे मेह बरस जाने से "धरती फिसलनी हो गई और घोडो के चलने के काम की न रही, और जो रथ थे, वे कीचड और दलदल मे फँस गए और अपने भारी बोझ से जहाँ-के-तहाँ ठप होकर रह गए। जब रथ ऊबड-खाबड और फिसलनी धरती पर युद्ध के लिए दौडाये गए तो उनकी धमक से रथवान भी धुरी से नीचे जा पडे। पदाति सेना बाणो का प्रयोग न कर सकी। उनके धनुष इतने बडे और भारी होते थे कि उन पर डोरी चढाने के लिए उन्हे उनका एक सिरा धरती पर टेकना आवश्यक था और चूँकि धरती गीली हो गई थी, इसलिए सिकन्दर को अवसर मिला कि पदाति सेना द्वारा बाण-वर्षा होने से पूर्व ही उन पर वार कर दे" (कर्तियस, वही, पृ० १०८)।

पोरस की हार—युद्ध का आरम्भ मध्य एशिया के एक सहस्र अश्वारोही धनुर्धारियो की मार से हुआ जिनकी सहायता तगडी यूनानी घुडसवार सेना कर रही थी। इसने भारतीय घुडसवार और पैदल सेना को अस्त-व्यस्त कर दिया और पक्तियाँ टूट गई। व्यवस्था और नियमित निर्देशन के अभाव मे घोडे और हाथियो ने अपने ही पक्ष को रौद डाला[1] और सेना ने अनुशासनविहीन भम्भड

---

१ भारतीय सेना के हाथी और घोडो की युद्ध-विषयक उपयोगिता के विषय मे स्वय सिकन्दर का वचन रोचक है, "हाथियो के सम्बन्ध मे अभी हाल के युद्ध (हाईडेस्पीस या झेलम का युद्ध) मे हमने अपनी आँखो से यह दृष्टान्त देखा, जब उन्होने हमारी सेना की अपेक्षा अपनी ही सेना पर भयकर आक्रमण किया और जब उनके लम्बे-चौडे शरीरो को हमारी कुल्हाडी और फरसो ने काटकर बिछा दिया। यदि उनमे से दो-एक भी घायल हो

का रूप ले लिया। जो भागकर सेना के पार्ष्णिभाग मे पहुँचे, उन्हे क्रातेरस की अधीनता मे नदी पार करके आये हुए यूनानी सैनिको ने काट डाला। हजारो आदमी मारे गए जिनमे "पोरस के दो पुत्र, स्थानीय विषयपति स्पीतेसेस[1] और पोरस के समस्त सेनापति" भी थे।

उसका अन्त तक अवरोध—पौरव तब तक लडता रहा "जब तक कि उसकी दृष्टि मे थोडे भी भारतीय सैनिक मिलकर सघर्ष करते रहे और उसने दारा की तरह युद्धभूमि से भागकर अपने सैनिको के सामने पहले ही पलायन का उदाहरण नही रखा," जैसा कि एक यूनानी इतिहास-लेखक का वचन है।[2] जब सब जाता रहा, वह भी अपने शरीर पर नौ घाव लिये हुए युद्धभूमि से हट गया (कर्तियस, वही, पृ० २१२)। सिकन्दर का सन्देश लेकर एक आदमी उसके पीछे घोडा कुदाता हुआ आया। यही तक्षशिला का विश्वासघाती राजा है, इतना पहचानते ही पौरव ने अपनी बची-खुची शक्ति से उस पर भाले का अन्तिम हाथ मारा। हेड का कहना है कि इस भिडन्त का दृश्य एक प्रसिद्ध सिक्के पर अकित है ('कैम्ब्रिज हिस्ट्री', १।३६७)। तब तक और भी दूत आ पहुँचे, जिनमे उनका मित्र मेरुस भी था। तब पौरव ने अपने-आपको सौप दिया और वह सिकन्दर के पास पहुँचाया गया। सिकन्दर ने उससे पूछा कि तुम अपने साथ कैसा व्यवहार चाहते हो ? उसने गर्वीला उत्तर दिया, "राजा के जैसा व्यवहार करो।"

पौरव पुन प्रतिष्ठापित—सिकन्दर ने पौरव को उसका राज्य वापस कर दिया और पूर्व की ओर का भूप्रदेश और जोड दिया जिसमे "१५ सघ-राज्य, उनके ५००० बडे नगर और अगणित ग्राम थे" (प्लूटार्क, 'अलेक्जेंडर', ६०)। उसका स्थान अब एक नये साम्राज्य के अन्तर्गत एक राजा का था जिसके ऊपर सिकन्दर राजाओ का राजा था।[4]

जाते हैं, तो शेष घूमकर भाग खडे होते हैं। जब हजारो की सख्या मे उनके ठट्ठ एकसाथ खडे कर दिए जाते हैं तो भागने के लिए पर्याप्त स्थान के अभाव मे वे अपनी गडगज देहो से एक-दूसरे के लिए बाधक बन जाते हैं।" (कर्तियस, ६, अध्याय २)।

१ सम्भवत वही जिसका नाम पित्तेकस था, और जिसके विषय मे पोलिनस ने लिखा है कि जब सिकन्दर तक्षशिला से झेलम की ओर बढ रहा था तो पित्तेकस ने उससे टक्कर ली थी, जैसा डायसन और थिर्लवाल भी मानते हैं। (मेक्रिण्डल 'इनवेजन', पृ० १०७, टिप्पणी २)।

२ मैक्रिण्डल, पृष्ठ १०८।

३ कर्तियस के अनुसार वह तक्षशिला के राजा का भाई था (वही)।

४ फिलोस्त्रतस ने स्वरचित 'लाइफ ऑफ अपोलोनियस' मे लिखा है कि एक

एक स्वतन्त्र राज्य की विजय—भारतीय प्रतिरोध की धुरी तोडकर सिकन्दर देश के भीतर और दूर स्वतन्त्र ग्लुचुकायनो के (=ग्लौकानिकोइ या ग्लोकानिकोआइ, वेवर की पहचान के अनुसार 'इण्डियन एण्टिक्वेरी' मई १८७३) के प्रदेश मे आया[1]। इनकी समृद्धि का प्रमाण यह है कि उनके प्रदेश मे ३७ वडे नगर थे जिनमे से हरएक की जनसख्या ५,००० मे १०,००० के वीच मे थी। सिकन्दर ने इस प्रदेश को पौरव के राज्य मे मिला दिया।

विद्रोहो के कारण प्रगति मे वाधा—विजित प्रदेशो मे विद्रोहो के समाचारो से सिकन्दर की आगे की प्रगति मे वाधा पहुँची। एक भारतीय अधिपति समक्सस या दमरक्सस की सहायता से कन्धार ने विद्रोह कर दिया। अश्वको ने विद्रोही वनकर यूनानी क्षत्रप निकेनर को मार डाला। इस पर शशिगुप्त ने, जो 'अस्सकेनोई का क्षत्रप' था, (पूर्वी अश्वक, मैंक्रिण्डल, 'इनवेजन', पृ० ११२) तुरन्त सहायता की फरियाद भेजी। तिरयस्पेस के पश्चिम मे सबसे अन्त मे स्थित प्रान्त और तक्षशिला से फिलिप की अधिनायकता मे सहायता भेजी गई। इसी समय अभिसार के राजा ने उसके पास अपने दूत और उपहार भेजे, पर सिकन्दर ने उसके सामने स्वय उपस्थित होकर प्रणामाञ्जलि की माँग की।

पोरस द्वितीय के राज्य की विजय—जव ईरान से, जो पार्थवो के मातहत क्षत्रप प्रदेश वना दिया गया था, थ्रेस के सैनिको की नई कुमुक आ पहुँची तव सिकन्दर ने आगे की नदी असिक्नी (चनाव, यूनानी अकेसाइनेस) पार करने का विचार किया। उस देश का शासक पौरव राज्य को अपने भाग्य पर छोडकर भाग गया। वह शरण के लिए भागकर "गदरिदाई लोगो के राज्य मे" अर्थात् नन्दराज के गगा-प्रदेश मे पहुँचा (वही, पृ० २७६)।

चिनाव और रावी के वीच का समस्त प्रदेश सिकन्दर ने पौरव के राज्य मे मिला दिया।

स्वाधीन सघो द्वारा युद्ध, अधृष्ट और कठ—उसके वाद सिकन्दर रावी की ओर वढा, एव उन गणराज्योमे आया जहाँ के निवासी अपने स्वातन्त्र्य-प्रेम के लिए प्रसिद्ध थे। अद्रेसताई[2] (अधृष्ट ?) ने अधीनता मान ली किन्तु कठो (कठओआई,

---

मन्दिर के भीतर उसने कुछ सिक्के और फलक देखे थे जिन पर पोरस और सिकन्दर के जीवन के दृश्य अंकित थे। इस मन्दिर की पहचान तक्षशिला के पास जडियाल मे मिले हुए मन्दिर से की जाती है जिसे श्री जॉन मार्शल ने खोज निकाला था (देखिए मार्शल कृत 'गाइड टू टैक्सिला')।

१ पाणिनिसूत्र ४।३।९९ की काशिका टीका के उदाहरण मे ग्लुचुकायनि. भक्तिरस्य ग्लौचुकायनकः प्रयोग आया है।

२ संस्कृत आरट्ट, जो महाभारत के अनुसार पचनद या पजाव के थे। महाभारत

वेवर की पहचान के अनुसार), जो अपने साहस के लिए सबसे अधिक विख्यात थे (अरियन, ५।२२।२), अपने सगल[1] नामक दुर्ग मे युद्ध के लिए तैयार बैठे थे। किन्तु सब व्यर्थ हुआ। कहा गया है कि उनमे से १७,००० व्यक्ति मारे गए और ७०,००० बन्दी बनाये गए। पौरव भी अपने हाथी और ५,००० सेना लेकर सिकन्दर की सहायता के लिए आया।

राजधानी के पतन के बाद कठ अपने अन्य नगरो को भी छोडकर भाग गए।

सौभूति—इसी प्रदेश मे कही पर सोफाइटीस (सौभूति) का भी राज्य था, जिसने सिकन्दर से सन्धि कर ली और अपने यहाँ के महाकाय शिकारी कुत्तो के प्रदर्शन से उसका मनोरजन किया।

भगला—इसके वाद पडोस के राजा फेगेलस[2] ने सिकन्दर की अधीनता स्वीकार की। तब सिकन्दर व्यास (यूनानी हाइफेसिस) नदी के किनारे पहुँचा जहाँ यह कहकर उसकी सेना ने उसका मार्ग रोक दिया, "बस यही तक, अब हम इससे आगे न वढेगे।" यह घटना ३२६ ई० पू० मे लगभग जुलाई के अन्त मे हुई।

व्यास से वापस लौटना—अब उसने, जिस मार्ग से आया था उसी मार्ग से, रावी, चिनाब, झेलम की ओर वापस लौटने की आज्ञा दी। वहाँ पहुँचकर उसने

मे उन्हे वाहीक भी कहा गया है जिसमे धर्म का अभाव था (नष्टधर्मा) और इस कारण जिनके देश मे जाना वर्जित था (वर्जनीया)। प्रस्थल, मद्र, गाधार, खश, वसाति, सिन्धु और सौवीर, इतने जनपदो के साथ-साथ आरट्टो को भी कुत्सित या अशुचि कहा गया है (महाभारत शल्यपर्व, अध्याय ४४, श्लोक २०५६-२०७०, अध्याय ४५, श्लोक २१००)। जैसा पूर्व मे लिखा जा चुका है, बौधायन ने आरट्टो को आर्यों के लिए बहिष्कृत कहा है। कुछ लोग आरट्ट को सस्कृत अराष्ट्रक अर्थात् राजा-विहीन सघ-राज्यो के साथ जोडते हैं।

१. कनिंघम ने इसकी पहचान संस्कृत-साहित्य के शाकल से की थी जो मद्रो का मुख्य नगर कहा गया है (महाभारत, सभापर्व, श्लोक ११९६)। शल्यपर्व मे जिसे मद्रों की राजधानी कहा है। किन्तु सिलवाँ लेवी के मतानुसार यूनानी सगल का सस्कृत-रूप सकल था, जिसका उल्लेख पाणिनि के सूत्र ४।२।७५ मे हुआ हे। उसी के गण मे पठित सौभूत=यूनानी सोफाइटीस, उस राजा का नाम है, जिसके राज्य मे सगल सम्भवत स्थित था (मैक्रिण्डल, 'इनवेजन', पृ० ३४८)।

२ वही, पृ० १२१, २२१, २८१। यह नाम सस्कृत भगला से मिलता है जो एक क्षत्रिय जाति थी। पाणिनि ने बाह्वादि गणपाठ (४।१।९६) मे तक्षशिला के राजाओ के साथ भगला का भी उल्लेख किया है।

अपना मार्ग बदल दिया और सिन्धु नदी के जलमार्ग से समुद्र की ओर जाने का निश्चय किया। इसके लिए १,००० नावो के बेडे की आवश्यकता थी, जो वही तैयार किया गया। इसमे "माल लादने के लिए पटेले, घोडो के लिए तमेडे और युद्ध के लिए बडे बजरे" थे (मैक्रिण्डल, 'इनवेजन', पृ० १३५)।

यूनानियों के विजित प्रदेश भारतीय राजाओ की अधीनता मे—इस बीच यूनानियो द्वारा विजित प्रदेश के दृढ सगठन के लिए आवश्यक शासन-सम्बन्धी प्रबन्ध करने थे। झेलम और व्यास के बीच का राज्य पौरव की एकछत्र प्रभुता मे रखा गया, जिसके अन्तर्गत ५०० नगरो वाले १५ गणराज्य थे (मैक्रिण्डल, 'इनवेजन', पृ० ३०९), जैसा ऊपर कहा गया है। झेलम के पश्चिम मे आम्भि और काश्मीर मे अभिसार के राजा को अधिपति बनाया गया और उसके राज्य मे उरश (हजारा जिला, यूनानी अर्सेस) भी सम्मिलित कर दिया गया।

झेलम नदी मे भाटी यात्रा—तब नवम्बर ३२६ ई०पू०मे सिकन्दर ने अपनी यात्रा आरम्भ की। दोनो किनारो पर चलती हुई सेनाएँ रक्षा कर रही थी। झेलम और हिन्दूकुश के बीच के प्रदेश के शासक फिलिप ने तीन दिन बाद उसके पार्ष्णि भाग की रक्षा के लिए अनुगमन किया। उसकी सेना मे फिनीशिया, मिस्र और साइप्रस के समुद्र-यात्रा के अभ्यासी सैनिक थे।

गणराज्यो का प्रतिरोध मालव और क्षुद्रक—यह नौ-सेना झेलम की जल-धारा मे नीचे की ओर बहती हुई चली और दस दिन मे चिनाब के सगम पर पहुची। यहाँ स्वाधीन गण-राज्यो की सम्मिलित शक्तियो[1] ने ९०,००० पैदल, १०,००० घोडे और लगभग ९०० रथो की सेना लेकर उनका सगठित प्रतिरोध किया। मालव (यूनानी मल्लोआई) और क्षुद्रक (आक्सिड्रकाइ) इस सगठन के अग्रणी थे। मालव रावी की निचली धारा और चिनाब के बीच मे और क्षुद्रक उसके ऊपर रावी और व्यास के बीच वाले प्रदेश मे बसे थे। मालवो के समस्त नगर प्रतिरोध के केन्द्र बन गए। इनमे से एक मे, जो ब्राह्मणो (यूनानी ब्राखमन्स) का नगर था, ब्राह्मणो ने लेखनी के बदले तलवार उठा ली और लगभग ५००० की सख्या मे लडते-लडते प्राण दे दिए। उनमे से बहुत कम ही बन्दी बनाए जा सके (मैक्रिण्डल, 'इनवेजन', पृ० १४४)। एक नगर मे अपने सैनिको का साहस छूटा हुआ देखकर सिकन्दर स्वय बुर्ज की प्राचीर पर चढ गया और छाती मे करारा घाव खाकर नीचे गिर पडा।

१ पाणिनीय गणपाठ ४।२।४५ मे क्षुद्रको और मालवो की सयुक्त सेना के लिए क्षुद्रक-मालवी सेना सज्ञा-शब्द प्रयुक्त हुआ है। कर्तियस ने इसे सुड्रकाइ = क्षुद्रक रूप दिया है।

शिवि-आर्जुनायन (अग्गलस्सोआइ)—और सघों ने भी सिकन्दर का प्रतिरोध किया यद्यपि वह निष्फल ही हुआ। शिवियों[1] (यूनानी सिबोइ) ने उसकी अधीनता मान ली किन्तु अग्गलस्सोइ[2] ४०,००० पदाति और ३,००० अश्वारोही सेना के साथ वीरतापूर्वक लडे। यह भी कहा गया है कि उनके एक नगर मे लगभग २०,००० स्त्री-पुरुष-बच्चो के साथ उन्होने अपने आपको अग्नि की ज्वालाओ मे भस्म कर दिया जो राजपूती जौहर का पूर्वस्मारक है।

मालव-प्रतिरोध के लडखडा जाने से क्षुद्रकों का उत्साह भी मन्द पड गया। सिकन्दर के साथ सन्धि करते हुए उन्होने कहा कि स्वातन्त्र्य-प्रेम के कारण उन्होने युद्ध किया था। सिकन्दर ने मालव और क्षुद्रक गणराज्यो को भी क्षत्रप फिलिप के प्रदेश के साथ सयुक्त कर दिया।

अम्बष्ठ, क्षत्रिय और वसाति—बहाव की ओर जाते हुए सिकन्दर कुछ दूसरे राज्यों की सीमा के पास से गुजरा, जैसे अबस्तानिस, (=अम्बष्ठ, पाणिनि सूत्र, ८।३।९७, काशिका टीका ४।१।७४) जिनकी सेना मे ६०,००० पदाति, ६,००० अश्व और रथ थे, ग्जथ्रि (क्षत्रिय), और ओस्सदाइ (वसाति[3]) जिन्होंने युद्ध करना पसन्द न किया। ३२० ई० पू० की शीत ऋतु मे वह अन्तिम सगम पर पहुँचा।

शूद्र मूषिक—और नीचे उतरकर वह सोग्दाई[4] के प्रदेश मे से गुजरा जहाँ

१ कर्तियस के अनुसार उनकी सेना मे ४०,००० पदाति थे (वही, पृ० २ २)। महाभारत (वनपर्व, अ० १३०-१) मे राजा उशीनर के आधिपत्य मे शिवि राज्य का उल्लेख है। शिवियो ने वे सिक्के चलाए होगे जो शिविमुद्राएँ कहलाती हैं (जे० आर० ए० एस०, १९००, पृ० ९८-१०६)।

२ इस नाम के और भी रूप हैं, अगेसिनाइ, अरगेसिनाई, जिससे मैक्रिण्डल भारतीय अर्जुनायन का सम्बन्ध जोडते हैं, और जिनका उल्लेख समुद्रगुप्त की 'प्रयाग प्रशस्ति' मे आया है ('इनवेजन', पृ० ३६७)।

३ कनिघम ने वसाति की पहचान यौधेय या अजुधिय, वर्तमान जोहियो से की थी। किन्तु वस्तुत ओस्सदाइ, अस्सोदिओइ या ओस्सदिओई की पहचान सस्कृत वसाति से है।

४ दिओदोरस के अनुसार इस जाति का नाम सोद्राइ (=शूद्र) था (वही, पृ० २९३)। उत्तरी सिन्ध मे रोरी के पूरब मे शूद्र या शौद्रायण-जनपद था। पतजलि ने इसका नाम अब्राह्मणक जनपद और इसके दक्षिण मे स्थित ब्राह्मणक जनपद को अवृषलक कहा है (महाभाष्य सूत्र '।४।१) अब्राह्मणको देश, अवृषलको देश।—अनुवादक।

उस समय ब्राह्मण राजा मुसिकानुस[1] का आधिपत्य था। मुचुकर्ण अपने पडोसी राजा सम्बस (शम्भु ?) और आक्सिकानुस[2] से वैर-भाव रखता था।

आयुधजीवी ब्राह्मण—इस सारे प्रदेश मे ब्राह्मणो का आधिपत्य था जो सिंहासन के नियन्ता और वहाँ की राजनीति के सूत्र का सचालन करते थे। उन्होने यह घोषणा की कि विदेशी आक्राता का प्रतिरोध करना राष्ट्रीय धर्म के नाते सबका कर्तव्य है। उन्होने पराधीनता स्वीकार करने वाले राजाओ की निन्दा की और गणराज्यो को विद्रोह के लिए उभारा (प्लूटार्क, 'अलेक्ज़ेंडर' ५६, 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री', १।३७८)। मुसिकानुस (मुचुकर्ण) ने पूर्वस्वीकृत अधीनता से मुँह मोड लिया। ऐसा ही आक्सिकानुस ने भी किया। देशप्रिय ब्राह्मणो के साथ इनका भी वध कर दिया गया।

पत्तल का द्वैराज्य शासन—सिन्धु के निचले काँठे मे वह पत्तल की ओर बढा जहाँ से उन दिनो नदी दो धाराओ मे बँट जाती थी। पत्तल मे द्वैराज्य शासन-प्रणाली थी और कुलवृद्धो की एक सभा शासन चलाती थी। सिकन्दर के आगमन पर लोग पत्तल से चले गए। उसने नदी की पच्छिमी धारा की समुद्र तक छानबीन की, और फिर पत्तल मे लौटकर पूर्वी धारा मे उजानी गया जहाँ उसने एक बडी झील देखी। हो सकता है कि वह कच्छ के रन-प्रदेश मे घुसा हुआ समुद्र हो।

सिकन्दर का भारत से प्रस्थान ३२५ ई० पू०—सितम्बर ३२५ ई० पू० मे सिकन्दर पत्तल छोडकर घर की यात्रा के लिए मुडा और आरबिटाइ[3] एव ओरिताइ[4] नामक जातिभूमि मे से होता हुआ गेड्रोसिया (बलूचिस्तान) पहुँचा और भारतीय इतिहास के क्षेत्र से बाहर हो गया।

आक्रमण के परिणाम, विचारपूर्वक मूल्यांकन—सिकन्दर के अभियान से भारतवर्ष पर होने वाले परिणामो को यूनानी लेखको ने अतिरजन के साथ चित्रित किया है। उनकी परख स्थायी परिणामो से की जानी चाहिए। निस्सदेह पजाब

---

१ मुसिकानुस मूल सस्कृत रूप मुचुकर्ण है, मूषिक नही (पाणिनीय सूत्र ४।२।८०, कुमुदादिगण)।—अनुवादक।

२. दिओदोरस के अनुसार पोर्तिकानोस् (वही), जिसका सम्बन्ध सस्कृत पार्थ से लगाते हैं (वही, पृ० १५८, टिप्पणी १)। किन्तु इसका मूल स० रूप अक्षिकर्ण होना चाहिए।—अनुवादक।

३. आरबिटाइ की पहचान सस्कृत आरभट से की जानी चाहिए। इसी आरभट प्रदेश की शैली साहित्य मे आरभटी वृत्ति कहलाई।—अनुवादक।

४. ओरिताइ पाणिनि के वार्तेय हैं जिनका उल्लेख यौधेयादिगण मे दो बार (४।१।१७६, ५।३।११७) हुआ है।—अनुवादक।

और सिन्ध मे सिकन्दर ने सफल अभियान किया, परन्तु यह भी सदा सरल और निर्विरोध न था। भिन्न-भिन्न केन्द्रो मे, सिन्ध के इस पार के प्रदेश मे या पंचनद प्रदेश मे, या सिन्धु-नद के निचले काँठे मे भारतवासियो से जितना प्रतिरोध उसे सहन करना पडा, वह नगण्य न था। इस विशाल भू-प्रदेश मे सर्वत्र देशभक्ति की एक लहर छा गई थी जिसने विदेशी आक्रमण का विरोध करने के लिए लोगो को उभारा। सम्भवत इस प्रतिरोध मे नेतृत्व और पर्याप्त साधनो का अभाव था। विरोध की यह भावना ऊँचे स्तर की अपेक्षा साधारण जनता के मन मे अधिक प्रत्यक्ष थी। बहुत से राजा, कुछ ही प्रशसनीय आदर्श अपवादो को छोडकर, देशद्रोही बन गए और शत्रु के साथ मेल गाँठकर अपने पद को बचाने मे सफल हुए। किन्तु पजाव के स्वतन्त्र गणराज्यो की जनता ने ऐसा नही किया, उसके स्वातन्त्र्य-प्रेम और उसकी रक्षा के लिए आत्मत्याग मे भारतीय इतिहास के समुज्ज्वल चित्र प्रस्तुत हुए है।

इन सघ-राज्यो का क्षेत्रफल छोटा था, फिर भी जो वडी सेनाएँ उन्होने आत्मरक्षा के लिए युद्ध-क्षेत्र मे भेजी, उससे माना जा सकता है कि उनके एक-एक व्यक्ति ने युद्ध-दान दिया। कुछ स्थानो मे तो स्त्रियो तक ने पुरुषो के साथ युद्ध मे भाग लिया। इससे इन गणराज्यो की समक्ष कार्यशीलता ही प्रकट होती है, जिसने देश के प्रति इतना सुन्दर और उदात्त भाव उत्पन्न किया कि उसकी रक्षा के लिए युवको ने अनिवार्य भरती के बिना सैनिक सेवा ओटकर अपने प्राणो की आहुति दी।

सिकन्दर के विरुद्ध भारतीय प्रतिरोध की इतनी मात्रा और तीव्रता का समुचित मूल्याकन और श्लाघा यूनानी लेखको ने नही की। न उन्होने इस बात पर विचार किया है कि अपने बीच के सिकन्दर के इस अभियान को स्वय भारतीयो ने कहाँ तक गम्भीरता से लिया था। इस घटना के तथ्यो से ही यह प्रकट है कि उस युग मे, जब आवागमन के साधनो की इतनी कठिनाई थी, इस प्रकार के अभियानो का इतने दूरस्थ विदेशो मे कुछ अधिक प्रभाव नही पड सकता था। इस विषय मे जनता का यही मत था। इस बात को भारतीय 'दार्शनिको' या साधुओ मे से एक ने, जो देश के उच्च विचार के प्रतिनिधि और जनता के सच्चे शिक्षक थे, बडे अच्छे ढग से व्यक्त किया है। उसने सिकन्दर से उसके कार्यो की निस्सारता दिखाते हुए कहा था कि उसका कर्म कुछ ऐसा ही था जैसे सूखे हुए गोचर्म के एक कोने पर खडे होकर यदि वह उसे दबाए तो दूसरे कोने ऐठकर ऊपर उठ जाते है। इस कथन से उसने सकेत किया कि सिकन्दर को अपने राज्य के केन्द्र भाग से इतनी दूर के देशो की विजय का भरोसा करना उचित नही (प्लूटार्क, मैक्रिण्डल, 'इनवेजन', पृष्ठ ३१५)। उसके अभियानो का

वास्तविक परिणाम उस वर्णन के अनुरूप था। उनका स्वरूप सैनिक धावे या अस्थायी दिखावे का था, वह स्थायी विजय न थी जिससे यूनानी राज्य की भारत मे स्थापना की जा सकती।

इस विजय के ठीक स्वरूप और प्रमाण का अन्दाज़ कुछ उस शासन-प्रबन्ध से लग सकता है जो बाद मे किया गया। सिन्धु नदी के पश्चिम के भारतीय सीमान्त प्रदेश मे यूनानी शासक नियुक्त किये गए, जैसे सिन्ध मे पाइथन, सिन्ध से ऊपर काबुल नदी के निचले काँठे से लेकर बाख्त्री तक फिलिप, और परोपनिसद (पश्चिमी अफगानिस्तान) मे आविसअर्तेस।

सिन्धु के पूर्व स्वय भारत मे तीन क्षत्रप-मण्डलो की स्थापना की गई जो सब भारतीय राजाओ के आधिपत्य मे रखे गए, जैसे तक्षशिला और अभिसार के राजा एव पौरव। तक्षशिला मे आम्भि और फिलिप का कुछ-कुछ दोहरा शासन था (फिलिप की ठीक पहचान अनिश्चित है)। सबसे विस्तृत भू-प्रदेश का राज्य पौरव को दिया गया, जिसके अन्तर्गत "१५ गणराज्य, ५०० बडे नगर और अगणित ग्राम थे"(प्लूटार्क, मैक्रिण्डल, 'इनवेज़न', पृष्ठ ३०६)।

इस प्रकार जो ग्रीक-शासन भारतीय सहयोग पर इतना निर्भर था, वह यहाँ जड न पकड सका। उसे लोगो ने स्वीकार न किया। प्रतिरोध और विद्रोह पग-पग पर सिकन्दर का पीछा कर रहे थे। उसके क्षत्रप निकेनर को अश्वको ने मार डाला और अब जैसे ही उसके भारत से लौटने की बात लोगो को मालूम हुई, उसका सबसे महत्त्वपूर्ण शासक फिलिप भी, जो झेलम से हिन्दूकुश तक के समस्त प्रदेश का शासन कर रहा था, मार डाला गया। अपने अधिकार पर इस गहरी चोट का जो प्रतिकार सिकन्दर कर सका, वह यही था कि उसने तक्षशिला के भारतीय राजा से फिलिप की स्थान-पूर्ति करने को कहा, और उसके यूनानी सहायक यूडीमस को, जिसकी अधीनता मे थ्रैस के सैनिको की एक टुकडी थी, इस मण्डल के साथ रख दिया। क्या इसे नाम-मात्र की या वास्तविक यूनानी सत्ता कहा जाएगा ?

सभी विदेशी आक्रमणो की भाँति सिकन्दर के आक्रमणो ने भी राजनीतिक एकता के भाव को उभारा। छोटे राज्य, जो एकता के मार्ग मे रोडा थे, अब बडो मे मिल गए, जैसे पौरव, अभिसार और तक्षशिला के राज्य। इस प्रकार सारी परिस्थितियाँ एक भारतीय साम्राज्य के उदय के अनुकूल बन रही थी जिस राज्य की कुछ ही समय बाद चन्द्रगुप्त ने नीव डाली।

इस यूनानी अभियान के विषय मे सामान्यत भारतीय स्थिति कवि की इस उक्ति मे सुव्यक्त हुई है—

इस सम्बन्ध मे एक अत्यन्त विलक्षण सिक्के की ओर, जिसका भारतीय इतिहास से सम्बन्ध है, ध्यान दिलाना आवश्यक है। अब यह ब्रिटिश म्यूज़ियम मे सुरक्षित है। यह चाँदी का डेकाड्रैस्म या ऐंटिक तौल के हिसाब से दस डम्म वजन का है। जैसा पहले कहा जा चुका है, यह सिकन्दर के अभियान से सम्बन्धित एक महत्त्वपूर्ण घटना का स्मारक-पदक है। इसके पटदाँव (पीछे की ओर) एक लम्बी पुरुष-मूर्ति है जो उरस्त्राण, कचुक और शिरस्त्राण पहने हुए है। उसके एक पार्श्व मे तलवार बँधी है और हाथ मे लम्बा बल्लम है। हेड का अनुमान है कि वह स्वय सिकन्दर की मूर्ति है। उसके चितदाँव (सामने की ओर) एक पीछे हटता हुआ हाथी है जिसकी पीठ पर दो सवार है उनमे से एक भरपूर हाथ से बर्च्छा चलाकर पीछा करते हुए घुडसवार को छेद रहा है। हेड का कथन है कि यह राजकुजर पर सवार वितस्ता के युद्ध मे पौरव की मूर्ति है, जो अपने पीछे घोडा कुदाते हुए तक्षशिला के देशद्रोही राजा आम्भि को ताककर अपना बर्च्छा मार रहा है।

उस युग की आर्थिक और सामाजिक अवस्थाएँ, बौद्ध, जैन और यूनानी ऐतिह्य साधनो से—विनय, सुत्तपिटक और जातक आदि बौद्ध ग्रथो मे एव आचाराग, उत्तराध्ययन आदि जैन-ग्रन्थो मे आर्थिक तथा सामाजिक अवस्थाओ के प्रासगिक उल्लेख आते है और इन्हे जोडकर एक रोचक कहानी तैयार की जा सकती है। इसमे सदेह नही कि यह सब सामग्री अधिकाश मे कथा-कहानियो से ही प्राप्त होती है, किन्तु कथा-कहानियाँ भी तो अपनी स्थानीय परिस्थिति और रगत, तथा भौगोलिक और सामाजिक पृष्ठभूमि से अलग नही की जा सकती।

सन्निवेश के केन्द्र, कुल—सन्निवेश की इकाई गृह था, जिसमे कुल का निवास होता था। कुल अच्छी-खासी इकाई थी। वह पिता, माता, सन्तान और उनके पितामह, पितामही, पुत्रवधू और पौत्रो के सयुक्त परिवार की सज्ञा थी।

ग्राम, घर—गृह और महाकुलो के समुदाय की सज्ञा ग्राम थी। उसमे केवल दो या तीन गृह या शालाएँ भी हो सकती थी (प्रातिमोक्ष, ६)। किन्तु जातक कथाओ मे वर्णित औसत ग्राम मे ३० से १,००० तक कुल होते थे। गाव मे कुटीर एक-दूसरे से सटाकर बनाए जाते थे। एक छप्पर मे लगी हुई आग सारे गाँव मे फैल सकती थी (मिलिन्दपञ्ह, ४७)। गाँव की बस्ती के भाग मे कुटियो या घरो

---

१ बौद्ध सामग्री का पूरा उपयोग डॉ० टी० एच० राइस डेविड्स ने अपनी पुस्तक 'बुद्धिस्ट इण्डिया' मे और श्रीमती सी० ए० एफ० राइस डेविड्स ने 'इकनॉमिक जर्नल,' सितम्बर १९०१, और जे० आर० ए० एस०, अक्तूबर १९०१ मे प्रकाशित अपने इस विषय के लेखो मे एव 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री' के अध्याय ८ मे कर लिया है।

का जमघट रहता था जिसके चारो ओर एक दीवार या लट्ठो का बाडा, जिसमे एक ओर ग्राम-द्वार होता था, बना लिया जाता था (जातक, १।२३६, २।७६, १३५, ३।६) ।

ग्रामक्षेत्र—इस बाडे से बाहर चारो ओर गाँव की कृषि-भूमि या ग्रामक्षेत्र होता था । छोटे जानवर, जगली पशु और चिडियो की हानि से बचाने के लिए ग्रामक्षेत्र की रक्षा बाडे (जातक, १।२१,५), जाल (वही, १।१४३, १५४), और खेत-रखवालो (वही, २।११०, ४।२७७) द्वारा की जाती थी । वनो को साफ करके प्राप्त नई भूमि से क्षेत्रो की अभिवृद्धि होती थी (वही, २।३५७) ।

कृषको की निजी पट्टियाँ—ग्रामो की कृषि योग्य (सीत्य) भूमि मे किसानो की व्यक्तिगत पट्टियाँ होती थी जिनको एक-दूसरे से अलग करने के लिए बीच-बीच मे सिंचाई की नालियाँ (कुल्या) बनाई जाती थी जिनका इस्तेमाल मिलकर किया जाता था (वही, १।३३६, ४।१६७, ५।४१२, धम्मपद, श्लोक ८०, श्लोक १४५, थेरगाथा १६, उदक हि नयन्ति नेतिका) । विभक्त करने वाली उन चौकोर और टेढी-मेढी नालियो को जब बुद्ध ने मगध क जुते हुए खेतो मे देखा तो उन्ही के ढग पर भिक्षुओ का चीवर, पसुकूल या चीथडो को जोडकर बनाने की बात उनके मन मे आई (विनय टैक्स्ट, २।२०७ ६) ।

एक पट्टी प्राय इतनी परिमित होती थी कि वह परिवार, जो उसका स्वामी होता था, स्वय या एक भृतक कर्मकर (मजूर) रखकर उसे जोत-बो सके (जातक १।२७७, २।१६२, ४।१६७) । उसका आदर्श ऐसा भूमिपति था जो भूमि से अलग न रहकर स्वय ही खेती करता हो । भृतक कर्मकर समाज मे निन्दित और दास से भी नीच समझा जाता था (दीघ, १।५१, अगुत्तर १।१४५, २०६, मिलिन्द १४७, ३३१) । तगडे किसान घर पर अपने खेतो को खाली छोडकर जब राजा के खेतो पर बेगार मे पकडवाकर मँगवाए जाते थे तो उस शोचनीय स्थिति को जातको मे बहुत बुरा समझा गया है और सामाजिक दुर्दशा का लक्षण माना गया है (१।३३६) ।

बडे परिमाण की किसानू धरती या पट्टियाँ भी अविदित नही थी । एक सहस्र करीस (सम्भवत एकड) और उससे अधिक की कृषि-भूमियो का भी उल्लेख है (वही ३।२६३, ४।२७६) जिसके क्षेत्रपति ब्राह्मण थे और एक इतनी बडी पट्टी का वर्णन है जिसके लिए ५०० हल और हल-बैलो के लिए अनेक मजूरो (भृतिका) की आवश्यकता पडती थी (वही ३।२६३, २।१६५, ३००, सयुत्त १।१७१, सुत्तनिपात १४) ।

गोचर—ग्राम-क्षेत्र के बाद सार्वजनिक गोचर भूमि होती थी (जातक १। ३८८) जिसमे ग्राम्य पशु-सघ (वही ३।१४६, ४।३२६) और बकरियाँ (वही

३।४०१) चरा करती थी, चाहे वे राजा की हो (वही १।२४०) या सामान्य जनता की (वही १।१६४, ३८८, तु० ऋ० १०।१९)। गाँव वाले सबकी ओर से एक पशुपाल रख लेते थे जो रात के समय यूथो को बाडे मे बन्द कर देता था या गिनती करके उनके स्वामियो के घर पहुचा देता था (वही १।३८८, ३।१८९)। पशुओ की रक्षा करने के कारण उसे गोपालक (वही ५।३५०), अजपाल, या अविपाल कहते थे। दूध का काम उसके जिम्मे न था। गोचर-भूमि दिन-प्रतिदिन या कुछ दिनो मे बदलती रहती थी (अगुत्तर १।२०५)।

वन या उद्यान—गोचर-भूमि के अतिरिक्त गाँव से सटे हुए वन या उद्यान होते थे जैसे राजा बिम्बिसार का वेलुवन, साकेत का अजनवन, या श्रावस्ती का जेतवन, जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है।

अरण्य—गाँव की सीमा पर जगलो की बिना साफ की हुई भूमि रहती थी जहाँ से जलावन लकडी या ईंधन और घास-फूस लाया जाता था (जातक १। ३१७, ५।१०३)। इस तरह के कुछ जगल ये थे, कोसल का अन्धवन, मगध का सीतवन, या शाक्य जनपद का पाचीनवसदाय जिनमे जगली जानवर और वहाँ आते-जाते सार्थो को लूटने-पाटने वाले डाकू रहते थे (वही १।९९)।

भूमि के लागभाग और कर—भारत के आर्थिक जीवन की विशेषता ग्राम-सस्थाएँ थी जिनमे हरेक किसान भूमि का स्वामी था और भूमि पर उसके अधिकारो के विषय मे केवल इतनी ही मर्यादा मानी जाती थी जितनी राज्य को लागभाग के रूप मे देनी पडती थी। ये राजग्राह्य कर कई प्रकार के थे, जैसे—

(१) उपज का दशमाश, जो खलिहान मे ही धान्य के रूप मे वसूल कर लिया जाता था (वही २।३७८), या हरी फसल को देखकर कूती हुई उपज का अश (वही ४।१६९) जिसे महामात्र नामक अधिकारी कूतते थे, अथवा गाँव की सभा या स्वय गाँव का मुखिया (ग्राम-भोजक) मापकर अलग निकाल देता था। हिन्दू धर्मशास्त्रो मे राजग्राह्य भाग उपज के षष्ठाश से बारहवे अश तक कहा गया है (उदाहरण के लिए मनु ७।१३०), अथवा शासनाधिकारी जितना निश्चित कर दे (जातक ३।९)।

इस प्रकार के देयाश या भाग राजा और गण दोनो ही वसूल करते थे। उल्लेख है कि कुसिनारा के मल्लो ने ऐसे व्यक्ति पर ५०० (कार्षापणो) का दण्ड लगा दिया था जो भगवान् के उधर से निकलने पर उनका स्वागत न करे (विनय १। २४७)। उन्होने बुद्ध और सघ के लिए निश्चयानुसार बारी-बारी से भोजन देने का प्रबन्ध भी किया था। शाक्यो ने लुम्बिनी गाँव पर बलि और भाग (उपज का अश) लेने का निश्चय किया था। इनमे से अशोक ने बलि को बिलकुल छोड दिया था और भाग घटाकर अष्टमाश कर दिया था जैसा लुम्बिनी स्तम्भ लेख मे कहा गया है।

राजा इन भाग और करो मे माफी, छूट या दान कर सकता था। ऐसे कुछ दानो का उल्लेख आता है जो राजा या उसकी महिषी (जातक, ५।४४) द्वारा पुत्री के विवाह मे (वही, २।२३७, ४०३), मन्त्री (वही, १।३५४, ६।२६१), ब्राह्मण (वही, ३।२२६, दीघ, १।८७), या वणिज (जातक ६।३४४) को दिये गए। ऐसा भी कहा है कि राजा ने किसी व्यक्ति को (वही, ४।१६६) या पूग को (वही, १।२००) भाग की माफी दे दी।

(२) उपज पर विशेष लाग, जिससे राजकीय बडो (भाण्डागार) मे युद्ध या दुर्भिक्ष के आत्ययिक काल या सकट-समय के लिए धान्य सग्रह करके रखा जाता था ('इण्डियन एण्टिक्विरी', १८६६, पृ० २६१ आदि)।

(३) बेगार या विष्टि। ऐसा उल्लेख आता है कि किसान अपना काम-धन्धा छोडकर राजा के लिए शिकार मे हाँके की डड-बेगार से बचने के लिए रक्षित मृगदावो या रूँधो का प्रवन्ध करते थे (जातक, १।१४६, ३।२७०)। प्रजापीडक विष्टि या बेगार का भी उल्लेख है (वही, १।३३६)।

(४) समय-समय पर लगाए जाने वाले कर या बराड, जैसे पुत्र-जन्म के समय प्रजा राजा को एक विशेष लाग देती थी जिसे 'खीरमूलकहापण' कहा गया है (जातक, ४।३२३)।

(५) अरण्य-भूमि (दीघ, १।८७) और अस्वामिक भूमि या सम्पत्ति पर राजा का अधिकार।

दान या क्रय से भूमि का हस्तान्तरण होता था। एक ब्राह्मण के अपनी जायदाद मे से सहस्र करीस भूमि दान करने का उल्लेख है (जातक, ४।२८१)। एक व्यापारी ने शर्तनामे के अनुसार किसी कुलपुत्र को उसकी इच्छा के विरुद्ध अपना उद्यान या आराम बेचने के लिए बाध्य किया (चुल्ल, ६।४।६)। हिन्दू धर्मशास्त्रो मे स्वय खेती न करने वाले भूमिपतियो के विषय मे कहा गया है कि उपज का एक भाग लेने की शर्त या बटाई पर वे भूमि दे देते थे, जैसा पहले कहा जा चुका है [आपस्तम्भ, १।६।१८ (२०), २।११।२८ (१)]।

नगर—कुल और ग्राम से बडा कस्बा या नगरक होता था, जिसका प्रसिद्ध उदाहरण कुसिनारा था, जहाँ बुद्ध की मृत्यु हुई (दीघ, २।१४६)। नगर के लिए निगम शब्द भी चालू था, जैसे पालिसाहित्य मे प्राय प्रयुक्त गाम-निगम। वस्तुत ग्राम और निगम मे कोई स्फुट विभाजक रेखा न थी। कस्बे के लिए भी नगर शब्द आया है, जैसे राजा विदेह की राजधानी मिथिला, जिसके राज्य मे १६ सहस्र ग्राम थे, नगर कहलाती थी (जातक, ३।३६५)। अन्त मे बहुत बडे-बडे शहर भी थे जो महानगर कहलाते थे जिनमे से बुद्ध के समय मे छह प्रसिद्ध थे, जैसा पहले कह चुके है।

जनसंख्या के सन्निवेश, जैन-ग्रन्थो के अनुसार—उत्तराध्ययन सूत्र नामक जैन-ग्रन्थ मे (३०।१५-१८) अनेक प्रकार के जन सन्निवेशो के नाम आए है। उत्तरोत्तर क्रम से उनकी सूची इस प्रकार है—घर, रथ्या (सडक), वाट (वगीचा), आश्रम, विहार (भिक्षुओ का निवासस्थान या देवगृह), सन्निवेश (सार्थो के पडाव का स्थान), समाज (यात्रिको की निपद्या), घोप (अहीर या गोपालो का स्थान), स्थल-सेना स्कन्धावार (ऊची भूमि पर सेना का पडाव), सार्थ, ग्राम, पल्ली (जगली जातियो या शवरो का ग्राम), खेट (धूल कोट से परिवेष्टित ग्राम, खेटे पासु प्रकार परिक्षिप्ते), कर्वट या खर्वट (नीची दीवार से परिवेष्टित छोटा कस्बा, क्षुल्ल प्राकार वेष्टितम्, अथवा कर्वट लोगो का निवासस्थान, अथवा कौटिल्य के अनुसार २०० गांवो के मडल का केन्द्र जो खार्वटिक कहलाता था), द्रोण मुख (ऐसा जल पत्तन जिसके पीछे नदी, द्रोणी की भूमि हो, जैसे भृगुकच्छ या ताम्र-लिप्ति, अथवा कौटिल्य के अनुसार ४००ग्रामो के मडल का केन्द्र), पत्तन (बडा नगर या वाणिज्य-केन्द्र), मटम्ब (अलग बसा हुआ छोटा कस्बा, जो पहले गाँव से साढे तीन योजन दूर हो), सवाह (खुली हुई बस्ती का नगर, अथवा चारो वर्णों के बहुसख्यक मनुष्यो का निवास, प्रभूत चातुर्वर्ण्य निवास, किन्तु अन्य टीकाकारो के अनुसार दुर्गभूमि जहाँ खेतो की उपज सुरक्षा के लिए सचित की जाय (सवाहा समभूमौ कृषि कृत्वा येप दुर्ग भूमिपु धान्यानि कृपीवला मवहन्ति रक्षार्थं), अथवा पहाडो के बीच मे (पर्वतनितम्वादि दुर्गे) स्थापणी अर्थात् डीपू या सचय-स्थान), नगर (नि शुल्क शहर जो उन अठारह प्रकार के शुल्को मे से एक भी न देता हो जो ग्राम पर लगाए जाते थे), राजधानी, निगम, (व्यापारियो का नगर), आकर (खाने), और सवट्ट-कोट्ट (रक्षार्थ कोट या दुर्ग) (प्राची पुस्तक-माला, ४५, पृ० १७६-७, मूल, शारपेंतिये द्वारा सम्पादित, पृ० २१३, ३८४)।

सूत्रकृताग [२।२ (१३)] मे इनमे से कुछ शब्दो की परिभाषा भिन्न प्रकार से की है। तदनुसार गाँव के चारो ओर काँटे-झाडी या वृक्षो की वाढ होनी चाहिए, नगर मे चार गोपुर होते हैं, खेट की विशेषता नदी और पर्वत से घिरे होना है, खर्वट के चारो ओर भी पहाडी टीले होने चाहिएँ, मटम्ब दस सहस्र गामो के मडल का केन्द्र होता है (दलित दशशतैर्ग्रामैर्युक्तम्); पत्तन रत्नो की विक्री का स्थान (रत्नयोनि) या खनिज द्रव्यो का केन्द्र होता है, द्रोण के पास समुद्र-तट का घेरा होता है (सिन्धु वेला वलयितम्), और सम्वाधन पहाडी पठार पर निविष्ट होता है।

कला और शिल्प—भूमि पर सुव्यवस्थित जीवन और स्थिर सन्निवेश एव भौतिक परिस्थितियो की अनुकूलता के होने से, जिसका चित्रण ऊपर किया गया है, जनता की आर्थिक समृद्धि मे भी अभिवृद्धि हुई। उस युग की कृषि की दशा

ग्रौर सम्पन्नता का ऊपर वर्णन हो चुका है। कला ग्रौर शिल्प के क्षेत्र मे जातको मे ग्रठारह प्रकार के महत्त्वपूर्ण शिप्पो (शिल्प) का उल्लेख प्राय ग्राता है, जिसमे से वड्ढकि, कर्मार, चर्मकार, चित्रकार ग्रादि शिल्पज्ञो के नाम भी है (जातक, १।२६७, ३१४, ३।२८१, ४।४११, ६।२२)। लुहार के लिए कम्भार शब्द था, ग्रौर ग्रग्रेज़ी शब्द 'स्मिथ' की भाँति किसी भी धातु का काम करने वाले के लिए वह प्रयुक्त होता था। ऐसे ही वड्ढकि भी नाव शकट ग्रादि सब तरह के लकडी के कामो को करने वाले के लिए प्रयुक्त होता था (वही, ४।२०७)। यान, रथ, शकट, ग्रादि कई प्रकार की गाडिया होती थी (वही)। वास्तुशास्त्र के ग्रन्तर्गत कई प्रकार का काष्ठ-कर्म करने वाले शिल्पी थपति, तच्छक (रन्दने-वाला) ग्रौर भ्रमकार (खरादी) थे (वही, १।२०१, ४।३०३, मिलिन्द, ३३०, ३४५, मज्झिम, १।५६, ३६६, ३।१४४, धम्मपद, गाथा ८०, दारु नमयन्ति तच्छका)। एक वड्ढकि ग्राम शयनासन ग्रादि उपकरण ग्रौर समुद्री पोत भी तैयार करता था (जातक, ४।१५९)। पत्थर का काम करने वाले पाषाण-कोट्टक थे जो वास्तु-निर्माण करते थे। एक जगह चुहिया रखने के स्फटिक पजर मे उनके सूराख करने का उल्लेख है (वही, १।४७९)। वढिया शिल्पो मे इनका उल्लेख है—दन्त-कर्म (हाथीदाँत का काम), तन्तुवाय कर्म (वुनाई), ग्रापूपिक कर्म (हलवाई का काम), सुवर्णकार कर्म ग्रौर रत्नो का काम, कुम्भकार या कुलाल कर्म, इषुकार ग्रौर धनुष्कार कर्म (धनुर्वाण वनाने वाले का काम), मालाकार कर्म इत्यादि।

हीन शिल्प—शारीरिक कर्म की गरिमा को सदा एक-सी स्वीकृति प्राप्त न थी। कुछ शिल्प ग्रौर कलाग्रो को हीन शिल्प या निन्दित समझा जाता था, जैसे व्याध, वागुरिक (जाल लगाकर फँसाने वाले), मछुवे (कैवर्त या मत्स्यघाती), सौनिक (पशुघाती) ग्रौर चमडा सिझाने वाले, जिनकी वृति जीवहिंसा पर ग्रवलम्बित थी। ऐसे ही नट, नर्तक, गायक ग्रादि के काम एव वेत, तिनको ग्रादि को बीनकर सामान बनाना, एव गाडी बनाना भी, जो वन्य-जातियो के शिल्प-कर्म थे, हीन शिल्प समझे जाते थे।

शिल्पो का स्थान-विशेष मे जमना—विशेष शिल्पो मे लगे हुए लोगो के ग्रलग गाँव बस जाते थे। कुम्भकार ग्राम (जातक, ३।३७६), वड्ढकि-ग्राम (वही, २।१८, ४०५, ४।१५९, २०७), या कम्भार-ग्राम (वही, ३।२८१) सारे जनपद को उस्तरे, हल, फडवे, चाबुक, सूई ग्रादि ग्रावश्यक वस्तुएँ तैयार करके देते थे। गगा के किनारे, या उससे कुछ दूर जाल लगाकर जानवरो को फँसाने वाले निषाद-ग्राम थे (वही, ६।७१, नेसाद गाम, थेरीगाथा ग्रट्ठकथा, २२०, मिगलुद्धक गाम) जो जगली पशु पकडकर लाते ग्रौर उनके चमडे ग्रौर हाथी-

दाँत आदि सामान बेचते थे। नगरो मे कुछ विशेष सडको या मुहल्लो मे पेशेवर लोगो की बस्तियाँ बन जाती थी। बनारस मे हाथीदाँत का काम करने वालो की गली (दन्तकार वीथी, जातक, १।३२०, २।१९७), रगरेजो की गली (रजक वीथी, वही, ४।८१), वैश्य वीथी (वेस्सव्यापारी) और बुनकरो का मुहल्ला (ठान) था (वही, १।३५६)।

वाणिज्य—वाणिज्य देशी और विदेशी, समुद्री और नदी परिवाहित, एव निर्यात और आयात के रूप मे होता था।

विदेश के साथ सामुद्रिक व्यापार की प्रमाण-सामग्री अपेक्षाकृत कम मिलती है, किन्तु वह निश्चित रूप से था। उल्लेख है कि राजकुमार महाजनक चम्पा से सुवर्ण भूमि (वही, ६।३४ आदि), महिन्द पाटलिपुत्र से ताम्रलिप्ति और वहाँ से सिहल गये थे (विनय, ३।३३८, समन्त पासादिका)। एक जगह कहा है कि बढइयो का सारा गाँव बयाना लेकर माल तैयार न करने की त्रुटि से बचने के लिए रातो रात बनारस से गगा के रास्ते एक बडे जलयान मे बैठकर समुद्र की ओर भाग गया (जातक, ४।१५९)। एक चतुर कर्णधार समुद्र के उस पार से भारत आने वाले यात्रियो को पोत मे बिठाकर गगा के रास्ते से बनारस तक ले आया। कुछ व्यापारी भरुकच्छ से चलकर भारतीय समुद्र-तट के किनारे सुवर्ण-भूमि पहुच गए थे (वही, ३।१८८) और मार्ग मे सिहल के एक जलपत्तन मे ठहरे थे (वही, २।१२७ आदि)। पत्तन मे नया माल लादकर आये हुए पोत पर माल खरीदने के लिए सौ व्यापारियो के एकत्र होने का उल्लेख है (वही, १।१२२)।

उस युग के जलयान सैकडो यात्रियो की यात्रा के लिए पर्याप्त होते थे। कई अभागे जलयानो पर पाँच सौ व्यापारियो के यात्रा करने का उल्लेख आता है (वही, १२८, ५।७५)। सुप्पारक के कुशल निर्यामकत्व मे सात सौ यात्रियो की नौ-यात्रा का उल्लेख है (वही, ४।१३८ आदि)।

बाद की लगभग प्रथम शती ई० की प्रमाण सामग्री मे भारतीय समुद्री व्यापार के बढते हुए क्षेत्र का उल्लेख आता है। मिलिन्द पञ्ह (३५९, २।२६९, प्राची पुस्तकमाला, संख्या २६) मे निम्नलिखित रोचक अवतरण है—

"जैसे कोई नौ-स्वामी, जिसने किसी समुद्र-पत्तन मे किराये से बहुत धन कमाया हो महासमुद्र की यात्रा के लिए निकलता है और वग, तक्कोल, चीन या सोवीर, या शूसारक, या अलसन्द (नील नदी के मुहाने पर सिक दरिया) तक की यात्रा करता है, अथवा चोलमण्डल या द्वीपान्तर या अन्य किसी पोत-पत्तन की यात्रा के लिए जाता है ·"

इस युग मे भारतवर्ष का रोम-साम्राज्य के साथ बढा-चढा सामुद्रिक व्यापार था, जैसे पेरिप्लस और प्लिनी-कृत 'नेचरल हिस्ट्री' नामक विदेशी प्रमाणो से

एव प्राचीन तमिल साहित्य के शिलप्पाधिकारम् आदि काव्यो से ज्ञात होता है, जिनमे दक्षिण भारत के समुद्र-तट पर कितने ही समृद्ध जलपत्तनो का उल्लेख है जैसे कावेरी-पट्टिनम् (पेरिप्लस का कबर=टॉलेमी का खबरि), जो कावेरी के सगम पर चोल साम्राज्य की राजधानी थी और जहाँ अनेक यवन व्यापारियो की बस्ती थी।[1]

भारतीय वाणिज्य और वणिक्-पथ—देश के भीतर वाणिज्य के साधन शकट और सार्थ थे। अनाथपिंडिक के शकट-सार्थ दक्षिण-पूर्व की ओर सावत्थी से राजगृह तक की यात्रा करके (लगभग ३०० मील) वापस आते थे (जातक, १।६२-३४८) और प्रत्यन्त देशो, सम्भवत गन्धार की ओर भी जाया करते थे (वही, १।३७७ आदि)। नदियो को सुविधापूर्वक तैरने के लिए यह पथ पहाडो के निकट होता हुआ कुसिनारा पहुँचता था और कुसिनारा एव राजगृह के बीच मे बारह पडाव (ग्राम या नगर) मे होकर, जिनमे वैसाली भी थी, केवल एक जगह पटना मे गगा उतरना था जैसा कि बुद्ध के धर्म-प्रचार की अन्तिम यात्रा के वर्णन मे लिखा है (दीघ, २, सुत्तन्त, १६, ८१ आदि)।

दूसरा महत्त्वपूर्ण पथ सावत्थी से दक्षिण-पश्चिम की ओर पतिट्ठान (पैठण) तक जाता था, जिसमे छ पडाव थे (सुत्तनिपात, श्लोक १०११-१०१३) और कई नदियाँ पार करनी पडती थी। गगा मे उजान या उपरली धार की ओर नावें सहजाति तक (विनय टैक्स्ट, ३।४०१) और यमुना मे कौशाम्बी तक जाती थी (वही, पृ० ३८२)। उन दिनो पुल न थे, केवल तीर्थ (वह स्थान जहाँ नदी पैदल पार की जा सके, पालि तित्थ) और नौ-क्रमो (नावो से बने हुए मार्ग, अर्वाचीन टोल के पुल) से नदियाँ पार की जाती थी (जातक, ३।२२८)। मनु मे नदी-तीर पर यानो के लिए बने हुए तर का उल्लेख है (८।४०४-६)। सेतु का प्राचीन अर्थ पुल नही, बाँध था।

तीसरा पथ पश्चिम की ओर सिन्ध तक, जहाँ से घोडे और गधे आते थे (जातक, १।१२४, १७८, १८१, २।३१, २८७), और सोवीर (विमान वत्तु, टीका ३३६) उसके समुद्रपत्तन एव उसकी राजधानी रोरुव (जातक, ३।४७०) या रोरुप (दीघ, २।२३५, दिव्यावदान, ५४४) तक चला जाता था। स्थल मार्ग मे 'पूरब और पच्छिम' की ओर जाने वाले सार्थो का उल्लेख है (जातक, १।६८ आदि) और वे सार्थ मरुस्थल (राजपूताना की मरुभूमि) के पार जाने मे कितने ही दिन लगाते थे। उनका नेता थल-निय्यामक रात की ठडक मे आकाश के तारो को देखकर मार्ग-निर्देश करता था (वही, १।१०७)। पश्चिमी समुद्र-तट के पत्तनो

१ देखिए मेरी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ इडियन शिपिंग'।

से व्यापारी भूमि से ओझल होकर महासमुद्र में पहुचकर बावेरु (बेबिलन) की वाणिज्य-यात्रा करते थे। अन्त मे उत्तर-पश्चिम का बडा स्थलमार्ग था जो भारत को एक ओर मध्य एशिया के साथ और दूसरी ओर पश्चिम एशिया के साथ मिलाता था। इस मार्ग पर तक्षशिला और गगा के कांठे मे साकेत, सावत्थी, वाराणसी और राजगृह जैसे महानगर थे (विनय टैक्स्ट, २।१७४ आदि, महावग्ग ८।१।६ आदि)[1]। बहुत चलने के कारण यह रास्ता निर्विघ्न था। बहुसख्यक विद्यार्थी सैनिक सहायता या शस्त्रो के बिना इस मार्ग पर मध्य देश से शिक्षा के लिए तक्षशिला जाया करते थे (जातक, २।२७७, देखिए मेरी पुस्तक, ऐंशिएट इण्डियन एजुकेशन, अध्याय २०)।

बाज़ार—मास-भोजन की सामग्री प्राय नगर के भीतर न बिककर नगर-द्वार के समीप बिकती थी। सावत्थी के द्वार पर मत्स्य-विक्रय का उल्लेख है (थेरगाथा, अग्रेज़ी, अनुवाद पृ० १६६)। उत्तर पचाल के चार नगर-द्वारो पर साग-पात की दूकानें थी (जातक, ४।४४५), और बनारस के बाहर चौराहे (सिघाटक) पर मृगमास बिकने का उल्लेख है (वही ३।४६, ५।४५८, ६।६२), यहाँ सूनागृह या वध्य-स्थान होते थे। एक जगह लिखा है कि लोग "बनारस के नगर-द्वार से निकलकर ग्राम मे भिक्षा के लिए जाते थे जहाँ खाने-पीने का बहुत सामान मिलता था" (वही, १।३६१)। मिथिला नगर के पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर इन चार भागो मे चार निगम थे। इन्हे यव-मज्झक या बाज़ार भी कहा गया है (वही, ६।३३०, कॉवेल का अनुवाद, पृ० १५७)। भरहुत स्तूप के उत्कीर्ण शिलापट्ट पर इस जातक का नाम यव-मज्झकीय लिखा है।

नगर के भीतर दूकाने (थेरगाथा, अनुवाद, २४) और बाजार होते थे। कई जगह आपण या दूकानो का उल्लेख है जिनमे बाण, यान और अन्य 'क्रय्य' वस्तुएँ बिक्री के लिए रखी जाती थी (जातक, २।२६७, ४।४८८, ६।६६, विनय, ४।२४८; चुल्लवग्ग, १०।१०।४), और बाण रखने के भण्डारो का भी वर्णन है जिन्हे अन्तरापण कहते थे (जातक, १।५५, ३५०, ३।४०६)। सफल वणिज (आपणिक) की विशेषता उसकी चतुराई, बुद्धि, परिश्रम और व्यावसायिक सम्पर्कों से जानी जाती थी (अगुत्तर, १।११५ आदि)। बाज़ारो मे वस्त्र (विनय, ४।२५० आदि), परचूनी सामान और तेल (वही, ४।२४८-६), अनाज (जातक, २।२६७), साग-पात (वही, १।४११), गन्ध और माल्य (वही, १।२६० आदि, ४।८२, ६।३३६, विनय टैक्स्ट ३।३४३), सोने-चाँदी और हीरे-जवाहरात (जातक, ४।२२३) और अन्य भाँति-भाँति की सामग्री बिकती थी। मद्य स्थानो (पानागार या आपान)

---

१. पाणिनि ने इसका नाम उत्तर-पथ दिया है (५।१७७)—अनुवादक।

मे चोखी सुराएँ बिकती थी (वही, १।२५१ आदि, २६८ आदि, ६।३२८)। किन्तु सुरा, विष, मांस, शस्त्र और दासो का क्रय-विक्रय अच्छे लोगो के लिए निन्दित माना जाता था (अगुत्तर, ३।२०८)।

मूल्य—मूल्य का निर्धारण राजादेश पर नही वल्कि मोल-भाव (जातक, १।१११ आदि, १९५, २।२२२, २८९, ४२४ आदि), दूकानदारो की आपसी प्रतियोगिता (वही, ३।२८२ आदि), अथवा वस्तुओ मे मिलावट पर निर्भर था (वही, १।२२०)। कभी बाजार के चलन से भी दाम तय होता था, जैसे "एक दासी का मूल्य सौ कार्षापण" था (वही, १।२९९)। सट्टे या फाटके का सौदा भी किया जाता था। एक जगह एक फाटका बाजार की चहल-पहल का वर्णन आया है (वही, १।१२१), और २०० या ४०० प्रतिशत मुनाफ़े वाले लूट के सौदो का भी वर्णन है (वही, १।१०९, ४।२)। एक सौदे मे तो २०,००० प्रतिशत का लाभ रहा, यद्यपि उस पर ढुलाई, घटवाई और रक्षक-पुरुष और प्रतिहारो का मुंह फूंकने के लिए एक सहस्र कार्षापण का खर्चा ऊपर से पड गया था। श्रेष्ठी अनाथपिण्डक ने जेतवन आराम खरीदने के लिए मुहमाँगा दाम देकर भूमि पर मुद्राएँ बिछवा दी थी, यद्यपि यह नही कहा गया था कि मुद्राएँ किस धातु की थी (वही, १।९२, विनय, २।१५८ आदि, चुल्लवग्ग, ६।४।९)।

किन्तु राजकीय क्रय के लिए मूल्य-निर्धारण का काम अग्घ-कारक नामक अधिकारी करता था जिसकी वडी मुश्किल थी, क्योकि एक ओर राजा के लिए कम-से-कम दाम मे माल लेना पडता था और दूसरी ओर व्यापारी अधिक भाव लगाने के लिए जो घूस देते थे उससे वचना था (जातक, १।१२४ आदि, २।३१, थेरगाथा, अनुवाद, २५,२१२)। इतने पर भी उसके लिए राजा को प्रसन्न करना कठिन था और उसे नाममात्र की दलाली पर टरका दिया जाता था (जातक, ४।१३८)।

वाणिज्य पर शुल्क—देशी माल का चालान जब नगर मे आता तो बीसवाँ भाग चुंगी लगती थी, पर विदेशी माल पर शुल्क दशमाश और एक अदद नमूना लिया जाता था। यह निर्ख बौधायन (१।१०।१८, श्लोक १४-१५), गौतम (१०।२६), और मनु (८।३९८-४००) के अनुसार था, जिसका प्रमाण ऊपर दिया गया है। एक जातक मे (६।३४७) कथा है कि किसी राजा ने अपनी प्रजा से प्रसन्न होकर नगर-द्वार पर लगने वाली चुंगी (शुल्क) माफ कर दी थी। राजा का इतना अधिकार और था कि प्रत्येक व्यापारी प्रतिमास उसके हाथ एक अदद माल कुछ घटते मूल्य पर (अर्घापचयेन) बेचे, जिसके बदले मे राजा उस व्यापारी को अवश्यकरणीय राजकार्य से मुक्त रखता था (गौतम, १०।३५)।

लेन-देन के साधन . सिक्के—वस्तुओ की अदला-वदली (निमान) के स्थान

पर मुद्राओ से लेन-देन की प्रथा बढ गई थी और निमान कुछ ही अवस्थाओ तक व्यवहार मे रह गया था। सघ के लिए नकद धन का प्रयोग वर्जित था (विनय, ३।२३७, २।२९४ आदि, चुल्लवग्ग, १२।१ आदि)। कोई यात्री किसी आरण्य-वास को आहार के बदले अपनी सोने की कील देता है (जातक, ६।५१९)। एक कुत्ते के क्रय करने के लिए एक प्रावार और एक कार्षापण मूल्य दिया गया (वही, २।२४७)। साधारणतया सभी क्रय-वस्तुओ का मूल्य मुद्राओ मे कहा जाता था। यहाँ तक कि दक्षिणा, वेतन, अर्थदण्ड, ऋण, सचित निधि और आय इत्यादि का परिगणन भी मुद्राओ मे ही होता था (जे० आर० ए० एस०, १९०१, पृ० ८८२ आदि)।

बौद्ध-साहित्य मे मुद्राओ के लिए काहापण (= कार्षापण) शब्द प्रयुक्त हुआ है। उन ग्रन्थो मे पुराण शब्द का, जो कार्षापण के लिए बाद मे प्रचलित हुआ है, प्रयोग नही पाया जाता। दूसरे प्रकार के कुछ सिक्के ये थे निक्ख और सुवर्ण्ण, जो दोनो सुवर्ण मुद्राएँ थी, कस, पाद, मासक (माष), और काकणी जो काँसे या ताँबे के सिक्के थे।

देश और काल के अनुसार सिक्को का मूल्य बदलता रहता था। विनय (३। ४५) के अनुसार जब "राजा (बिम्बिसार या अजातशत्रु) का राज्य था, तब राज-गृह मे पाँच मासक का एक पाद होता था" (तदा राजगहे वीसति मासो काहापणो होति, तस्य पचमासको पादो)।

ऋण—ऐसे उल्लेख आये है जिनसे ज्ञात होता है कि मुद्रिका या अँगूठी निक्षेप के रूप मे रखकर ऋण लिया जाता था (जातक, १।१२१), अथवा स्त्री और पुत्रो को निक्षेप मे रखकर ऋणदान करते थे[1], अथवा बाकायदा ऋणपत्र लिखकर (इणपण्णानि, जातक, १।२३०, पण्णे आरोपेत्वा, पृ० २२७) ऋण लेते थे, अथवा एक दिवालिये ने पहले तो अपने उत्तमर्णो से ऋणपत्र दिखलाने के लिए कहा और फिर उन्ही की आख के सामने नदी मे डूबकर प्राण दे दिए[2]। ऋणग्रस्त व्यक्ति को सघ मे भिक्षु बनाने का निषेध था, ताकि समाज मे अव्यवस्था उत्पन्न न हो (विनय, १।७६, महावग्ग, १।४६)।

ऋणप्रदान और ब्याज—ब्याज के लिए सस्कृत का वृद्धि—पालि का वड्ढि—शब्द था। कृषि, पशुपाल्य और वाणिज्य के साथ-साथ ऋणदान को भी ईमानदारी का पेशा कहा गया है (जातक, ४।४२२)। गौतम भी उसे अनुमत मानते है (१०।६, ११।२१)। किन्तु अधिक सूदखोरी (कुसीद) को सबने निन्दित कहा है (मनु, ३।

---

१. वही, ६।५२१; थेरीगाथा, ४४४।

२ वही, ४।२५६।

१५३, १८०, ८।१५०, १५२, वसिष्ठ, २।४१, ४२, बोधायन, १।५।१०।२३-५, जैसा पूर्व उद्धृत किया जा चुका है)।

ऋण देना एक वृत्ति या पेशा था। धनी लोग कई रीति से धन-संग्रह करते थे। कुछ उसे भूमि में गाड़कर रखते थे (जातक, १।२२५, ३७५, ४२४, २।३०८, ३।२४, ११६), या नदी-तट के समीप धारा के नीचे काँसे के हण्डों में उसे गाड़ते थे[1], अथवा मित्रों के पास धरोहर रखते थे[2]। बड़े महलों में धन रखने का सुरक्षित स्थान द्वारकोट्ठक अर्थात् द्वार के साथ मिला कोठा था (वही, १।३५१, २।४३१)। निधान के रूप में निक्षिप्त धन का विवरण और संख्या सोने या ताँबे के पत्रों पर लिखकर रखी जाती थी[3]।

सामूहिक संस्थाएँ श्रेणी—आर्थिक जगत् में सामूहिक संस्थाओं के रूप में संगठन था, जैसे श्रेणियाँ, या साझेदारी, अथवा अन्य प्रकार के सहकारी व्यवसाय। गौतम ने (११।२१), जैसा पहले कह चुके हैं, कृषक, वणिज, गोपाल, उत्तमर्ण और शिल्पी लोगों के वर्गों का उल्लेख किया है, और लिखा है कि उनको स्वयं अपने नियम बनाने का अधिकार था, जिनकी मान्यता राजा भी करते थे। जातकों में अठारह श्रेणियों का उल्लेख है (जातक, १।२६७, ३१४, ३।२८१ आदि)। प्रत्येक श्रेणी का एक प्रधान (प्रमुख या जेट्ठक) होता था, जिसका सम्मान राजा भी करता था। कभी-कभी कई श्रेणियाँ मिलकर एक प्रधान चुनती थीं, वही उनका भाण्डागारिक भी होता था, जैसे आपस में झगड़ा होने पर सावत्थी[4] और बनारस की श्रेणियों ने किया था। बढ़इयों की श्रेणियों में इस प्रकार का व्यापक संगठन सम्भवतः महावड्ढकि शब्द से सूचित होता है[5]।

प्रत्येक शिल्प का भी संगठन, यदि वह पूरी श्रेणी के रूप में विकसित न हो, जेट्ठक के अधीन रहता था। जातकों में मालाकारों के जेट्ठक (३।४०५), परिपथियों या डाकुओं के जेट्ठक, जिनके पाँच सौ परिवार उत्तर पंचाल के समीप एक ग्राम में रहते थे और समुद्री नाविकों (निय्यामक) के जेट्ठक[6] का उल्लेख आया है।

वणिजों का प्रधान सेट्ठी कहलाता था। सावत्थी के महासेट्ठि अनाथपिण्डिक व्यापारी-वर्ग के मुखिया थे। जिस समय उन्होंने श्रावस्ती का जेतवन विहार बुद्ध

१. वही, १।२२७, ३२३।
२. वही, ६।५२१।
३. वही, ४।७, ४८८, ६।२९, ४।२३७।
४. जातक, २।१२, ५२।
५. वही, ६।३३२।
६. वही, ४।१३७।

को प्रदान किया, उस उत्सव मे ५०० अन्य सेट्ठी उपस्थित थे[1]। वे एक बडे व्यापारी समुदाय के सेट्ठी थे, जिनकी अधीनता मे अनेक अनुसेट्ठी काम करते थे[2]। सेट्ठी के अधिकार की सूचना सेट्ठी-छत्त शब्द से सूचित होती है, जिसका अर्थ है कि वह अपनी मण्डली मे प्रभुत्व का सूचक वैसा ही छत्र रखता था जैसा राजा के सिर पर होता है (विमानवत्थु अट्ठकथा, ६६)। स्वय सेट्ठी शब्द थान शब्द से सम्बन्धित है (जातक, १।१२२, विनय टैक्स्ट, १।१०२, टीका ३) जिससे ज्ञात होता है कि सेट्ठी का एक विशेष पद होता था।

सार्थवाहो का अपना निजी सगठन और कर्मचारी-मण्डल था, जो भयस्थानो तथा उनकी यात्रा की कठिनाइयो का प्रतिकार करता था। विभिन्न व्यापारी अपने शकट और साथी लेकर एक नायक की अधीनता मे चलते थे जो सत्थवाह कहलाता था और पडाव, पानी की व्यवस्था, पथ, नदियो की उतराई और भयस्थानो के सम्बन्ध मे उनको निर्देश देता था (दीघ निकाय, २।३६२ आदि, जातक, १।६८), यद्यपि कभी-कभी उसकी आज्ञाओ का उल्लङ्घन भी कर दिया जाता था (जातक, १।१०८, ३६८, २।२९५, ३।२००)। यह कुछ शिथिल-सा सगठन या एकत्वापन्न समुदाय था। सार्थ के साथ कुछ और भी सामान्य अधिकारी होते थे, जैसे थलनिय्यामक जो अनावृष्टि, अकाल, वन्यजन्तु, डाकू, यक्ष तथा राक्षसो के भय से सार्थ का बचाव और पथ-प्रदर्शन करते थे (जातक, १।१०७, १।९९)।

कृषको मे भी उनका प्रधान भोजक कहलाता था। वह ग्राम-प्रबन्ध तथा राजनीतिक सस्थाओ मे उनका प्रतिनिधित्व करता था और इस पद के लिए उसे कुछ विशेष कर या अर्थदण्ड लेने का अधिकार था[3]।

साझेदारी—साझेदारी स्थायी या अस्थायी या विशेष अवसर के लिए होती थीं[4]। वणिजो के एक सार्थ का उल्लेख आता है जिन्होने एक निधान या गडी हुई धनराशि या उसके लाभ को आपस मे बाँटकर बुद्ध को सामूहिक दान दिया (जातक, २।२९४ आदि), बनारस के व्यापारियो का कार्य और विनोद के समय आपस मे मिलन का उल्लेख है[5], कुछ वणिज माल की ढुलाई का एकसाथ मिलकर प्रबन्ध करते थे[6], अथवा कुछ व्यापारी यात्रा के लिए एक ही जहाज का सबकी ओर से

---

१ वही, १।९३।

२ वही, ५।३८४, विनय, १।१८।

३ जातक, १।१९९।

४ वही, १।४०४, २।१८१।

५. वही, २।२४८।

६ वही, १।१११।

प्रबन्ध कर लेते थे[1]।

जाति और शिल्प—शिल्प पुश्तैनी कुशलता पर निर्भर करता था। प्राय पुत्र अपने पिता के शिल्प या पेशे को ही अपनाता था। कुन्द कम्मार को कुन्द कम्मारपुत्त कहा गया है (कम्मारो कम्मारपुत्तो, मज्झिम, १।२५६, दीघ, २।१२७ आदि, जातक, १।६८, १६४, ३।१२, ३।७६, ३।३३० आदि (नेसादो=लुद्दपुत्तो=लुद्दो), ५।३५६-८)।

किन्तु जातको की सामाजिक पृष्ठभूमि से ऐसा नही जान पडता कि पेशे का नियन्त्रण सोलह आने जाति से होता था। ऐसे उदाहरण हैं जिनमे राजकुमारो ने सार्थ के साथ रहकर बनिये का काम किया और उसके बाद क्रमश कुम्हार, माली और रसोइये का काम किया (वही, ५।२९०-३), अथवा भृति लेकर धनुर्धर (वही, २।८७) अथवा घरेलू नौकर का काम किया (वही, ४।१६९)। शाक्य और कोलिय जातियो के क्षत्रिय अपने भोजन, अमच्च और उपराजाओ के खेत मे काम करते है और सिचाई मे पहल के अधिकार के लिए झगडते है (वही, ५।४१२)। ऐसे ही ब्राह्मण भी व्यापार करते थे (वही, ४।१५ आदि, ५।२२, ४७१) अथवा धनुर्धर (वही, ३।२१९, ५।१२७ आदि, १।३५६ आदि, एक तन्तुवाय के सेवक के रूप मे), वागुरिक मृगपाशिक (वही, २।२००, ६।१७० आदि), अथवा बढई (वही, ४।२०७ आदि) का काम करते हैं। जातको मे ब्राह्मणो के ये पेशे कहे गए हैं कृषि, पशु-पालन, वाणिज्य, मृगया, बढईगिरी, बुनाई, सार्थों की चौकीदारी, धनुर्विद्या, गाडीवानी, और यहाँ तक कि सपेरे का काम भी (२।१६५, ३।२९३, ४।१६७,२७६, ३।४०१, ४।१५,५।२२,४७१, २।२००, ६।१७०, ४।२०७ ४५७, ५।१२७)। उनमे ब्राह्मण-किसान को अत्यन्त धार्मिक, यहाँ तक कि बोधिसत्व के रूप मे कल्पित किया गया है (३।१६२)। कोई मृगपाशिक किसी सेट्ठी का अन्तरग मित्र बन जाता है, दोनो मे कोई सामाजिक अडचन नही आती (वही, ३।४९ आदि)। एक जुलाहा धनुर्धर बन जाता है (वही, २।६७), किसान चटाई आदि बुनने का काम करने लगता है (वही, ४।३१८), और एक उच्च वर्ण का व्यक्ति आपत्ति के समय जो भी काम हाथ लग जाय, करने के लिए तैयार हो जाता है (वही, १।१२० आदि), और अन्त मे एक सेट्ठी का जामाता बन जाता है। एक उदाहरण मे पिता स्वय अपने पेशे का उल्लेख किए बिना अपने पुत्र से लिपिक, हिसाब और रूप—(रुपये-पैसे का काम) इन तीनो मे से कोई एक चुन लेने के लिए कहता है (विनय, १।७७, महावग्ग, १।४९।१, ४।१२८)।

इस प्रकर ऊपर-नीचे और दाएँ-बाएँ दोनो दिशाओ मे श्रमिको को स्थान-

---

१ वही, ४।१३८ आदि, ६।३४१

परिवर्तन करने की पूरी छूट थी। परन्तु इसका यह अर्थ नही कि उन दिनो जाति के बन्धन बिलकुल लागू न थे। एक शुद्ध शाक्य वश की कन्या की माँग पूरी न होने से चिढे हुए कोशलराज ने सारे शाक्य-सघ का नाश कर डाला (वही, १।१४४ आदि)। सावत्थी का ब्राह्मण एसुकारी ब्राह्मण के लिए भिक्षा, क्षत्रिय के लिए धनुष-बाण, वैश्य के लिए ग्राम-जीवन एव गोपालन और शूद्र के लिए हसिया से बैल जोतने या बोझ ढोने का काम बताता है (मज्झिम, २।१८०)। वासेट्ठसुत्त (सुत्त निपात, ३।६) मे ब्राह्मण शब्द के आध्यात्मिक अर्थ पर जो विचार किया गया है उससे जाति और उसके आदर्शो के सम्बन्ध मे तत्कालीन विचारो का पता लगता है। एक जातक (४।३६३ आदि) मे ब्राह्मण के लिए कृषि, वाणिज्य और दूसरे अविहित पेशो को निन्दित और जाति-च्युत करने वाला कहा है। इस प्रकार जाति के सम्बन्ध मे स्मृतियो मे कहे हुए कठोर नियम बौद्ध धार्मिक ग्रन्थो मे भी माने गए हैं, किन्तु इसी अनुश्रुति मे उच्च वर्णों के लिए निम्न पेशो का अपनाना आपद् धर्म की तरह विशेष अवस्थाओ और कठिनाइयो मे स्वीकार किया गया है, जैसा पहले कह चुके है।

दासता—निम्नलिखित परिस्थितियो के कारण दासता होती थी—लडाई मे बन्दी बनाया जाना (जातक, ४।२२०, ६।१३५), मृत्युदण्ड मे परिवर्तन, ऋण के बदले मे (वही, ६।५२१), बलात् पदच्युति (विनय, १।७२, महावग्ग, १।३६।१, सुमगलविलासिनी, १।१६८), अथवा न्यायालय के दण्डस्वरूप (जातक, १।२००)। पैसा भर देने से (वही, ६।५४७), अथवा दास के स्वामी की इच्छा के अनुसार दासता का अन्त किया जा सकता था (वही, ५।३१३, दीघ, १।७२)। दास के साथ "मारना-पीटना, दागना, बन्दीगृह मे रखना और स्वल्प मात्रा मे भोजन देना" इत्यादि कठोर व्यवहार किये जा सकते थे (जातक, १।४५१ आदि), किन्तु दुर्व्यवहार की वास्तविक घटनाओ का बहुत ही कम उल्लेख हुआ है। इसके विपरीत परिचारक या पदाति के रूप मे कार्य करने वाले दास स्वामी के प्रिय व्यवहार के भाजन होते थे और उन्हे लिपि या शिल्प की भी शिक्षा दी जाती थी (वही)। जो दासता से मुक्त न किया गया हो, उसे भिक्षु नही बनाते थे (विनय, १।७६, महावग्ग, १।४६ आदि)।

यूनानी स्रोतो से आर्थिक और सामाजिक दशा का परिचय—ये स्रोत उस काल की आर्थिक और सामाजिक दशा पर अच्छा प्रकाश डालते है।

नगर—पजाब मे आर्थिक समृद्धि के केन्द्र वहा के बहुसख्यक नगर थे, जैसा यूनानी लेखको ने कहा है और पूर्व आ चुका है। अश्वको के देश मे नगरो के अतिरिक्त, जो उनके रक्षादुर्ग भी थे, जैसे मस्सग (मशकावती) या अओरनस (वरणा), ग्लौग्गाइ (ग्लुचुकायनो) के देश मे सैतीस नगर थे और मल्लोइ-

आबिसड्रैकोई (मालव-क्षुद्रक) तथा अन्य गणराज्यो की अधीनता मे पजाब के शेष भाग मे, ५०० नगर थे।

स्थापत्य—इनमे से कुछ नगरो मे नगर-मापन और स्थापत्य-निर्माण का प्रशसनीय रूप पाया जाता था। उदाहरण के लिए, मस्सग का निर्माण एक दुर्ग के रूप मे हुआ था, जिसमे रक्षा के कई प्राकृतिक साधन थे, जैसे वह एक ऊँची पहाडी पर बसा था जिसे चारों ओर से खडी चट्टान, धोखे से भरे दलदल, गहरे पहाडी नाले और गहरी खाई से रक्षित ऊँची प्राचीर ने नितान्त दुर्गम बना दिया था। कर्तियस के अनुसार दुर्ग की प्राचीर "३५ स्टेडिआ (=लगभग ४ मील) लम्बी थी और उसके पथरीले पुश्ते पर धूलकोट और पक्की ईंटों का डण्डा खिचा हुआ था। बीच-बीच मे ढोको की बदिश से ईंटो की चुनाई ठोस और पुख्ता बना दी गई थी।" प्राचीन भारतीय स्थापत्य हमेशा या सर्वत्र केवल लकडी के काम तक ही सीमित न था, सिन्धु-उपत्यका मे मिली हुई अति प्राचीन काल की इमारतो से यह सिद्ध हो चुका है। अओरनस का दुर्ग ऊँची पहाडी पर बनाया गया था। उसमे पास के पहाडी झरने से पानी का प्रबन्ध किया गया था और पडोस के खेतो मे हजार मनुष्यो की मेहनत से खेती करके अन्न उत्पन्न किया जाता था ताकि घेरे के समय दुर्ग आत्मनिर्भर बन सके।

शिल्प-सामग्री—नगरो के अतिरिक्त भी भौतिक समृद्धि के अन्य प्रमाण उस उपहार-सामग्री के रूप मे प्राप्त होते है, जो सिकन्दर को भिन्न-भिन्न स्थानो से प्राप्त हुई, जैसे सूती वस्त्रो के अम्बार, गोचर्म की ढालें, मगर की खालें कछुओ की अस्थियाँ (जिन्हे प्रथम शती के पेरिप्लस मे भी निर्यात-सामग्री मे गिनाया गया है), लोहे के १०० टैलिंट ('श्वेत अयस्,' जिसे कनिंघम ने निकल कहा है)। ये सब चीजे क्षुद्रक और मालवो से प्राप्त हुई थी। निकल की इन मुद्राओ के अतिरिक्त राजा सौभूति (सोफाइटीज) द्वारा प्रदत्त चाँदी की मुद्राएँ भी थी, जिनके विषय मे अनुमान है कि वे एथेन्स की उलूकाकित चाँदी की मुद्राओ की प्रतिकृति थी, जिनके एक ओर राजा का मस्तक और दूसरी ओर कुक्कुट तथा राजा का नाम यूनानी लिपि मे अकित था। तक्षशिला के राजा ने सिकन्दर को "दो सौ टैलिंट भार चाँदी और सुवर्ण के मुकुट" दिये। उस काल की अन्य शिल्प की तैयार वस्तुओं की सूचना भारतीय सैनिको की वेशभूषा और युद्ध-सामग्री से मिलती है, जैसे अयोमुखी बाण, बल्लम, खड्ग, बर्छे, और बहुसख्यक शकट और नावें जो वाणिज्य और युद्ध के काम आती थी।

पशुधन—उनकी कृषि-विषयक उन्नति का प्रमाण गोधन से मिलता है। अश्वको के देश मे २,३०,००० तगडे बैल सिकन्दर को लूट मे मिले थे जो उसने मैसिडन भेज दिए। तक्षशिला से उसे ३,००० तगडे बैल और १०,००० भेडें

मिली, राजा सौभूति ने लडाई के काम मे आने वाले कुत्ते दिये थे, और क्षुद्रको ने पालतू शेर-चीते भेजे थे। हाथी और घोडो का भी बहुत अधिक रिवाज था।

साधु—सामाजिक अवस्था के विषय मे सबसे रोचक सामग्री समाज के सबसे उच्च वर्ग या जाति के सम्बन्ध मे मिलती है जिन्हे 'दार्शनिक' या ज्ञानी कहा गया है। ये दो प्रकार के कहे गए है—ब्राह्मण और श्रमण। ब्राह्मण ३७ वर्षो तक आचार्य के समीप मे विद्याध्ययन करते है। "वे नगर के उपकण्ठ मे आश्रम बनाकर रहते, पर्ण और अजिन की शैया काम मे लाते, अल्पाहार करते, ब्रह्मचर्य से रहते, मासाहार का परित्याग करते, शास्त्र-चिन्ता मे निरत रहते और दूसरो को भी तत्त्व-विचार मे सम्मिलित करते थे।" उसके उपरान्त ब्राह्मण "अपने घर लौट-कर विवाह करते है, स्वतन्त्रता के साथ उपभोग भोगते हुए रहते है, सुवर्ण-भूषण और सूक्ष्म वस्त्र पहनते हैं और मासाहार भी करते है, किन्तु ग्राम्य पशुओ का मास नही खाते।" "सरमनेस (=सस्कृत श्रमण, बौद्ध और इतरभिक्षुओ के लिए प्रयुक्त शब्द) जगल मे फल-फूल खाकर रहते हैं और बल्कल पहनते हैं", और सदा ध्यान या देव-पूजा मे लगे रहते है। उनमे से कुछ तो 'आयुर्वेदीय तत्त्ववेत्ता थे जो "हितमित पथ्य आहार से लोगो का स्वास्थ्य सम्पादन करते थे, औषधियो से नही", और बाह्य लेपादि को भीतरी औषध से उत्तम मानते थे। कुछ दूसरे भविष्यवादी और मन्त्र-तन्त्र के ज्ञाता थे। उनमे एक वर्ग अत्यन्त उच्च और श्रेष्ठ था (मेगास्थनीज, अवतरण ४० = स्त्राबो, १५,७११ आदि)। स्त्राबो ने दूसरे प्रकार के चिन्तको को प्रमानाई कहा है जो 'तर्क मे प्रवीण और विवादशील होने से छिद्रान्वेषण मे चतुर थे" (१५, ७१९)। ये सम्भवत प्रामाणिक थे जो सत्य की प्राप्ति के लिए 'प्रमाणो' को साधन मानते है। यो वे पुराणपन्थी या आँख मूँद-कर किसी की बात मानने वाले, मिथ्या-विश्वासी या कर्मकाण्ड मे फँसे हुए न थे। इसीलिए स्त्राबो ने उनके बारे लिखा है कि वे ब्राह्मणो या ब्रह्मबन्धु पुरोहितो का उपहास करते थे। स्त्राबो ने ब्राह्मणो के और भी भेद कहे है—(१) जो पर्वतो मे रहते हैं, (२) जो नगे रहते है और (३) जो समाज मे ही रहते हैं।

यह भी रोचक है कि स्त्रियो को भी दार्शनिको के साथ उनके जैसा जीवन बिताने की आज्ञा इस शर्त पर दी जाती थी कि "वे भी पुरुषो की भाँति ब्रह्मचर्य से रहे।" (मेगास्थनीज, अवतरण ४०)। निअर्कस और स्त्राबो ने भी इसका उल्लेख किया है (१५, सी० ७१८)।

शिल्प और स्थापत्य—प्रागैतिहासिक पुरा-पाषाण युग या नवपाषाण युग के अवशेष एव सिन्धु उपत्यका के वास्तुगत अवशेषो का वर्णन पहले किया जा चुका है। ३२५ ई० पू० के उत्तरकाल के अवशेष सख्या मे कम और अन्य ऐतिहासिक सामग्री की अपेक्षा महत्त्व मे भी न्यून है। शिक्षा, सस्कृति और सभ्यता के क्षेत्रो

मे इन युगो मे जो उन्नति हुई, वह स्थापत्य की अपेक्षा कही अधिक है। वस्तु के अवशेषो की कम सख्या का कारण यह है कि उनकी निर्माण-सामग्री विनाशशील थी, क्योकि उनमे से अधिकाश मिट्टी, लकडी चूना, बाँस या लट्ठो से बनाए जाते थे। इसका एक कारण यह भी है कि जनता का जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण सीधा-सादा था और वह ऊँचे विचार और सरल जीवन के सिद्धान्त के प्रति आस्थावान् थी। अन्य कलाओ की भाँति स्थापत्य का आरम्भ और इतिकर्मता धर्म पर निर्भर थी। वैदिक यज्ञो के लिए आवश्यक यज्ञवेदि और यज्ञशालाओ के निर्माण के साथ स्थापत्य का मूलारम्भ हुआ। जैसा तैत्तिरीय सहिता मे लिखा है, वेदियो का निर्माण विभिन्न आकृतियो मे किया जाता था, जैसे 'श्येनचिति', 'रथचिति', अथवा 'पुरुषचिति', और इससे नाना आकृतियो के निर्माण के लिए भी अवसर मिला।

मलावार के कैननोर नामक स्थान मे एक अर्धगोलाकार पहाडी गुफा के बीच मे एक चिमनी-जैसा धमाला बना है, उसे ही वैदिक वेदि का रूप समझा गया है। मलावार मे तेल्लिचेरी के समीप पहाड मे काटकर बनाई गई कुछ समाधियो को वैदिककालीन समझा जाता है। लौरियानन्दन गढ (बिहार) मे वैदिककालीन शव-निखात टीले पाये गए है जिनमे एक सोने की पत्री पर वैदिक श्मशान सूक्त मे वर्णित पृथ्वी देवी की मूर्ति मिली है। इसी के बाद राजगृह की प्राचीन राजधानी मे मिली हुई लम्बी प्राकार भी उल्लेखनीय है जो पत्थर के स्थूल सस्कारहीन महाकाय ढोको से बनी है और उस युग के पाषाणनिर्मित स्थापत्य का विरल उदाहरण है। जैसा कहा जा चुका है, यह पाषाणचिति बिम्बिसार (लगभग ६०३-५५१ ई० पू०) के समय की थी जिसने गिरिव्रज के पर्वतवेष्ठित पुर की नीव डाली। पीछे उसने अपनी राजधानी बदलकर राजगृह मे कर दी। उसके महास्थपति और नगर-मापन विशेषज्ञ का नाम महागोविन्द मिलता है। उसके पुत्र अजातशत्रु (लगभग ५५१-५१९ ई०पू०)ने, जो जीवन के उत्तर भाग मे बौद्ध हो गया था, राजगृह की पहाडी पर सत्तापण्णि गुफा के द्वार पर एक मण्डप बनवाया था जिसमे द्वितीय बौद्ध सगीति की सभा हुई और भिक्षुओ के लिए सब सुविधाएँ प्रस्तुत की गई (देखिए पूर्वोद्धृत प्रमाण)।

इस युग मे प्राप्त दूसरे प्रकार के अवशेष स्तूप है जिसका शब्दार्थ थूहा या टीला है। महात्मा-पुरुषो की शरीर-धातुओ पर एक थूहा बना दिया जाता था जिसे चैत्य (चिता-सम्बन्धी) कहते थे। आगे चलकर चैत्य शब्द का अर्थ और विस्तृत हो गया और यह न केवल स्तूप का वाचक रहा बल्कि मन्दिर या शरीरावशेष के लिए निर्मित किसी प्रकार के वास्तु या थूहे या मण्डप के लिए प्रयुक्त होने लगा। ऊपर आ चुका है कि प्राचीन जैन-ग्रथो मे चैत्य (चेइए) शब्द आराम के लिए भी आने लगा था। बौद्ध-ग्रन्थो के अनुसार स्तूप उस थूहे की सज्ञा थी जो

बुद्ध की चिताभस्म, अस्थि, केश, दन्त या प्रसिद्ध बौद्ध महात्माओ और आचार्यों की शरीर-धातुओ की समाधि के रूप मे बनाए जाते थे।

अब तक मिले हुए स्तूपो मे नेपाल की सीमा मे लगा हुआ पिपरहवा का स्तूप सबसे प्राचीन है। यह ईंट का बना था और उसके भीतर की पेटी पर यह लेख उत्कीर्ण था—"भगवान् बुद्ध की शरीर-धातुओ का यह पवित्र स्मारक (सुकिति) शाक्यो ने, उनके भ्राताओ ने अपनी भगिनी और पुत्र-दाराओ के साथ मिलकर बनवाया।" जब इतनी खुदाई हुई थी तब यह पक्की ईंटो का चुना हुआ ठोस अण्डाकृति गोला था जो भूमिगत व्यास मे ११६ फुट और ऊँचाई मे २२ फुट था। इसके भीतर पत्थर की एक बडी पेटी थी, जिसके भीतर कई छोटी-बडी मजूषा और डिबियो मे बुद्ध की धातुएँ रखी हुई थी। गारे की जुडाई मे चिनी हुई इसकी ईंटे १६ × ११ × ३ इची थी। "इस स्तूप की इष्टकाचिति अपने ढग की अनूठी है जिसकी जुडाई बढिया और सच्ची है। पत्थर की बडी पेटी उससे अच्छी नही बन सकती थी, और सोने, चाँदी, प्रवाल, स्फटिक और रत्नो के आभूषण और पुष्पो से विदित होता है कि रत्नवैकटिक एव सुवर्णकार की कला ऊँचे दर्जे पर पहुच गई थी।" (वी० ए० स्मिथ, 'इम्पीरियल गजेटियर', २।१०२-३)। स्तूप के लेख मे उसके निर्माण का श्रेय शाक्यो को दिया गया है, इससे अनुमान होता है कि यह उन आठ प्राथमिक स्तूपो मे है जिनमे महापरिनिब्बाण सुत्तन्त के अनुसार बुद्ध की शरीर-धातुएँ आठ दावेदारो द्वारा स्थापित की गई थी, जिन आठो मे कपिलवस्तु के शाक्य भी थे। अशोक के काल से पहले भी स्तूप विद्यमान थे, यह बात स्वय अशोक के लेख मे कही गई (निगाली सागर स्तम्भ लेख)। उसमे कहा है कि उसने बुद्ध कोणागमन के स्तूप को पहले से दुगुना बढाकर बनवाया, अतएव वह पहले से अस्तित्व मे अवश्य था।

बक्सर की खुदाई मे, जो हाल मे हुई थी, श्री ए० बनर्जी शास्त्री ने एक प्राचीन सभ्यता के अवशेष ढूंढ निकाले है। उनमे बहुत-सी मृण्मय मूर्तियाँ पाई गई हैं। श्री शास्त्री ने उन्हे ताम्रयुग की माना था, क्योकि उनके विचार मे वे वर्तमान भूमितल से ५२ फुट नीचे मिली थी। किन्तु यह मत कुछ आलोच्य है। वस्तुत वे मूर्तियाँ मौर्यकालीन या उसके बाद की है और ऊपर के कगार से गगा की तलहटी मे आ गिरने से ही यह गडबडी उत्पन्न हुई।

मध्यपूर्व के देश और भारत के प्राचीन सम्बन्धो के विषय मे प्रसिद्ध कला-

१. डॉ० मुकर्जी ने बनर्जी शास्त्री के मत को सत्य मानकर (इडियन साइस काग्रेंस हैडबुक, पटना, १९३३, पृ० १९-२३) इस सामग्री का वर्णन किया था, किन्तु ऊपर अनुवाद मे लेखक की अनुमति से आवश्यक सशोधन कर दिया गया है।—अनुवादक।

पिपरहवा का स्तूप

विशेषज्ञ श्री कुमारस्वामी का कथन है—"ईसी पूर्व की शताब्दियो या सहस्राब्दियो मे भारतवर्ष उस 'प्राचीन मध्यपूर्व' का अविभाज्य अग था जो भूमध्यसागर से गगा की अन्तर्वेदी तक फैला हुआ था। इस पूर्वयुगीन ससार मे एक ही कैंडे की सस्कृति थी। उसका इतिहास पाषाणयुग से पूर्व भी अविच्छिन्न चला गया था। उसके कुछ अत्यन्त विस्तृत आलकारिक अभिप्राय, या अधिक निश्चित शब्दो मे धार्मिक प्रतीक जैसे सूर्य और अग्नि-पूजा की प्रथा, उसी अति प्राचीन युग की देन हो सकती हैं। हो सकता है कि विकसित अभिप्राय या वैज्ञानिक आविष्कारो के जन्म का श्रेय इस भूभाग के विशेष-विशेष प्रदेशो को प्राप्त हो। उनमे से बहुसख्यक दक्षिणी मेसोपोटामिया से, कुछ भारत मे और कुछ मिस्र मे आविर्भूत हुए" (श्री आनन्द कुमारस्वामी, 'हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट', पृष्ठ ११३-१४)।

मूर्तियाँ—महाकाय यक्ष और यक्षिणी की मूर्तियाँ भी इस युग की देन हैं। अब तक इन मूर्तियो के ये उदाहरण मिले है—(१) परखम (मथुरा) यक्ष, (२) बरोदा (मथुरा) यक्ष, (३) मथुरा के एक अन्य ग्राम मे पूजित 'मनसा देवी' की यक्षी मूर्ति, भरतपुर के नोहग्राम मे प्राप्त यक्षमूर्ति (उत्तर प्रदेशीय इतिहास परिषद् की पत्रिका, मई, १९३३, पृष्ठ ९५), (५) पटना यक्ष (इण्डियन म्यूजियम), (६) अन्य पटना यक्ष (इण्डियन म्यूजियम), (७) दीदारगज (पटना) से प्राप्त चामरग्राहिणी, (८) उत्कीर्ण मणिभद्र यक्ष (पवाया, ग्वालियर से प्राप्त), (९) बेसनगर स्त्री-मूर्ति, (१०) बेसनगर मे प्राप्त द्वितीय स्त्री-मूर्ति, (११) बेसनगर मे प्राप्त यक्ष की महाकाय मूर्ति, (१२) शिशुपाल गढ (भुवनेश्वर) की यक्ष मूर्तियाँ, (१३) बम्बई मे पाप्त यक्ष मूर्ति (वर्तमान स्थान, राष्ट्रीय सग्रहालय, नई दिल्ली), (१४) राजघाट (काशी) मे प्राप्त त्रिमुख यक्ष (वर्तमान स्थान, भारत कला भवन, काशी विश्वविद्यालय)।

इनमे सख्या १, ३, ६, ७, ८ पर लेख हैं। १ और ८ के लेखो मे मूर्ति को मणिभद्र (कुवेर का सेनापति) की कहा गया है। ३ का लेख उसे 'लायावा' यक्षी कहता है और उसमे नाक नामक स्थपति और उसके गुरु कुनिक के नाम भी हैं। यह कुनिक सख्या १ के अनुसार गोमितक का शिष्य था। पटना मूर्तियो पर 'भगवा अक्षतनीविक' (कुवेर) और 'यक्ष सर्वत्र नन्दी' के नाम हैं।

क्योंकि इन सब मूर्तियो की रचना-शैली आपस मे मिलती है, अतएव इन लेखो को ध्यान मे रखकर हम इन मूर्तियो को यक्ष और यक्षी कह सकते है।

अतएव इन मूर्तियो को भारतीय कला का सर्वप्राचीन उदाहरण मान सकते हैं, जिनमे लोककला या जनसाधारण की कला-शैली अकित है, जिनकी पूजा-प्रथा मे छुटभैये देवता, जैसे यक्ष-यक्षी, नाग-नागी, गन्धर्व-अप्सरा, वृक्ष और नदी-देवता आदि सम्मिलित थे। यह लोककला का रूप था जो सुसस्कृत कला या राजा-

श्रित कला से भिन्न थी, जिसका सर्वोत्तम रूप पीछे अशोक के राज्य-काल मे विकसित हुआ। हमे विदित है कि भारतीय कला का आरम्भ वहुत पहले मोहेंजोदडो और हडप्पा मे हुआ था और उस कला मे वृक्ष-वनस्पति और पशु-पक्षी एव स्त्री-पुरुषो की मूर्तियो का सफल अकन पाया जाता है। यह आश्चर्य का विषय नही है कि मौर्य-कला का उन्नत रूप सुदीर्घ विकास का परिणाम था, जिसका कुछ प्रमाण इन यक्ष मूर्तियो मे उपलब्ध होता है। इस विषय मे कुछ साहित्यगत प्रमाण-सामग्री भी है। इन सव मूर्तियो के गले मे एक हँसली या हार है, जिनके लिए पाणिनि के सूत्र ४।२।९६ मे ग्रैवेयक शब्द का उल्लेख है। पाणिनि ने तक्षन् (५।४।९५) शब्द का भी उल्लेख किया है। अवश्य ही तक्षा नामक शिल्पी रथकार और वर्द्धकि से भिन्न था, जो लकडी का काम करते थे। उन्होने 'ग्रामशिल्पी' का भी उल्लेख किया है (वही), जिसका अभिप्राय उन शिल्पियो से था जो गाँव मे जाकर दूसरे ठीहे पर काम करते थे। उनसे भिन्न वे लोग थे जो 'राजशिल्पी' कहलाते थे जो काशिका के अनुसार राजा के लिए कार्य करते थे। ग्रामशिल्पी लोककला के प्रतिनिधि थे, और राजशिल्पी नगरो मे प्रतिपालित आढच कला और सुसस्कृत समाज की आवश्यकताओ की पूर्ति करते थे।

इन यक्ष मूर्तियो की कलात्मक सुन्दरता के विषय मे श्री आनन्द कुमारस्वामी का मत है कि "ये आश्चर्यजनक शारीरिक वल की प्रतीक हैं जिमका प्रभाव इनकी शिल्पगत अपरिष्कृतता से कुठित नही होता, इनके भीतर का अतिशय भौतिक वल मूर्ति के महाकाय परिमाण मे प्रकट दिखाई देता है" "इनकी कला पुरुष-प्राकृतिक है जिसमे पशुओ-जैसी दृढता है, कही भी आध्यात्मिकता या अन्तर्मुखी वृत्ति का लवलेश नही पाया जाता और न इनमे विचार-प्रवणता या आन्तरिक भावो की कोई झलक है।" "शैली की दृष्टि से ये मूर्तियाँ महाप्रमाण और महाकाय हैं जिनकी रचना पिण्डगत घनगात्रता से प्रेरित है, रेखाओ मे नही।" यही आदर्श पीछे कुषाणकालीन महाविशाल प्रतिमाओ मे आविर्भूत हुआ, जैसे लखनऊ सग्रहालय की मथुरा से प्राप्त बोधिसत्व प्रतिमाएँ, अथवा बोधिसत्व शाक्यमुनि की सारनाथ मूर्ति मे, जिसे लेख के अनुसार मथुरा के भिक्षु वल ने प्रतिष्ठापित किया था। वस्तुत कालान्तर की ये प्रतिमाएँ उसी साँचे मे ढाली गई जिसकी प्रथम कल्पना प्राचीन भारतीय राष्ट्रीय कला मे निर्मित यक्ष मूर्तियो के रूप मे की गई थी। मथुरा के लाल चित्तीदार पत्थर की वनी हुई माथुरी-शैली की मूर्तियाँ, अर्थात् बुद्ध बोधिसत्व प्रतिमाएँ मथुरा से वाहर के कई स्थानो मे, जैसे सारनाथ, सहेठ-महेठ, कुसिनारा या वोघ गया और साँची मे पाई गई है। पर इससे प्राचीन काल की मथुरा-कला की यक्ष मूर्तियो का प्रभाव भरहुत-साँची की कितनी ही छोटे देवी-देवताओ की मूर्तियो मे स्पष्ट है और उसके फूल-पत्तियो के

तथा अन्य अभिप्रायो के अलकरण भी बाद की कला की सजावट मे सुरक्षित है।[1]

ऐतिह्य साधन के स्रोत—जैसा हम देख चुके है, इतिहास के इस युग के लिए (६५०-३२५ ई० पू०) ऐतिह्य साधन का मुख्य स्रोत बौद्ध साहित्य मे निहित है। इस साहित्य के विकास का भी इतिहास है, जो इन क्रमिक अवस्थाओ मे समझा जा सकता है, जैसा श्री राइस डेविड्स ने बताया है ('कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इडिया', भाग १, अध्याय ७) (१) सिद्धान्त या धर्म का सरल कथन, सुत्त या बँधे-बँधाए वाक्यो के अवतरण, जो हूबहू शब्दो मे बाद के ग्रथो मे दोहराये गए हैं, (२) बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित घटनाएँ या चुटकुले जो इसी शैली मे दोहराये गए है, (३) वे पुस्तके जो अब अस्तित्व मे नही है, किन्तु बाद के ग्रन्थो मे जिनके नाम या अवतरण हैं, जैसे सील, परायण, पातिमोक्ख आदि, (४) कुछ कविताएँ, लोकगीत, या गद्याश जो वर्तमान सग्रहो मे दोहराये गए हैं, (५) चार निकाय ग्रन्थ, दीघ, मज्झिम, सयुत्त, और अगुत्तर (अर्थात् उत्तरोत्तर वृद्धिगत सख्या के क्रम से रचे हुए सूक्त जिनमे एक से लेकर ग्यारह तक वर्णित विषय की सख्या है), एक परिशिष्ट पाँचवाँ निकाय, जिसमे फुटकर छोटे-छोटे ग्रन्थो का सग्रह है, जिसे खुद्दक निकाय कहते हैं, और सुत्त विभग और खन्धक भी। इन सबका आनुमानिक काल बुद्ध-निर्वाण के सौ वर्ष बाद तक है, (६) सुत्त-निपात, थेर और थेरी-गाथा, उदान और खुद्दक पाठ; (७) जातक (केवल गाथाएँ) और धम्मपद, (८) निद्देस, इतिवुत्तक और पटिसम्भिदा, (६) पेत-वत्थु और विमानवत्थु, अपदान और बुद्धवस, (१०) अभिधम्म पिटक; जिसमे सबसे अन्तिम कथावत्थु और सबसे पहले की धम्मसगणी थी।

यह प्रकट है कि इस युग का अधिकाश इतिहास चार निकाय ग्रन्थो, और कभी-कभी पाँचवें निकाय से भी ज्ञात होता है, जो उस युग की रचनाएँ थी। वे सब अशोक के समय से पहले बन चुके थे। अशोक ने अपने भब्रू शिलालेख मे सात अवतरण धर्मग्रन्थो से चुनकर दिये हैं, जिनमे चार-चार निकायो से और पाँचवाँ सुत्तनिपात से लिखा गया है जो इस समय पाँचवें निकाय मे सम्मिलित है। यो अशोक के सात अवतरण के उस साहित्य मे से चुने गए हैं जो उनके काल और उनके लेख से बहुत पहले अस्तित्व मे आ चुका था।

पुनश्च, अशोक के बाद के कुछ लेखो मे, जो अशोक लिपि मे ही अकित है, जैसे भरहुत के लेखो मे बौद्ध स्तूप के लिए दान दाने वाले कुछ व्यक्तियो के नाम हैं, जिन्हे सुत्ततिक (=सौत्रान्तिक अर्थात् सुत्रान्तो के विशेषज्ञ), पेटकी अर्थात्

---

१ देखिए वासुदेवशरण अग्रवाल, 'प्री-कुषाण आर्ट ऑफ मथुरा', उत्तर प्रदेश इतिहास परिषद् पत्रिका, मई, १६३३।

पिटको के विशेषज्ञ, या पचनेकायिक (पञ्च नैकायिक) अर्थात् पाँच निकायो के विशेषज्ञ कहा गया।

और भी, टीकाकारो के कथनानुसार मोग्गलिपुत्त तिस्स तृतीय बौद्ध-सगीति के, जो अशोक के अठारहवें वर्ष (२५२ ई० पू०) मे हुई, सभापति थे और उन्होने कथावस्थु की रचना की जो विद्यमान तीन पिटको मे सबसे अन्तिम ग्रन्थ है। इसमे पाँच निकायो से अनेक प्रमाण दिये गए है, और एक भी वाक्य या पद ऐसा नही है जो उसके बाद का कहा जा सके। इस प्रकार पाँचो निकाय भी अशोक के समय से बहुत पहले के सिद्ध होते है।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि चारो निकाय एक-दूसरे के उद्धरण देते है (जैसे अगुत्तर ५।४६ मे सयुक्त १।१२६ का उद्धरण है)। उद्धरण मे निकाय का नाम नही है, केवल उद्धृत सुत्त का नाम है। यह भी सिद्ध करता है कि चार निकायो मे सुत्तो और सुत्तो के जो नाम मिलते हैं, वे भी बहुत पहले से चले आते थे।

पुनश्च, चारो निकायो मे एक सर्वसामान्य अश है, विशेषत नीति-धर्म-सम्बन्धी अनेक मूर्धाभिषिक्त वाक्य है जो ठीक उन्ही शब्दो मे उनमे दोहराये गए हैं यह सकेत है कि उनकी वह सामग्री मूलभूत है जिनसे निकायो का सग्रह हुआ।

कभी-कभी पूरे वृत्त या पूरी घटनाएँ, जिनमे एक ही व्यक्तियो और स्थानो के नाम हैं, निकायो मे हूबहू दोहराई गई हैं। महापरिनिब्बाण सुत्तन्त का लगभग दो-तिहाई अश ऐसे ही दोहराये गए वृत्तो और आदर्श अवतरणो से भरा पडा है। उल्लिखित घटनाएँ कभी-कभी तो ठीक बुद्ध की मृत्यु के समय तक, कभी उसके दो-तीन वर्ष बाद तक, और एक स्थल मे उसके चालीस वर्ष बाद तक पहुँचती है (जैसे अगुत्तर ३।५७-६२ मे)।

अन्त मे यह भी ध्यान देने योग्य है कि निकायो का भूगोल भी सूचित करता है कि उनका समय अशोक से बहुत पहले का है। पूर्व मे कोई स्थान-नाम उनमे ऐसा नही है जो कलिङ्ग के दक्खिन मे हो और पश्चिम मे गोदावरी के दक्खिन का कोई नाम उनमे नही मिलता। किन्तु अशोक के लेखो मे दक्षिण-भारत और सिहल तक का भली-भाँति परिचय है। भौगोलिक ज्ञान और पृष्ठभूमि के इस विस्तार के लिए बीच मे लम्बे अन्तराल की आवश्यकता माननी पडती है।

हम पहले देख चुके है कि यह प्राचीन साहित्य बुद्ध के जीवन पर भी प्रकाश डालता है। इसमे उन स्थानो के उल्लेख है जहाँ वे अपने धर्म-प्रचार के अवसर पर ठहरते या उपदेश करते थे, या जहाँ उनके जीवन की कोई अन्य घटना घटित होती थी। अनुमान किया गया है कि चार निकायो के ६,००० पृष्ठो मे इस प्रकार की सामग्री लगभग २०० पृष्ठो मे है। उनके जीवन की दो घटनाएँ, अर्थात् उनका आरम्भ और अन्त, विशेष विस्तार से वर्णित हुए हैं। पहला मज्झिम मे उनके

परखम यक्ष

अभिनिष्क्रमण से बोधिवृक्ष के नीचे अर्हत् अवस्था प्राप्त करने तक का वृत्तान्त है। विनय मे इस घटना को और पीछे तक, अर्थात् साठ शिष्यो की सहायता मे सघ की स्थापना तक, बढा दिया है। इसमे बुद्ध के जीवन के सात वर्ष की घटनाएँ आ जाती हैं, जिममे विनय के बढाये हुए अश का एक वर्ष का काल भी सम्मिलित है। दूमरा वृत्तान्त बुद्ध के जीवन के अन्तिम मास की घटनाओ और विवरणो तक मीमित है और, जैसा पहले कहा जा चुका है, महापरिनिब्बाण सुत्तत मे सुरक्षित है।

●

अनुक्रमणिका